॥ श्रीः ॥

चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला

२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

'बाल…री'-संस्कृत हिन्दीव्याख्योपेतम्

(…क्षोपयोगि १–४ सर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः --

श्रीरामजीलाल शर्मा

साहित्य-दर्शनाचार्यः



चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतं

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(प्रथमो सर्गः)

व्याख्याकारः—

श्री रामजीलाल शर्मा

साहित्य-दर्शनाचार्य



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्र क

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

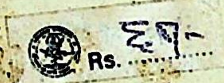
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५७२१४

षष्ठ संस्करण १९९१



अन्य प्राप्ति-स्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० ११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

25



ŚIŚUPĀLAVADHA

OF

MAHĀKAVIMĀGHA

(Canto I)

With

'Balbodhini' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Shri Ramjilal Sharma

Sahitya-Darshanacharya



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214

6th Edition
1990

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 65076

भूमिका

काव्यशास्त्र की उपादेयता

इस संसार में मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति है। जिसका मुख्य साधन वेदशास्त्रों का ज्ञान है। परन्तु वेदशास्त्रों के नीरस तथा कठिन होने से उन्हें वे ही मनुष्य पढ़ने तथा समझने में समर्थ हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं परिपक्व है। कोमल बुद्धिवालों के लिये तो अत्यन्त सरल एवं सरस होने से काव्य ही एक ऐसा साधन है, जो उन्हें धर्मादि की सुखपूर्वक प्राप्ति कराने में समर्थ है। जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव.......................................॥' (सा० द० १।२)

भरत मुनि कहते हैं कि धर्मार्थियों को धर्म, कामार्थियों को काम, विद्याभिलाषुकों को विद्वत्ता तथा दीन-दुःखियों को परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है। रुद्रट, भामह आदि सभी विद्वानों ने काव्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥' (का० प्र० १।२)

अर्थात् 'काव्य यश, धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमङ्गल का नाश, परमसन्तोष एवं कान्ता के समान हितोपदेश को देने वाला है।' पुराण एवं इतिहास आदि को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, दण्डी, बाण, हर्ष, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सहस्रों कवियों का यश आज भी इस संसार में विद्यमान है, एवं सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगा। एक-एक पद्य पर सहस्रों मुद्राएँ आदि प्राप्त होने की कथाएँ राजतरङ्गिणी आदि में उपलब्ध हैं। श्रीहर्षादि से बाणादि को अतुल धन-लाभ होने की वार्ता से कौन अपरिचित है? सूर्यशतक (सूर्य-स्तुति) आदि से मयूरादि के कुष्ठ जैसे भयङ्कर रोगों का समूल विनाश हो जाना संसार-प्रसिद्ध ही है। यही नहीं, काव्य को आचार्यों ने ब्रह्मरूप में प्रतिपादित किया है—

'यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ॥'

तभी तो—

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गम्..................................॥'

यह कहना सङ्गत होता है। यही कारण है कि परम प्रयास-साध्य—योग, जप-तप, वेद, उपनिषद् तथा दर्शनादि के परिशीलन की अपेक्षा अत्यन्त सरल, सरस एवं ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यशास्त्र के परिशीलन में लोगों की अधिक प्रवृत्ति होती है।

काव्य के भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। दृश्यकाव्य को ही रूपक कहते हैं। यह रूपक नाटकादि भेद से दस प्रकार का होता है। रूपकों के समान ही कुछ विशेषता लिये हुए नाटिका आदि १८ प्रकार के उपरूपक भी होते हैं। द्वितीय श्रव्यकाव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पद्यात्मक काव्य—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) कुलक, (४) कलापक, (५) सन्दानितक, (६) युग्मक, (७) मुक्तक भेद से सात प्रकार का होता है। गद्यात्मक काव्य—कथा तथा आख्यायिका भेद से दो प्रकार का माना गया है। श्रीविश्वनाथजी के मत से गद्य—(१) मुक्तक, (२) वृत्तसन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक भेद से चार प्रकार का होता है। गद्यपद्योभयात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं। यही चम्पू यदि राजस्तुतिपरक हो तो विरुद कहलाता है और यदि अनेक भाषाओं से निबद्ध हो तो यही करम्भक कहलाता है।

महाकवि माघ का परिचय

महाकवि माघ के पिता 'दत्तक' बड़े उदार एवं दानी पुरुष थे। वे अपने यहाँ सबको आश्रय दिया करते थे, जिससे वे 'सर्वाश्रय-दाता' इस विरुद से विख्यात थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रभदेव' था, जो श्रीवर्मलात (वर्मनाभ, धर्मनाभ, धर्मलात) नामक राजा के मन्त्री थे। महाकवि 'माघ' के स्वरचित 'कवि-वंश-वर्णन' से इनके विषय में इतना ही परिचय प्राप्त होता है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि माघ के जन्म के समय में ही ज्योतिषियों ने इनकी जन्मपत्री को देखकर बतलाया था कि ये अपने जीवन में ही अत्यन्त गरीब हो जायेंगे। इस बात को जानकर माघ के पिता ने एक लाख रुपया प्रति मास के हिसाब से सौ वर्ष के लिए दस-बारह करोड़ मुद्राएँ सोने की हाँड़ी में भरकर जमीन में गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र माघ को जीवन में कभी भी धन की कमी न पड़े। परन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार में लाखों रुपया दान में दे देना उनके लिये साधारण-सी बात थी। फल यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोजप्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार 'माघ' धारानरेश 'भोज' के राजकवि एवं प्रधानमन्त्री थे। अतः निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११।६४) इत्यादि पद्य लिखकर अपनी पत्नी को उसे लेकर राजसभा में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। उसे लेकर रास्ते में आते हुए माघ की पत्नी ने उस सम्पूर्ण धन को याचकों के लिये बाँट दिया और घर जाने तक उसके पास कुछ भी न रहा। परन्तु घर तक याचकों का ताँता बँधा ही रहा। याचकों को देने के लिये अपने पास कुछ भी न देखकर महाकवि माघ ने अत्यन्त दुःख से अपने प्राण छोड़

दिये। प्रातःकाल भोज को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने महाकवि माघ का अग्नि-संस्कार किया। माघ की पत्नी उन्हीं के साथ सती हो गई। कुछ भी हो इस कथा से 'माघ' की दानशीलता का पता चलता है।

काव्य-गुणों की दृष्टि से शिशुपालवध की समीक्षा

वस्तु-संघटना—शिशुपालवध की कथा का आधार महाभारत के सभापर्व अध्याय ३३ से ४५ तक की कथा है। महाकवि माघ ने अपनी नवीन उद्भावनाओं से इस छोटी-सी कथा को एक बीस सर्ग के महाकाव्य का रूप दिया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नायक तथा काव्य के फल से होता है। परन्तु प्रासङ्गिक वस्तु में नायक से भिन्न किसी अन्य का वृत्त रहता है, जिसका परम्परया सम्बन्ध काव्य के फल से रहता है। शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही आधिकारिक कथा है, जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

इस महाकाव्य की कथा को देखने पर प्रतीत होता है कि यह एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। घटना-प्रधान काव्यों में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका समस्त वस्तु-विन्यास उस घटना पर ही केन्द्रित रहता है। परन्तु रामायण या बुद्धचरित जैसे व्यक्ति-प्रधान महाकाव्यों में नायक के समस्त जीवन का परिचय मिलता है। यहाँ कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं पर रहती है। इस घटना-प्रधान शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही मुख्य घटना है। अन्य सभी प्रासङ्गिक वर्णन उसके पोषक के रूप में हैं।

यहाँ महाकवि माघ प्रबन्ध-काव्य की इतिवृत्तनिर्वाहकता में सफल नहीं कहे जा सकते हैं। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। मूलकथा पहले, दूसरे तथा चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पायी जाती है। इसमें भी कई अप्रासङ्गिक वर्णनों का कवि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शेष चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का वर्णन आनुषङ्गिक है, जिसका आवश्यकता से अधिक विस्तार आलोचकों को अत्यन्त खटकता है। यह कथा के प्रवाह को रोक लेता है। वीररस-प्रधान शिशुपालवध के पूरे ६ सर्गों में शृङ्गार-लीलाओं का वर्णन वीररस को दबोच-सा लेता है। काव्य के मध्यभाग को पढ़ने पर पाठक यह समझने लगता है कि यह शृङ्गार का ही काव्य है। वस्तुतः यहाँ शृङ्गार-रस वीर-रस की चर्वणा में बाधक बन गया है।

प्रबन्ध-काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात को स्वयं महाकवि माघ भी स्वीकार करते हैं—

'बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥' २।७२॥

अर्थात् इच्छानुसार बहुत-सी असङ्गत बातें सरलता से कही जा सकती हैं; परन्तु ऐसे प्रबन्ध को कहना कठिन है, जिसमें पदार्थों की सङ्गति विच्छिन्न न हुई हो।

वस्तुतः मुख्य घटना के साथ प्रासङ्गिक बातों का वर्णन वहीं तक उचित होता है जहाँ तक वे प्रासङ्गिक वर्णन मुख्य घटना को रोचक बनाकर श्रोताओं को भाव-मग्न करके रसानुभूति में सहायक सिद्ध हो सकें। अतः ये वर्णन पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं होने चाहिये और उनका विस्तार भी मुख्य घटना के अनुकूल होना चाहिए, अत्यधिक नहीं। माघ का यह अप्रासङ्गिक वर्णनों का अत्यधिक विस्तार कथा के प्रवाह में बाधक होकर रसानुभूति में भी बाधक बन गया है।

भावाभिव्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपालवध का प्रधान (अङ्गी) रस वीर है। शृङ्गार तथा रौद्रादि रस उसी में अङ्ग बनकर आये हैं। शिशुपालवध के इस वीररस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासङ्गिक शृङ्गार-लीलाओं के पूरे ६ सर्गों के विस्तृत वर्णन ने वीररस को दबोच-सा लिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि माघ वीररस के सफल चित्रकार नहीं है। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनों के सफल चित्रकार हैं। यहाँ दिग्दर्शन के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। वीररस का उदाहरण लीजिये—

'आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥' १८।८० ॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत (विपक्षी) राजाओं की सेनाओं का बड़े-बड़े तरङ्गों वाली भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ इस प्रकार युद्ध होने लगा, जिस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का समुद्र के बड़े-बड़े तरङ्गों वाले प्रवाहों से गम्भीर ध्वनि के साथ संघात (टक्कर) होता है।

माघ का अष्टादश सर्ग युद्ध-वर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के चित्रवत् वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। अन्यत्र भी माघ के वीररस के चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। माघ के पद-विन्यास की धीर और गम्भीर गति उनके चित्र में एक अपूर्व शोभा को जन्म देती है। रावण के साथ वरुण के युद्ध का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है— युद्ध के समय वरुण रावण पर नागपाश फेंकता है, नागपाश रावण की ओर चलता है, उसे देखकर रावण क्रोध से हुङ्कार करता है तो नागपाश डरकर लौट पड़ता है और वह सर्पराजपाश भयभीत होकर वेगपूर्वक प्रहार करने वाले वरुण के गले में जाकर लिपट जाता है—

'रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥' १।५६ ॥

माघ का मन वीररस से भी अधिक शृङ्गार के वर्णन में रमता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उन्होंने सम्भोग-शृङ्गार का ही अधिक वर्णन किया है। उनके षड्ऋतु-वर्णन, वनविहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि सम्भोग शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं विप्रलम्भ शृङ्गार का भी वर्णन है। उनके शृङ्गारिक पदों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

'यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥' ३।१६॥

जिस-जिस प्रिया को प्रिय श्रीकृष्ण ने देखा उसने लज्जा से मुख को नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियाँ उस प्रियतम कृष्ण पर ईर्ष्यावश निर्भय होकर एक साथ अपने कटाक्षों से प्रहार करने लगीं।

और भी देखिये—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः॥'११।१३॥

अर्थात् प्रातःकाल हो गया है। रात्रि की रतिक्रीडा से थककर सोये हुए दम्पत्तियों में से नायिकाएँ पहले जाग गयी हैं, परन्तु वे अपने शरीर को इसलिये नहीं हिलाती-डुलाती हैं कि कहीं उनके हाथ के हट जाने से उनके प्रियतम की नींद न टूट जाय।

महाकवि माघ ने रसाभिव्यक्ति के अनुकूल भावाभिव्यञ्जना भी की है। वीररस के स्थायिभाव उत्साह का बीज प्रथम सर्ग में दिखलाया गया है। प्रथम सर्ग में उनके आलम्बन विभाव शिशुपाल का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल में युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के प्रति कठोर वचन उद्दीपन विभाव हैं और सप्तदश सर्ग में अनुभावों का वर्णन किया गया है। शृङ्गार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों का भी कवि ने सफल चित्रण किया है। परन्तु शृङ्गार के सञ्चारी भावों के चित्रण में वे इतने सफल नहीं हुए हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि माघ वीररस तथा शृङ्गाररस दोनों के ही सफल चित्रकार हैं। परन्तु उनका शृङ्गार अत्यन्त विलासमय हो गया है, जो कि सहृदयों के हृदय में खटकता है। वस्तुतः माघ प्रेम के कवि न होकर प्रेमकला के कवि हैं। वे नायिका के हाव-भाव या नखशिख वर्णन आदि के द्वारा ही भावपक्ष की कमी को पूरा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

माघ का प्रकृति-वर्णन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं तो षष्ठ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। परन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग का प्रकृति-वर्णन सरल है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात-वर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है और वह भी सम्भोग शृङ्गार की प्रकृति।

किन्तु बीच-बीच में वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। माघ का प्रकृति-वर्णन मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—(१) यमक वाला प्रकृति-वर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन। प्रथम प्रकार में आनेवाला चतुर्थ सर्ग का प्रकृति-वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता है, जब कि छठे सर्ग का प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। इस छठे सर्ग में दूसरी दो कोटियों के शृङ्गार का भी समावेश है। यमक, श्लेष और शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का वर्णन कितना सुन्दर है—

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधर।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाजगतीधरम् ॥' ६।२५ ॥

चमकती हुई चञ्चल बिजलीवाली सघन बादलों से भरी मेघपंक्ति अपने उचित समय पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई, जैसे चञ्चल नेत्रों वाली, पुष्ट यौवन वाली नायिका अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा में न डालती हुई उसके पास में उपस्थित होती है।

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। पश्चिम दिशा अस्त होनेवाले निस्तेज सूर्य को इस प्रकार घर से निकाल देती है, जिस प्रकार वेश्या धनरहित व्यक्ति को—'निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका' (९।१०)। प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से भागता हुआ इस तरह नजर आता है, जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो—'उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।' ११।६५ ॥

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान के प्रकृति-वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकालीन सूर्य का बाल रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है।

'उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥' ११।४७ ॥

उदयाचल के शिखर रूपी आङ्गन में रेंगता (घुटनों के बल चलता) हुआ कमलिनियों के द्वारा कमल रूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (अनुष्ण किरणाग्र बालसूर्य पक्षियों के कलरव के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) आकाश की गोदी में जा रहा है। इस पक्ष में श्लेष अतिशयोक्ति तथा रूपक का सङ्कर पाया जाता है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

'अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥' ४।४७ ॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी (रैवतक की) गोद में लेटा करती हैं। अतः ये रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति

समुद्र से मिलने जा रही है। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति-वर्णन का खास सौन्दर्य अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है।

बालबोधिनी की विशेषता

इस टीका में अवतरण, अन्वय, पर्याय, भावार्थ, कोश, समास, व्याकरण तथा हिन्दी अनुवाद एवं विषम स्थलों पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

समास-विग्रह आदि में संक्षेप नहीं किया गया है, किन्तु छात्रों की सुविधा के लिए प्रायः पूरा-पूरा समास व विग्रह दिया गया है। पर्याय भी एक-एक शब्द के २–३ दिये गये हैं। इससे विद्यार्थियों को स्वयं पर्याय बनाने का अभ्यास हो सकेगा। पर्यायों में भी प्रचलित एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याख्या में—छन्द, अलङ्कार तथा ध्वनि आदि का यथास्थान समुचित निर्देश किया गया है, जिससे छात्र तथा अध्यापक सभी लाभ उठा सकें।

हिन्दी अनुवाद में अन्वय के अनुसार अक्षरशः अर्थ किया गया है, जिससे कि छात्रों को शब्दार्थ समझने में कठिनाई न हो। कठिन स्थलों को सुबोध बनाने के लिये टिप्पणियों द्वारा अर्थ स्पष्ट किया गया है। सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ भी टिप्पणी में दे दी गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में गवेषणापूर्ण भूमिका एवं कथासार भी राष्ट्रभाषा में लिखे गये हैं।

यद्यपि इस टीका के निर्माण में हमारा कोई आलोचनात्मक लक्ष्य नहीं रहा है। हाँ, कवि के अन्तस्तल में पहुँचने का अवश्य प्रयत्न किया है। इसीलिये हमें यत्र-तत्र व्याख्यानों का निराकरण करना पड़ता है, जिससे कि पाठक-गण इन व्याख्यानों से भ्रान्ति में न पड़कर वास्तविकता को समझें।

इस प्रकार यह संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। परीक्षार्थियों के लिए इतनी अधिक सुविधा अभी तक सुलभ किसी संस्करण में नहीं थी, जैसी सुन्दर उपयोगी व्यवस्था प्रस्तुत बालबोधिनी में रखी गई है।

इस संस्करण से यदि विद्वानों एवं छात्रों को कुछ भी लाभ एवं सन्तोष हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूँगा।

विदुषां वंशवद—
रामजीलाल शर्मा

संक्षिप्त कथासार

(प्रथम सर्ग)

नारदजी का द्वारकापुरी में आकर श्रीकृष्ण भगवान् से शिशुपाल-वध करने का इन्द्र-संदेश कहना

एक बार द्वारकापुरी में अपने भवन में बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने आकाश-मार्ग से आते हुए नारदजी को देखा। वे मुञ्ज की मेखला, यज्ञोपवीत एवं रुद्राक्षमाला को धारण किये हुए थे। इनकी पीली जटाएँ हिमालय पर उत्पन्न एवं पकी हुई पीली लताओं के समान मालूम पड़ती थीं। उनके शरीर पर पड़ा हुआ मृगचर्म ऐरावत हाथी पर पड़ी हुई रंग-बिरंगी झूल जैसा प्रतीत होता था। वे अपनी अंगुलियों से वीणा बजा रहे थे और इस वीणा की ध्वनि में स्वर, ग्राम एवं मूर्च्छना स्पष्ट सुनाई दे रहे थे।

नारदजी के आते ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने आसन से उठ बैठे एवं उन्हें स्वयं आसन पर बैठाकर अर्घ्यादि पूजा से उनका सत्कार करके आगमन का कारण पूछा। नारदजी ने भी भगवान् श्रीकृष्ण की अनेक प्रकार से स्तुति कर अपने आने का कारण कहा—'हे भगवन्! आप पृथिवी का भार उतारने के लिये इस पृथिवी पर अवतीर्ण हुए हैं, परन्तु तीनों लोकों को धारण करने वाले आप अपने ही बोझ से इसे भारी बना रहे हैं। अतः इस पृथिवी का भार उतारने के लिये इन्द्र ने मुझे सन्देश लेकर भेजा है। कृपया आप उसे सुनें—

प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु नाम का एक अत्यन्त विख्यात एवं भयङ्कर असुर हुआ, जिसने अपने पराक्रम से इन्द्रादि देवों को भी वश में कर लिया था। उस दुष्ट का वध आपने ही नृसिंहावतार में किया था। वही असुर दूसरे जन्म में रावण हुआ, जिसने इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वायु, दिग्गज, एवं षड् ऋतुओं को भी अपने वश में करके अपनी सेवा में नियुक्त किया। यहीं नहीं, उसने आपकी धर्मपत्नी सीता का भी अपहरण किया। उस समय रामरूप में स्थित आपने उस रावण का लङ्का में ही वध किया था। यह बात आपको स्मरण है क्या? वही रावण शिशुपाल के रूप में इस समय पृथिवी पर पैदा हुआ है, जो अब भी संसार को बुरी तरह से पीड़ित कर रहा है। अतः आप उस दुष्ट का वध करके इन्द्रादि देवों को दुःख से मुक्त करें।'

इस प्रकार सन्देश कहकर नारदजी के चले जाने पर शिशुपालवध की स्वीकृति देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के प्रति क्रोध से भ्रुकुटि चढ़ाई।

।। श्रीः ।।

श्रीमन्माघमहाकविप्रणीतं

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि यानि,
सर्वेश दूरमपयान्त्वचिरेण तानि ।
भद्राणि यानि भुवनेष्वपि यत्र सन्ति,
तान्याव्रजन्तु निखिलानि तव प्रसादात् ।।
गुरून् प्रणम्य शिरसा सर्वशास्त्रेषु पारगान् ।
श्रीरामलोटनान् धीरान् निर्गताशेषकल्मषान् ।।
विदुषा बुधमोदाय रामजीलालशर्मणा ।
व्याख्या माघे महाकाव्ये क्रियते बालबोधिनी ।।

अथ तत्रभवान् महाकविर्माघः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वात्, शिशुपालवधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितस्यास्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थम् 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्ध-मुख-लक्षणत्वात् काव्यफल-शिशुपालवध-बीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु प्रथमं श्री-शब्द-प्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासः वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ।। १ ।।

अन्वयः—श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुं श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अम्बरात् अवतरन्तं हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं ददर्श ।

बालबोधिनी—श्रियः = लक्ष्म्याः, रुक्मणीरूपाया इति यावत् । पतिः = भर्ता । 'पतिर्भर्ता' इत्यमरः । 'राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात् । अनेन रुक्मिणीस्वयंवरानन्तरकालमियं काव्यकथा प्रवृत्तेति सूचितम् । जगन्निवासः = जगदाधारभूतः । जगत् = विश्वम् । शासितुं = नियन्तुम्, साधुसम्मानासाधुदमनाभ्यां व्यवस्थापयितुमित्यर्थः । श्रीमति = शोभासम्पन्ने, सर्वसमृद्धियुक्ते । वसुदेवसद्मनि = वसुदेवगेहे, कश्यपावतारस्य वसुदेवनामकस्य स्वपितुः भवने इति भावः । 'वसुदेवोऽस्य जनकः' इत्यमरः । वसन् = तिष्ठन् । हरिः = श्रीकृष्णः । अम्बरात् = आकाशात् । अवतरन्तम् = आगच्छन्तम्, इन्द्र-सन्देशकथनार्थमिति भावः । हिरण्यगर्भाङ्गभुवं = ब्रह्मणो मानसपुत्रम् । मुनिम् = ऋषिं नारदम् । ददर्श = अवलोकयामास । कदाचिदिति शेषः । अत्राल्पीयस्यपि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया—महीयसो हरेराश्रेयत्वकथनादधिकनामको-ऽलङ्कारः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते' इति । किञ्च जगन्निवासस्यापि वसुदेवसद्मरूपजगदेकदेशनिवासित्वमिति विरो-धाभासश्च । अन्यच्च लकारसकारादेकधा (स्वरूपतः) असकृच्चावृत्त्या जग-ज्जगदिति वर्णसमुदायस्य स्वरूपतः क्रमतश्च सकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासौ शब्दा-लङ्कारौ । एषां चान्योऽन्यनैरपेक्ष्येण तिलतण्डुलन्यायेनैकत्र समावेशात् संसृष्टिः । अस्मिन् सर्गे सर्वत्र वंशस्थवृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च, कमला श्रीहरिप्रिया' इति चामरः । 'श्रीर्वेशरचना शोभा' इत्यमरमेदिन्यौ । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः । 'अम्बरम् । आकाशविहायसी' इत्यमरः ।

समासः—श्रयति हरिं या सा श्रीः, तस्याः श्रियः । श्रीर्विद्यते यस्मिन् तत् श्रीमत्, तस्मिन् श्रीमति । निवसन्ति जना अस्मिन् असौ निवासः, जगतां निवासः जगन्निवासः (त० पु०) । वसुदेवस्य सद्म वसुदेवसद्म, तस्मिन् वसुदेवसद्मनि (त० पु०) । हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः, अङ्गाद् भवतीति अङ्गभूः, हिरण्य-गर्भस्य अङ्गभूः हिरण्यगर्भाङ्गभूः, तं हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—श्रीमति—श्री + मतुप् । शासितुम्—शासु + भावे तुमुन्, इडा-गमः । गच्छतीति जगत्—गम् + कर्तरि क्विप् । निवासः—नि—वस अधिकरणे घञ् । वसन्—वस + शतृ । अवतरन्तम्—अव + तृ + शतृ । ददर्श—दृश + लिट् + तिप् + णल् । अङ्गभुवम्—अङ्गभू + क्विप् लोपः, अमि उवङ् ।

हिन्दी—(श्रीमहाकवि माघ श्री-शब्द-प्रयोगपूर्वक श्रीकृष्ण के नारद-दर्शन रूप वस्तु का निर्देश करते हुए कथा का आरम्भ करते हैं—) लक्ष्मी के स्वामी, समस्त लोकों के निवासस्थान (तथा) संसार का शासन करने के लिए, अत्यन्त शोभायमान (कश्यपावतार अपने पिता) वसुदेव के घर में निवास करते हुए (विष्णु के अवतार) श्रीकृष्ण भगवान् ने आकाश से उतरते हुए ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि को देखा।

टिप्पणी—शिशुपालवधम्—'शिशुपालस्य वधः शिशुपालवधः, स वर्णनीयो यस्मिन् काव्ये तत् शिशुपालवधम्, व्यधिकरणबहुव्रीहिः।' शिशुपाल के वध का जिसमें वर्णन है वह काव्य। पुराणों के अनुसार रुक्मिणी लक्ष्मी की अवतार-रूपा मानी जाती है तथा वसुदेव कश्यपावतार और श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं। जगन्निवासः—प्रलयकाल में सम्पूर्ण चराचर जगत् उस परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है। जैसे कि गीता में कहा है—

'सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्' ॥ ९।७ ॥

तथा 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'–यजुर्वेद अ० २५, म० १०। हिरण्यगर्भाङ्ग-भुवम्—ब्रह्मा के अङ्ग से उत्पन्न होने वाला अर्थात् ब्रह्मा-पुत्र नारद। मनुस्मृति में बताया गया है कि ईश्वर ने अपने शरीर से विविध जीवों की सृष्टि की इच्छा से सबसे पहले जल को उत्पन्न किया, तब उसमें सृष्टि का बीज डाल दिया। वह बीज सुवर्णमय अण्डरूप हो गया और उसी अण्डे से सम्पूर्ण लोकों के पिता ब्रह्मा पैदा हुए, देखिए—

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥'

इसलिए ब्रह्मा का नाम हिरण्यगर्भ है (मनु० १।८-९)। भागवत के अनुसार ब्रह्मा के शरीर से दस प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई। उनमें एक नारद भी है, जो ब्रह्मा की गोद से उत्पन्न हुए। १० प्रजापतियों की उत्पत्ति का वर्णन भागवत में इस प्रकार है—

'अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसो पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद् वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥'

(भागवते स्क० ३, अ० १२, श्लोक २१-२४) ॥ १ ॥

तदा जनैर्विस्मयेनेक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥

अन्वयः—अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनं (प्रसिद्धम्) । हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम् । (इदन्तु) सर्वतः विसारि धाम अधः पतति । 'एतत् किम्' इति जनैः आकुलम् (यथा स्यात्तथा) ईक्षितम् ।

बालबोधिनी—अनूरुसारथेः = सूर्यस्य । गतं = गतिः । तिरश्चीनम् = तिर्यक् पूर्वान्तात् पश्चिमान्तमित्यर्थः । (प्रसिद्धम् = विख्यातम्) हविर्भुजः = अग्नेः । ऊर्ध्वज्वलनम् = उर्ध्वस्फुरणम् । प्रसिद्धम् = विख्यातम् । (इदन्तु पुरतो दृश्यमानम्) सर्वतः = समन्ततः । विसारि = प्रसरणशीलम् । धाम = तेजः । अधः = अधस्तात्, गगनाङ्गणाद् भुवस्तलम् । पतति = आगच्छति । एतत् = पुरोदृश्यमानं धाम । किम् = किमात्मकम् । इति = इत्थम् । जनैः = द्वारकावासिभिः सामान्यलोकैः । आकुलं = विस्मयेन सम्भ्रान्तं यथा स्यात्तथा । ईक्षितम् = दृष्टम् । अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधो विसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताथवा । व्यतिरेकः' ।

कोशः—'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः' इत्यमरः । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हैमः । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इत्यमरः ।

समासः—अविद्यमानौ ऊरू यस्यासौ अनूरुः, अनूरुः सारथिः यस्य स अनूरुसारथिः, तस्य अनूरुसारथेः (ब० व्री०) । हविर्भुङ्क्ते इति हविर्भुक्, तस्य हविर्भुजः (त० पु०) । ऊर्ध्वञ्च तत् ज्वलनञ्च ऊर्ध्वज्वलनम् ।

व्याकरणम्—गतम्—गम् + भावे क्तः, अनुनासिकलोपः । तिरश्चीनम्—

तिरस्+अञ्च+'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति स्वार्थे खः, ईनादेशः। प्रसिद्धम्–प्र+षिध्+क्तः। विसारि—वि+सृ+णिनिः। ईक्षितम्—ईक्ष+भावे क्तः।

हिन्दी—सूर्य की गति तो तिरछी होती है और अग्नि का ऊपर की ओर जलना प्रसिद्ध है, परन्तु यह तो सब ओर फैलने वाला तेज नीचे की ओर गिर रहा है। यह क्या है? इस प्रकार द्वारकावासी लोगों ने व्याकुलतापूर्वक देखा।

टिप्पणी—अनूरुसारथिः—कश्यप की विनता नाम की स्त्री से, जो एक पक्षिणी थी, दो अण्डे उत्पन्न हुए। उनमें से एक अण्डे को अर्ध पका ही फोड़ डाला। इस अण्डे से जो बच्चा पैदा हुआ उसके ऊपरी अवयव तो पूर्णतया बन गये थे, लेकिन पैर के अवयव अभी पूर्ण नहीं हुए थे। इसलिये उसका नाम अनूरु पड़ा। पूर्ण ताप न मिलने के कारण उसे सूर्य के ताप की आवश्यकता प्रतीत होती थी। इसलिए कश्यप के आदेश से इस बच्चे को सूर्य का सारथि बना दिया गया, जो आज भी सदा उसी के साथ रहता है। इसी का नाम अरुण है। दूसरे अण्डे से जो पूर्ण पक जाने पर फोड़ा गया था उससे गरुड़ पैदा हुए॥ २॥

अथ भगवान् कृष्णः क्रमेण तं ज्ञातवानित्याह—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥ ३॥

अन्वयः—विभुः सः पुरा त्विषां चयः इत्यवधारितम्। ततः विभाविताकृतिम् शरीरीति (अवधारितम्)। (ततः) विभक्तावयवं पुमानिति (अवधारितम्)। अमुं क्रमात् नारदः इत्यबोधि।

बालबोधिनी—विभुः=वस्तुतत्त्वनिर्धारणसमर्थः। सः=हरिः। पुरा=आदौ, प्रथम-दर्शने इत्यर्थः। त्विषां=तेजसाम्। चयः=समूहः। इति=एवम्। अवधारितम्=विनिश्चितम्। ततः=तदनन्तरम्, किञ्चित्सामीप्ये सतीत्यर्थः। विभाविताकृतिं=लक्षितमूर्तिम्। (अत एव) शरीरी=प्राणी। इति=एवम्। (अवधारितम्=विनिश्चितम्।) (ततः=तदनन्तरम्, सामीप्याधिक्ये सतीत्यर्थः।) विभक्तावयवं=स्पष्टविज्ञातमुखाद्यङ्गम्। (अत एव) पुमान्=पुरुषः। इति=इत्येवम्। अवधारितम्=विनिश्चितम्। अमुम्=आकाशादायान्तं व्यक्तिविशेषम्। क्रमात्=पूर्वोक्तरीत्या सामान्यविशेषज्ञानक्रमेण। नारदः=नारदोऽयम्। इति=इत्थम्। अबोधि=ज्ञातवान्। नारदोऽयमिति निश्चितवान्। अत्र विभाविताकृति

विभक्तावयवमित्यादिना आकृति-विभावनावयवविभावनपदार्थौ विशेषणावृत्त्या शरीरत्वपुंस्त्वनिर्धारणे हेतुत्वेनोपन्यस्ताविति हेतोरत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्ग-मलङ्कारः ।

कोशः—'चयः समूहे' इति मेदिनी । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुर्जन्युः शरीरिणः' । 'विभुः प्रभौ व्यापके' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

समासः—विभाविता आकृतिर्यस्य स विभाविताकृतिः, तं विभाविताकृतिम् (ब० व्री०) । विभक्ता अवयवा यस्य स विभक्तावयवः, तं विभक्तावयवम् । (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—चयः—चि + भावे अच् । अवधारितम्—अव + धृ + णिच् + क्तः, इडागमः । शरीरी—शरीर + मत्वर्थे इनिः । अबोधि—बुध + कर्तरि लुङ् + त 'दीपजनबुध०' इत्यादिना चिण् 'चिणो लुक्' इति तस्य लुकि ।

हिन्दी—(तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान् ने उन्हें शनैः-शनैः पहचान लिया । वह कहते हैं—) वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करने में समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने (अमुम्) उस आकाश से आते हुए पुरुष-विशेष को पहले तेजपुञ्ज समझा । तदनन्तर थोड़ा नीचे आने पर कुछ-कुछ हस्तादि अवयवों के झलकने पर 'यह कोई प्राणी है' ऐसा समझा । इसके बाद और नीचे आने पर (तथा) मुखादि अवयवों के दिखाई पड़ने पर कोई पुरुष समझा । इस क्रम से अन्त में 'ये नारद हैं'—ऐसा जाना ।

टिप्पणी—यहाँ से 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इस वाक्यांश का सम्बन्ध अगले सात श्लोकों में भी रहेगा । अतः 'अबोधि' इस एक ही क्रिया के आठ श्लोकों में अन्वित होने से यहाँ आठ श्लोकों का कुलक है । पाँच या उससे अधिक श्लोकों में एक क्रिया के अन्वित होने पर कुलक होता है । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है—

'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्' ।। इति ।। ३ ।।

अथायान्तं नारदं सप्तभिः श्लोकैर्वर्णयन् तस्य शिवौपम्यं दर्शयति—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान् समूढ-कर्पूर-पराग-पाण्डुरम् ।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्त-गजेन्द्र-कृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ।। ४ ।।

अन्वयः—नवान् बृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपराग-

पाण्डुरम् क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् अमुं (सः क्रमान्नारद इत्यबोधि इति पूर्वेणान्वयः)।

बालबोधिनी—नवान् नवीनान्, सद्यः सम्भृतजलान् अतिनीलानिति यावत्। बृहतः = विपुलान् । पयोधरान् = मेघान् । अधोऽधः = मेघानां समीपाधःप्रदेशे । स्थितमिति शेषः । समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् = पुञ्जीकृतकर्पूरचूर्णतुल्यधवलम् । (अत एव) क्षणं = क्षणमात्रम् । मेघसमीपावस्थान-क्षणे इत्यर्थः । क्षणोत्क्षिप्त-गजेन्द्रकृत्तिना = ताण्डवोत्सवावसरोपरिधारितगजेन्द्रचर्मणा । भूतिसितेन=भस्म-गौरेण । शम्भुना = शिवेन । स्फुटोपमं = व्यक्तसादृश्यम् । इतःप्रभृति सप्तसु श्लोकेषु 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति पूर्वेणान्वयः ।

कोशः—'पयोधरः कुचे मेघे' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः । 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः ।

समासः—धरन्तीति धराः, पयसां धराः पयोधराः, तान् पयोधरान् (त० पु०) । कर्पूरस्य परागः कर्पूरपरागः, समूढश्चासौ कर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः, समूढकर्पूरपराग इव पाण्डुरः समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः, तम् (क० धा०)। गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः (त० पु०), गजेन्द्रस्य कृत्तिः गजेन्द्रकृत्तिः (त० पु०), क्षणे उत्क्षिप्ता गजेन्द्रकृत्तिर्येन सः, तेन (ब० व्री०) । स्फुटा उपमा यस्य सः, तम् (ब० व्री०) । भूत्या सितो भूतिसितः, तेन (त० पु०) ।

व्याकरणम्—पयोधरान् इत्यत्र 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति वार्तिकेन अधोऽधः शब्दयोगे द्वितीया । क्षणमित्यत्र अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ।

हिन्दी—(यहाँ से लेकर सात श्लोकों में नारदजी का वर्णन करते हैं—) नवीन अतएव जलपूर्ण होने से कृष्ण वर्णवाले, बड़े-बड़े बादलों के नीचे स्थित (तथा) ढेर किये हुए या पीसे हुए कर्पूर की धूलि के समान श्वेत वर्ण अतएव ताण्डव के समय अपने ऊपर हाथी के चर्म को ओढ़े हुए तथा भस्म पोतने से शुभ्र वर्ण वाले शिवजी के समान प्रतीत होने वाले नारद मुनि को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहचान लिया ।

टिप्पणी—कहा जाता है कि गज नामक एक असुर ने, जो मारने पर भी अपने चर्म से भूमि का स्पर्श होने पर पुनः जीवित हो जाता था, सब देवता और मनुष्यों को पीड़ित करना आरम्भ किया । इससे दुःखी होकर उन्होंने शिव की शरण ली । शिवजी ने उस राक्षस को मारकर उसके चर्म को अपने ऊपर

धारण कर लिया। अतएव वह पुनर्जीवित न होकर संसार को पीड़ित न कर सका। तभी से शिवजी का नाम कृत्तिवासा (चर्म को धारण करने वाला) पड़ा ॥ ४ ॥

नारदस्य हिमालयसादृश्यमाह—

दधानमम्भोरुह-केसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

अन्वयः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानं शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अत एव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः दधानं धराधरेन्द्रमिव (स्थितम्) ('अमुं नारद इत्यबोधि सः')।

बालबोधिनी—अम्भोरुहकेसरद्युतीः=कमलकिञ्जल्कप्रभाः, कमलकेसरसदृशपीतवर्णा इत्यर्थः। जटाः=सटाः। दधानं=धारयन्तम्। शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्=शरदिन्दुकान्तिधवलम्। (अत एव) विपाकपिङ्गाः=परिपाकपिङ्गलाः। तुहिनस्थलीरुहः=तुषारभूमिसमुत्पन्नाः। व्रततीततीः=लतासमूहान्। दधानं=धारयन्तम्। धराधरेन्द्रं=पर्वतराजं, हिमालयम्। इव=यथा। (स्थितम्) ('अमुं सः=हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः)। धराधरेन्द्रमिव इत्यत्र इवशब्दप्रयोगात् वाच्योत्प्रेक्षा, यदुक्तं साहित्यदर्पणे—

'भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।'

कोशः—'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। 'जटाः सटाः' इत्यमरः। 'वल्ली तु व्रतती लता' इत्यमरः।

समासः—अम्भसि रोहन्तीति अम्भोरुहाणि (त० पु०), तेषां केसराणि, तेषां द्युतिरिव द्युतिर्यासां ताः अम्भोरुहकेसरद्युतयः, ताः अम्भोरुहकेसरद्युतीः (ब० व्री०)। शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः (त० पु०), शरच्चन्द्रस्य मरीचय इव रोचिर्यस्य सः, तं शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (ब० व्री०)। विपाकेन पिङ्गाः विपाकपिङ्गाः, ताः विपाकपिङ्गाः (त० पु०)। तुहिनस्य तुहिनप्रधाना वा स्थली तुहिनस्थली, तस्यां रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः, ताः तुहिनस्थलीरुहः (त० पु०)। धरन्तीति धराः, धरायाः धराः धराधराः, तेषामिन्द्रस्तं धराधरेन्द्रम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—दधानम्—धा+शानच्। तुहिनस्थलीरुहः—तुहिनस्थली+रुह्+क्विप्+शस्।

हिन्दी—कमल के केसर के समान कान्तिवाली (पिली) जटाओं को धारण किये हुए (तथा स्वयं) शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान (शुभ्रतम) कान्तिवाले अतएव परिपाक से पीतवर्ण, बर्फीली भूमि में उगने वाली लताओं के समूह को धारण किये हुए, पर्वतराज हिमालय के समान प्रतीत होने वाले उस पुरुष-विशेष को श्रीकृष्ण ने 'ये नारद हैं' ऐसा जान लिया।

टिप्पणी—कुछ आलोचकों के मतानुसार बर्फीली भूमि में लताओं की उत्पत्ति न होने से यह उपमान असङ्गत है, परन्तु दूसरे लोग विष-कीट न्याय से उसका समाधान इस प्रकार करते हैं—जिस प्रकार विष में उत्पन्न होने-वाला कीट उसी विष को खाता हुआ बढ़ता है, उस विष से मरता नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी बर्फीली भूमि में लताओं का उत्पन्न होना और पकना कहा है॥ ५॥

नारदस्य बलभद्रौपम्यमाह—

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्॥ ६॥

अन्वयः—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम् अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानं (अत एव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां शितिवाससस्तनुं विडम्बयन्तम् (अमुं नारद इत्यबोधि)।

बालबोधिनी—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्=पिङ्गलवर्णमुञ्जनिर्मितमेखलाधारिणम्। (पुनश्च स्वयं) अर्जुनच्छविं=धवलकान्तिम्, गौरवर्णम्। अञ्जनद्युति=कज्जलच्छवि, कृष्णवर्णमित्यर्थः। एणाजिनं=मृगचर्म। वसानम्=आच्छादयन्तम्, परिदधानम्। (अत एव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां=कनकमेखलाबद्धाधोवसनाम्। शितिवाससः=नीलाम्बरस्य, बलभद्रस्य। तनुं=शरीरम्। विडम्बयन्तम्=अनुकुर्वन्तम्। अमुं सः=हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः। अत्र 'विडम्बयन्तम्' इत्यनेन नारदस्य बलरामौपम्यमर्थप्रतीतेरनन्तरमेव गम्यते इति आर्थीयमुपमा।

कोशः—'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। 'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली' इत्यमरः। 'अथ कलेवरम्। गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः॥ कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनू।' इत्यमरः।

समासः—मुञ्जस्य विकारो मौञ्जी, पिशङ्गी चासौ मौञ्जी पिशङ्गमौञ्जी, तया युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक्, तं पिशङ्गमौञ्जीयुजम् (क० त०)। अर्जुना छविर्यस्य सः, तम् अर्जुनच्छविम् (ब० व्री०)। एणस्य अजिनम् एणाजिनं, तत् एणाजिनम् (प० त०)। अञ्जनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत् अञ्जनद्युति (ब० व्री०)। सुवर्णस्य सूत्रं (त० पु०) सुवर्णसूत्रम्, सुवर्णसूत्रेण आकलितम् अधराम्बरं यस्याः सा, तां सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् (ब० व्री०)। शिति वासो यस्य स शितिवासा, तस्य शितिवाससः (ब० व्री)। विडम्बयतीति विडम्बयन्, तं विडम्बयन्तम्।

व्याकरणम्—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्–पिशङ्गमौञ्जी + युज् + क्विप् + अम्। वसानम्—वस + शानच्। विडम्बयन्तम्—विडम्ब + णि + शतृ + अम्।

हिन्दी—पीली मूँज की करधनी पहिने हुए (तथा स्वयं) शुभ्र वर्ण वाले और काले मृगचर्म को धारण किये हुए (अत एव) सोने की करधनी से बँधी हुई नीली धोती वाले (शुभ्र वर्ण वाले) बलराम के शरीर का अनुकरण करने वाले उस पुरुष को 'ये नारद हैं' ऐसा समझ लिया।

टिप्पणी—ब्राह्मण की मेखला मूँज की, क्षत्रिय की मूर्वा घास की धनुष की डोरी के समान और वैश्य की सन के धागे की बनी हुई बराबर-बराबर तीन लड़ियों वाली चिकनी होनी चाहिए, जैसा कि मनुस्मृति (अ० २, श्लो० ४२) में कहा है—

'मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी' ॥ ६ ॥

अथ नारदस्य शरन्मेघसादृश्यमाह—

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडिताङ्गणैरिव ॥ ७ ॥

अन्वयः—विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतं हिमशुभ्रं घनान्ते तडिताङ्गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनम् इव स्थितम्) ('क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति पूर्वेणान्वयः)।

बालबोधिनी—विहङ्गराजाङ्गरुहैः = गरुडलोमभिः। इव = यथा। आयतैः = दीर्घैः। हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः = सुवर्णमयभूमिसमुत्पन्नलतासूत्रैः। कृतोपवीतं = विरचितयज्ञसूत्रम्। (स्वयञ्च) हिमशुभ्रं = तुषारधवलम् (अत एव)

घनान्ते=शरदि । तडितां=विद्युताम् । गणैः=समूहैः । गणैरित्यस्य स्थाने गुणैरिति पाठान्तरे दामभिरित्यर्थः । (उपलक्षितम्) उच्चकैः=उन्नतम् । घनं=मेघम् । इव=यथा । शोभमानममुं सः=हरिः नारद इत्यबोधीति पूर्वेणान्वयः । अत्र वाच्योत्प्रेक्षालङ्कारः । लक्षणन्तु प्रागेवोक्तम् ।

समासः—विहायसा गच्छन्तीति विहङ्गाः, तेषां राजा विहङ्गराजः, तस्य अङ्गरुहाः, तैः विहङ्गराजाङ्गरुहैः (ष० त०) । हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयी, हिरण्मयी चासौ उर्वी च हिरण्मयोर्वी, तस्यां रोहन्तीति हिरण्मयोर्वीरुहाः, ताश्च ताः वल्लयः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लयः, तासां तन्तवस्तैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः (त० पु०) । कृतम् उपवीतं येन सः, तं कृतोपवीतम् (ब० व्री०) । हिममिव शुभ्रः हिमशुभ्रः, तं हिमशुभ्रम् (उपमित० स०) । घनानाम् अन्तः घनान्तः, तस्मिन् घनान्ते (ष० त०) ।

व्याकरणम्—आयतैः—आ+यम्+क्तः । उच्चकैः—उच्चैरित्यव्ययात् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (४।३।७१) इति स्वार्थे अकच् । गणैः—इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । हिरण्यस्य विकारः 'हिरण्मयी' इत्यत्र 'दाण्डिनायन०' (६।४।१७४) इत्यादिना मयटि यलोपनिपातः ।

हिन्दी—पक्षिराज गरुड के केशों के समान लम्बे-लम्बे सुवर्णमयी भूमि में उत्पन्न होने वाली लताओं के तन्तुओं से बने हुए, यज्ञोपवीत को धारण किए हुए (तथा स्वयं) बर्फ के समान अत्यन्त शुभ्र वर्ण (अत एव) शरत्काल में बिजली से युक्त (शुभ्र वर्ण) मेघ के समान शोभायमान नारदजी को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहिचान लिया ॥ ७ ॥

अथ नारदस्य ऐरावतसाम्यमुत्प्रेक्ष्यते—

निसर्ग-चित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्रम् इव चकासतम् (अमुं स नारद इत्यबोधि) ।

बालबोधिनी—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा=स्वाभाविकविविधवर्णभास्वराणुलोम्ना । तथा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना=शोभमानमृणालखण्डवद्धवलाङ्गसंसक्तेन । चारुचमूरुचर्मणा=सुन्दरमृगचर्मणा । कुथेन=पृष्ठास्तरणेन । इन्द्रवाहनं=महेन्द्रयानम् । नागेन्द्रं=गजराजम्, ऐरावतमित्यर्थः । इव=यथा ।

चकासतं=शोभमानम् । (अमुं सः=हरिः, क्रमान्नारद इत्यबोधि) अत्रापि वाच्योत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'स्वरूपञ्च स्वभावश्च' इत्यमरः । 'मृणालं बिसम्' इत्यमरः । 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः ।

समासः—चित्राणि च उज्ज्वलानि च सूक्ष्माणि च चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि, निसर्गेण चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि पक्ष्माणि यस्य तत् निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्म, तेन निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा (ब० व्री०) । लसंश्चासौ बिसच्छेदश्च लसद्बिसच्छेदः, स इव सितं लसद्बिसच्छेदसितम्, तच्च तदङ्गञ्च लसद्बिसच्छेदसिताङ्गम्, तस्मिन् सङ्गोऽस्यास्तीति, तेन लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना (कर्मधारयगर्भ ब० व्री०) । चमूरोः चर्म चमूरुचर्म, चारु च तत् चमूरुचर्म च चारुचमूरुचर्म, तेन चारुचमूरुचर्मणा (त० पु०) । नागानाम् इन्द्रो नागेन्द्रः, तं नागेन्द्रम् (त० पु०) । इन्द्रस्य वाहनम् इन्द्रवाहनं तद् इन्द्रवाहनम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—चकासतम्—चकासृ+शतृ, जक्षित्यादित्वेन अभ्यस्तत्वात् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः । वाहनम्—वह+स्वार्थे णिच् कर्तरि ल्युट् ।

हिन्दी—स्वभावतः चितकबरे तथा उज्ज्वल रोम वाले शोभमान कमलनाल के खण्ड के समान शुभ्र वर्ण (तथा अपने) शरीर पर पड़े हुए सुन्दर चमूरु मृग के चर्म से अनेक रङ्गों से चित्रित तथा सूक्ष्म सूत वाले एवं शुभ्र वर्ण वाले (ऐरावत के शरीर पर डाले हुए) झूल से इन्द्रवाहन गजराज ऐरावत के समान शोभित होते हुए नारदजी को श्रीकृष्ण भगवान् ने पहिचान लिया ॥ ८ ॥

पुनः कीदृशमित्याह—

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

अन्वयः—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् (क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः) ।

बालबोधिनी—अजस्रम्=अनवरतम् । आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया=ताडितवीणातन्त्रीसङ्घर्षणोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखकिरणमिश्रया ।

पुरः=पुरोभागे, अग्रभागे। प्रवालैः=विद्रुमैः। पूरितार्धया=प्रवेशितार्धभागया। इव=यथा (विभाव्यमानया)। अच्छस्फटिकाक्षमालया=स्वच्छस्फटिकमणिनिर्मितजपमालया। विभान्तं=शोभमानम् (अमुं नारद इति सः=हरिः, क्रमादबोधीति पूर्वेगान्वयः)। अत्र 'नखांशुभिन्नया' इति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारात् तद्गुणनामकोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कण्ठगुणग्रहः' इति।

कोशः—'सततानारताश्रान्तसन्ततावितरतानिशम्' इत्यमरः। 'किरणोस्र-मयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः। 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽभिमुखेऽव्ययम्' इति हैमः।

समासः—अङ्गुष्ठस्य नखः अङ्गुष्ठनखः, तस्य अंशवः अङ्गुष्ठनखांशवः। वल्लक्याः गुणाः वल्लकीगुणाः, आस्फालिताश्च ते वल्लकीगुणाश्च आस्फालितवल्लकीगुणाः, तेषां क्षतेन उज्ज्वलाश्च ते अङ्गुष्ठनखांशवश्च आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशवः, तैः भिन्ना, तया आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया (त० पु०)। पूरितम् अर्धं यस्याः सा, तया पूरितार्धया (ब० व्री०)। अच्छाश्च ते स्फटिकाश्च अच्छस्फटिकाः, तेषाम् अक्षमाला, तया अच्छस्फटिकाक्षमालया (त० पु०)।

व्याकरणम्—अजस्रम्—न जस्यति मुञ्चति इति, न+जस्+रः। विभान्तम्—वि+भा+शतृ।

हिन्दी—निरन्तर बजाये गये वीणा के तारों के संघर्षण से उज्ज्वल अँगूठे के नख की किरणों से मिश्रित (अत एव) सामने के आधे भाग में मूँगों से परिपूर्ण-सी, स्वच्छ स्फटिक-मणि की अक्षमाला (जपमाला) से शोभित होते हुए उस पुरुष-विशेष को 'ये नारद हैं' ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् ने शनैः-शनैः जाना ॥ ९ ॥

पुनः मुनिं विशिनष्टि—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

अन्वयः—नभस्वतः आघट्टनया पृथक् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम् (क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः)।

बालबोधिनी—नभस्वतः=वायोः, पवनस्य । आघट्टनया=आघातेन । पृथक्=असङ्कीर्णं, विस्पष्टं यथा स्यात्तथा । रणद्भिः=शब्दायमानैः, अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः । विभिन्नश्रुतिमण्डलैः=प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितस्वरारम्भकशब्दविशेषसमूहैः । स्वरैः=षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादनामकैः 'स–रि–ग–म–प–ध–नि' इत्येवं लोके प्रसिद्धैः सप्तभिः स्वरैः । स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां=व्यक्तीभवत्स्वरसङ्घातारोहावरोहक्रमभेदाम् । महतीं=महतीनाम्नीं स्ववीणाम् । मुहुर्मुहुः=पुनः पुनः, भृशम् । अवेक्षमाणं=पश्यन्तम् । अमुं सः=हरिः नारद इत्यवोधि (पूर्वेणान्वयः) । अत्र वादनं विनैव स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकाक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो द्योत्यते तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वादतिशयोक्त्यलङ्कारः । तया चाङ्गुलिसंयोगरूपकारणं विनैव मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद् विभावनाऽलङ्कारो व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः । सम्प्रति स्वरादीनां स्वरूपमुच्यते—'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति । श्रुत्युत्पन्नोऽनुरणनात्मकः कर्णमधुरो ध्वनिविशेषः स्वर इत्युच्यते । यथा रत्नाकरे—

'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वरः रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥' इति ॥

स्वरोत्पादकशब्दविशेषश्श्रुतिः । यथा रत्नाकरे—

'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥' इति ॥

सङ्गीतशास्त्रे सप्त स्वराः, त्रयो ग्रामाः, एकविंशतिमूर्च्छनाः, ऊनपञ्चाशच्च तानाः, द्वाविंशतिश्च श्रुतयो भवन्ति । यदुक्तम्—

'सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशद् द्व्यधिका विंशतिः श्रुतिः ॥' इति ॥

सप्तस्वराः षड्जादयः, तदुक्तम्—

'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ॥
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥' इति ॥

स्वरेषु श्रुतिसंख्या नियमश्चाऽयम्—

'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ।
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिऋषभधैवतौ ॥' इति ॥

ग्रामस्य लक्षणं तु रत्नाकर—

'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते ॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥' इति ॥

तथा—'नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः ।
षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः ॥' इति ॥

ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिमूर्च्छना भवन्ति । तल्लक्षणं भेदाश्च रत्नाकरे यथा—

'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥
अराविनी विश्वभूता चान्द्री हेमा कपर्दिनी ।
मैत्री बार्हस्पता चैतास्त्वेकविंशतिमूर्च्छनाः ॥' इति ॥

श्रुतयः द्वाविंशतिविधाः, तासां नामानि यथा—

'नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना,
मातङ्गी सरसामृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी ।
वाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया,
मात्रीति श्रुतयः पुराणविद्भिर्द्वाविंशतिः कीर्तिताः ॥'

कोशः—'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः । 'विश्वामोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥' इति वैजयन्ती ।

समासः—श्रुतीनां मण्डलानि श्रुतिमण्डलानि, विभिन्नानि श्रुतिमण्डलानि येषां तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । स्फुटीभवन्त्यः ग्रामविशेषाणां मूर्च्छनाः यस्यां सा, तां स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—रणद्भिः—रण् + शतृ । अवेक्षमाणम्—अव + ईक्ष + शानच् । आघट्टनया—आ + घट्ट + स्वार्थे णिच् + युच् । स्फुटीभवत्—स्फुट् + च्वि + भू + शतृ + ङीप् ।

हिन्दी—वायु के आघात से स्पष्ट ध्वनि करते हुए एवं व्यवस्थित स्वर-समूह वाले सात स्वरों से जिसमें (स्वर-संघात रूप षड्जादि) तीन ग्रामों के स्वरों का आरोह तथा अवरोह का क्रम (मूर्च्छना) स्पष्ट (प्रतीत) हो रहा

था, उस महती नाम की (अपनी) वीणा को बार-बार देखते हुए नारदजी को भगवान् श्रीकृष्ण ने पहिचान लिया।

टिप्पणी—स्वर—श्रुति से उत्पन्न होने वाली अनुरणनात्मक (गूंज-स्वरूप) उस श्रवण-मधुर ध्वनि का नाम स्वर है, जो कि सुनने वाले के हृदय को आनन्दित कर देती है। स्वर सात होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में स–रि–ग–म–प–ध–नि–कहा गया है। इनमें श्रुतियों की संख्या का नियम इस प्रकार है—षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम में चार-चार, निषाद तथा गान्धार में दो-दो और ऋषभ तथा धैवत में तीन-तीन श्रुतियाँ होती है।

श्रुति—सर्वप्रथम उच्चरित होने से ह्रस्व मात्रा वाला जो शब्द श्रोता के कानों तक पहुँचता है, वह 'श्रुति' कहलाती है। यह श्रुति ही स्वरों की उत्पादिका है। ये २२ होती हैं। इनके नाम संस्कृत टीका में देखें।

ग्राम—स्वरों के समूह-विशेष को ग्राम कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम तथा गान्धार ग्राम। नन्द्यावर्त, जीमूत तथा समुद्र, ये तीन षड्जादि तीन ग्रामों के उत्पादक माने जाते हैं।

मूर्च्छना—इन सात स्वरों के चढ़ाव एवं उतराव (आरोह-अवरोह) के क्रम को मूर्च्छना या मूर्च्छा कहते हैं। तीनों ग्रामों में अलग-अलग सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। इस प्रकार तीनों ग्रामों में मिलाकर २१ मूर्च्छनाएँ होती है। प्रत्येक ग्राम में सात मूर्च्छनाओं के नाम ये हैं—अराविनी, विश्वाभृता, चान्द्री, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री, बार्हस्पता।

महती—यह नारद की वीणा का नाम है॥ १०॥

नारदस्य द्वारकाप्राप्तिं वर्णयति—

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः।
समासदत् सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः॥ ११॥

अन्वयः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः कृतानतीन् अनुव्रजतः नभःसदः निवर्त्य सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत्।

बालबोधिनी—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः=चक्षुरादीन्द्रियागोचरसर्ववस्तुद्रष्टा, अतीतानागतवेत्ता। सः=ब्रह्मपुत्रो नारदः। कृतानतीन्=कृतप्रणामान्। अनुव्रजतः=अनुगच्छतः, पृष्ठतः समागच्छतः। नभःसदः=देवान्। निवर्त्य=परावर्त्य।

सादितदैत्यसम्पदः = विध्वस्तीकृतदानवैश्वर्यस्य । चक्रिणः = सुदर्शनचक्रधरस्य श्रीकृष्णस्य । महेन्द्रालयचारु=इन्द्रभवनमनोहरम् । पदं=स्थानम्, वासभवनम् । समासदत् = प्रापत्, समाससाद । अत्र 'नती नतीं' 'पदः पदमि'ति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः, तथा पूर्वार्द्धे नकारस्य उत्तरार्धे सकारस्य दकारस्य चासकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासः, अनयोर्नैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति ।

कोशः—'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । 'चक्री कोके कुलालेऽहौ वैकुण्ठे चक्रवर्तिनि' इति हैमः ।

समासः—इन्द्रियमतिक्रान्ताः (पदार्थाः) अतीन्द्रियाः, तेषां ज्ञानं, तस्य निधिः अतीन्द्रियज्ञाननिधिः (त० पु०) । कृता आनतयो यैस्तान् कृतानतीन् (व० व्री०) । नभसि सीदन्ति (गच्छन्ति) ये तान् नभःसदः । दैत्यानां सम्पदः दैत्यसम्पदः, सादिता दैत्यसम्पदो येनासौ सादितदैत्यसम्पत्, तस्य सादितदैत्यसम्पदः (व० व्री०) । महेन्द्रस्य आलयः महेन्द्रालयः, स इव चारु तत् तथाभूतं महेन्द्रालयचारु (त० पु०) ।

व्याकरणम्-- निवर्त्य—नि + वृत् + णिच् + क्त्वा—ल्यप् । अनुव्रजतः—अनु + व्रज + शतृ । कृतानतीन्—कृ + क्त + आ + नम् + क्तिन् । नभःसदः—नभः + सद् + क्विप् 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इति क्विप् । समासदत्—सम् + आ + सद् + लुङ्–तिप् पुषादि द्युताद्यॢदितः०' इत्यङ् ।

हिन्दी—अतीन्द्रिय ज्ञान (परोक्ष-ज्ञान) के भण्डार नारदजी अपने पीछे आते हुए (तथा लौटते समय प्रणाम करते हुए) उन देवताओं को लौटाकर (विदा करके) दैत्यों की सम्पत्ति को नष्ट कर देने वाले चक्रधारी श्रीकृष्ण भगवान् के इन्द्र-भवन (स्वर्ग) के समान सुन्दर निवास-स्थान (द्वारिकापुरी) पर पहुँचे ॥ ११ ।

श्रीकृष्णविहितं नारदस्वागतमाह—

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥

अन्वयः—पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुनः भुवि यावत् न व्यलीयत तावत् अच्युतः गिरेः तडित्वान् इव उच्चकैः पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ।

बालबोधिनी—पतत्पतङ्गप्रतिमः = निष्पतत्सूर्यसदृशः । 'पतन्' इति पाठे मुनिविशेषणमिदम्, तस्य 'आकाशादवतरन्' इत्यर्थः । तपोनिधिः = तपःखनिः, मुनिर्नारदः । अस्य = श्रीकृष्णस्य । पुरः = अग्रे । भुवि = पृथिव्याम् । यावत् = यावत्कालपर्यन्तम् । न व्यलीयत = नातिष्ठत्, नोपाविशत्, नावतीर्ण इति वा । तावत् = तावदेव, मुनिचरणयोर्भूस्पर्शात् प्रागेवेत्यर्थः । अच्युतः = श्रीकृष्ण. गिरेः = पर्वतात् । तडित्वान् = मेघः । इव = यथा । उच्चकैः = समुन्नतात् पीठात् = आसनात् । जवेन = वेगेन । उदतिष्ठत् = उत्थितवान्, समुत्तस्थौ । 'पतत्पतङ्ग' इत्यत्र पतङ्गस्य पतनाऽसम्भवादियमभूतोपमेति दण्डी । आधुनिकास्तु अप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याहुः ।

कोशः—'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । 'धाराधरो जलधरस्तडित्वान्वारिदोऽम्बुभृत्' इत्यमरः । 'पीठमासनम्' इत्यमरः ।

समासः—पतंश्चासौ पतङ्गश्चेति पतत्पतङ्गः, स प्रतिमा यस्य सः पतत्पतङ्गप्रतिमः (कर्मधारयगर्भ ब० व्री०) । तपसां निधिः तपोनिधिः (त० पु०) तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान् ।

व्याकरणम्—व्यलीयत–विपूर्वात् 'लीङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात् कर्तरि लङ्–त । तडित्वान्–तडित् + मतुप् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इति मतुपो मकारस्य वकारः । उदतिष्ठत्–उद् + स्था + लङ् + अ + ति ।

हिन्दी—आकाश से उतरते हुए सूर्य के समान तपोनिधि नारदजी श्रीकृष्ण भगवान् के सामने जब तक पृथिवी पर नहीं उतरे तब तक श्रीकृष्ण (मुनि का स्वागत करने के लिये) आसन से इस प्रकार उठ बैठे, जैसे बिजली वाला बादल ऊंचे पर्वत से उठता है ॥ १२ ॥

अथ नारदस्य भुवि पादन्यासमाह—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

अन्वयः—अथ धातुः सुतेन प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः भुवस्तले अधः कथञ्चित् धृते (सति) अभिदेवकीसुतं चरणौ न्यधायिषाताम् ।

बालबोधिनी—अथ = श्रीकृष्णाभ्युत्थानानन्तरम् । धातुः = ब्रह्मणः । सुतेन = पुत्रेण, नारदेन । प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः = प्रयासोपरिकृतभरावनतफणैः फणिनां = सर्पाणाम् । गणैः = समूहैः । अधः = अधःप्रदेशे, पाताले इत्यर्थः कथञ्चित् = महता प्रयत्नेन । धृते = ऊढे, उत्तोलिते सति । भुवस्तले = भूतले

भिदेवकीसुतं=देवकीसुतमभि लक्ष्यीकृत्य, श्रीकृष्णस्याग्रे इत्यर्थः। चरणौ=पादौ। न्यधायिषाताम्=स्थापितौ, निहितौ। अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानात् सम्बन्धातिशयोक्तिरियम्। तदुक्तं कुवलयानन्दे—'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्' इति।

कोशः—'स्फुटायां तु फणा द्वयोः' इत्यमरः। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—प्रयत्नेन उन्नमिताः प्रयत्नोन्नमिताः, प्रयत्नोन्नमिता अपि आनमन्त्यः फणा येषां तैः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः (ब० व्री०)। देवक्याः सुतः देवकीसुतः, देवकीसुतस्य अभि इति अभिदेवकीसुतम् (अव्ययीभावः)।

व्याकरणम्—फणिनाम्–फण + इनिः। अभिदेवकीसुतम्–'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (१।१।१४) इत्यव्ययीभावः, 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' (२।४।८२) इति सुपोऽलुक् विभक्तेश्चामादेशः। न्यधायिषाताम्—निपूर्वाद् दधातेः कर्मणि लुङ् 'स्यसिच्सीयुट्' (६।४।६२) इत्यादिना चिण्वदिटि युक्।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् के अभ्युत्थानादि के वाद ब्रह्मा के पुत्र नारदजी ने प्रयत्नपूर्वक उठाने पर भी अधिक भार होने से नीचे झुकते हुए फणों वाले सर्पों के समूह द्वारा नीचे (पाताललोक मे) ही बड़ी कठिनाई से धारण किये हुए भूमितल पर देवकीसुत श्रीकृष्ण भगवान् के सामने दोनों पैर रखे, अर्थात् भूतल पर खड़े हुए।

टिप्पणी—पाताल में रहने वाले सर्पों की फणाओं पर पृथिवी स्थित है, ऐसा पुराणों में वर्णन है। आकाश से उतरते हुए नारदजी भूमि पर पैर रखने लगे तो पृथिवी का भार इतना बढ़ गया कि नीचे स्थित सर्पों की फणाएँ प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाने पर भी नीचे की ओर झुकती जा रही थीं। इससे नारदजी का गौरवातिशय प्रकट होता है॥ १३॥

श्रीकृष्णकृतं नारदस्य पूजाप्रकारमाह—

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपुरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः॥ १४॥

अन्वयः—आदिपुरुषः सः अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत्, मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहान् प्रणयात् उपैतुम् अभीप्सवः न भवन्ति।

बालबोधिनी—आदिपुरुषः=पुराणपुरुषः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) इति वा दीर्घः। सः=श्रीकृष्णः। अर्घ्यं=पूज्यम्। तं=नारदम्।

अर्घ्यादिकया=पाद्यार्घ्यादिपूर्विकया। 'अर्घादिकया' इति पाठेऽपि स एवार्थः। सपर्यया=पूजया। साधु=यथाविधि; समुचितं यथा स्यात्तथा। पर्यपूपुजत्=पूजयामास। मनीषिणः=विद्वांसः। अपुण्यकृतां=पुण्यमकृतवताम्, अधन्यानाम्। गृहान्=वेश्मानि। प्रणयात्=स्नेहात्। उपैतुं=प्राप्तुम्, गन्तुमित्यर्थः। अभीप्सवः=अभिलाषुकाः, इच्छवः। न=नैव। भवन्ति=जायन्ते। अत्र पूर्वार्धोक्तस्य विशेषस्य उत्तरार्धोक्तेन सामान्येन समर्थनं कृतमिति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः। गृहं गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधिः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः।

समासः—आदिश्चासौ पूरुषश्च आदिपुरुषः (क० धा०)। अर्घम् अर्हतीति अर्घ्यः, तम् अर्घ्यम्। अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम्, अर्घ्यमादिर्यस्याः सा, तया अर्घ्यादिकया (ब० व्री०)। ईषन्ते इति ईषिणः, मनसः ईषिणः मनीषिणः (त० पु०)। पुण्यं कृतवन्तः इति पुण्यकृतः, न पुण्यकृतः अपुण्यकृतः, तेषाम् अपुण्यकृताम् (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—अर्घ्यादिकया—'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति विकल्पेन कप् प्रत्ययः। अर्घ्यम्—अर्घ+यत्। पर्यपूपुजत्—परि+पूज्+णिच्+लुङ्+तिप्। अपुण्यकृताम्—'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' (३।२।८९) इति भूते क्विप्। मनीषिणः—मनस्+ईष्+णिनिः। उपैतिम्—उप+आ+इण्+तुमुन्।

हिन्दी—आदिपुरुष उन श्रीकृष्ण भगवान् ने पूज्य उन नारदजी की अर्घ्यादि पूजा की सामग्री से विधिपूर्वक पूजा की। (श्रीकृष्ण भगवान् के लिये नारदजी की इस प्रकार पूजा करना उचित ही था, क्योंकि) विचारशील महात्मा लोग अपुण्यात्माओं के घर पर प्रेम से जाने के लिए इच्छुक नहीं होते हैं, अर्थात् पुण्यशील व्यक्तियों के घर पर ही प्रेम से जाते हैं॥ १४॥

श्रीकृष्णस्य नीलगिरिसाम्यं नारदस्य च हिमालयसाम्यमाह—

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत्॥ १५॥

अन्वयः—जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावत् न उदपश्यत्, तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत्।

पर बालबोधिनी—जनः=द्वारकानिवासिलोकः। उत्थितौ=उत्तिष्ठमानौ। स तौ=नारदश्रीकृष्णौ। तुषाराञ्जनपर्वतौ=हिमकज्जलशैलौ। इव=यथा। 'पर्वताविव' इत्यस्य स्थाने 'पर्वताकृती' इति पाठे पर्वतवर्णाविवेत्यर्थः। यावत्=यावत्कालम्। न उदपश्यत्=नोत्प्रेक्षितवान्, न दृष्टवान्। तावत्=तावदेव। चिरन्तनः=पुराणः। मुनिः=श्रीकृष्णः। 'पुरा किल भगवान् बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात्। स्वहस्तदत्ते=स्वकरसमर्पिते। आसने=विष्टरे। मुनिं=नारदम्। अभिन्यवीविशत्=स्वसम्मुखमुपवेशितवान्। अत्र नारदः श्वैत्यात् हिमालयसदृशः, श्रीकृष्णश्च श्यामतयाऽञ्जनशैलोपम इत्यवधेयम्। 'तुषाराञ्जनपर्वताविव' इत्यत्रोपमालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः' इति।

कोशः—'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः। 'विष्टरं पीठमासनम्' इत्यमरः।

समासः—तुषारश्च अञ्जनं च तुषाराञ्जने, तयोः पर्वतौ, तौ तुषाराञ्जनपर्वतौ (त० पु०)। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ, ताभ्यां दत्तं स्वहस्तदत्तम्, तस्मिन् स्वहस्तदत्ते (त० पु०)।

व्याकरणम्—उदपश्यत्—उद्+दृश्+लङ्—तिप्। उत्थितौ—उद्+स्था+क्तः। आस्यते अस्मिन् इति विग्रहे—आस्+अधिकरणे ल्युट्। चिरन्तनः—चिरं भवः इति विग्रहे—चिरम्+ट्यु तुडागमश्च। अभिन्यवीविशत्—अभि+नि+विश्+णिच्+लुङ्, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (३।१।४८) इति चङि।

हिन्दी—(वहाँ पर उपस्थित) लोग हिमालय तथा नीलगिरि के समान खड़े हुए इन नारद और श्रीकृष्ण भगवान् को जब तक देख भी नहीं पाये थे कि तब तक प्राचीन मुनि श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने हाथ से दिये हुए आसन पर मुनि नारदजी को बैठा दिया।

टिप्पणी—प्राचीन मुनि—पुराणों में प्रसिद्ध है कि भगवान् ने नारायण रूप से बहुत काल तक बदरिका-आश्रम में तप किया। वे ही दूसरे जन्म में श्रीकृष्ण हुए। इसी से पूर्व जन्म के आधार पर भगवान् को चिरन्तन मुनि कहा है॥ १५॥

श्रीकृष्णस्य पुरो नारदस्य चन्द्रसाम्यमाह—

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्॥ १६॥

अन्वयः—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान्, सः अभिसायं श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ।

बालबोधिनी—महामहानीलशिलारुचः=बृहदिन्द्रनीलमणिकान्तेः, सिंहलद्वीपोत्पन्ननीलोपलप्रभस्येति यावत् । तथाह भगवान् अगस्त्यः—'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलस्तु ते स्मृताः' इति । कंसकृषः=कंसारेः श्रीकृष्णस्य । पुरः =अग्रे । उच्चकैः=उन्नते । विष्टरे=आसने । निषेदिवान्=उपविष्टवान्, निषण्णः । सः =नारदः । अभिसायं=सायङ्कालाभिमुखम्, सायङ्काले । श्रितोदयाद्रेः=प्राप्तोदयाचलस्य । चन्द्रमसः=चन्द्रस्य । अभिरामतां=शोभाम्, रमणीयताम् । अचूचुरत्=चोरितवान्, प्राप्तवान्, अनुचकारेति वा । 'महामहानीलशिलारुचः' इत्यत्रोपमालङ्कारः । 'अचूचुरत् चन्द्रमसोऽभिरामताम्' इत्यत्र चान्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । उपमा चात्र प्रधानमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । 'विष्टरः पीठमस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः ।

समासः—महानीलस्य शिला महानीलशिला, महती चाऽसौ महानीलशिला च महामहानीलशिला, तस्याः रुगिव रुक् यस्य, तस्य महामहानीलशिलारुचः (कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः) । कंसं कृष्टवान् इति, तस्य कंसकृषः (त० पु०) । श्रितः उदयाद्रिः येन सः, तस्य श्रितोदयाद्रेः (ब० व्री०) । सायम् अभिलक्ष्यीकृत्येति अभिसायम् (अव्ययीभावः) । अभि=समन्तात्, रमन्ते जनाः यस्मिन्निति अभिरामः, तस्य भावः अभिरामता, ताम् अभिरामताम् ।

व्याकरणम्—निषेदिवान्—नि+सद्+क्वसु । विष्टरम्—वि+स्तृ+अप् 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । अचूचुरत्—चुर्+णिच्+लुङ्+तिप् 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (३।१।४८) इति च्लेश्चङ् । अभिरामताम्—अभि+रम्+तल् ।

हिन्दी—विशाल नीलमणि (पन्ना) के समान कान्ति वाले (श्याम वर्ण), कंस को मारने वाले श्रीकृष्णजी के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठे हुए उन नारदजी ने सायंकाल में उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा की शोभा को चुरा दिया अर्थात् चन्द्रमा की शोभा को धारण किया ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णस्य प्रसन्नतामाह—

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

नारदतेजांसि चन्द्रकिरणैरुत्प्रेक्ष्यते—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥

अन्वयः—रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिताः ऋषित्विषः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशवः इव विरेजिरे ।

बालबोधिनी—रथाङ्गपाणेः=चक्रपाणेः, श्रीकृष्णस्य । रोचिषां=तेजसाम् । पटलेन=समूहेन । संवलिताः=मिलिताः, मिश्रिताः, संयुक्ताः । ऋषित्विषः= मुनितेजांसि, नारदकान्तयः । नक्तं=रात्रौ, सप्तम्यर्थेऽव्ययमिदम् । तरोः= वृक्षस्य । चलत्पलाशान्तरगोचराः= चञ्चलतरुपत्रविवराश्रयाः, वायुकम्पिततरु- पर्णमध्यप्रविष्टा इत्यर्थः । तुषारमूर्तेः=शीतांशोश्चन्द्रस्य । अंशवः=किरणाः, इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । विरेजिरे=शुशुभिरे, बभुः । अत्र रथाङ्गपाणिरोचिःपटल- संवलितर्षित्विषां चञ्चलतरुपलाशान्तरगोचरतुषारमूर्तिकिरणैरुत्प्रेक्षणं कृतमित्यु- त्प्रेक्षालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति ।

कोशः—'रोचिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः । 'पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदसादृश्ये' इत्य- मरः । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः ।

समासः—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम्, रथाङ्गं पाणौ यस्य सः, तस्य रथाङ्ग- पाणेः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः (त० पु०) । चलन्ति च तानि पलाशानि च चलत्पलाशानि, तेषाम् अन्तराणि चलत्पलाशा- न्तराणि, तान्येव गोचरः (आश्रयः) येषां ते चलत्पलाशान्तरगोचराः (कर्म० गर्भ ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—रथाङ्गपाणेः—'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति वार्तिकेन पाणेः परनिपातः । संवलिताः—सम्+वल्+क्तः इडागमः । विरेजिरे —वि+राज्+लिट्+झ+इरेच् ।

हिन्दी—सुदर्शन चक्र को हाथ में धारण करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् की (श्याम वर्ण) कान्ति-समूह से मिश्रित ऋषि नारदजी का (शुभ्र वर्ण) तेज रात्रि में वृक्ष के हिलते हुए पत्तों के बीच से आती हुई चन्द्रमा की किरणों के समान शोभित हुआ ।

टिप्पणी—'गोचर' शब्द का अर्थ है—आश्रय। गावः—'इन्द्रियाणि चरन्ति अस्मिन्निति गोचरः' अर्थात् जो इन्द्रियों का विषय हो॥ २१॥

श्रीकृष्णनारदयोरेकवर्णतामाह—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः॥ २२॥

अन्वयः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः परस्परेण छुरितामलच्छवी तौ तदा एकवर्णौ इव बभूवतुः।

बालबोधिनी—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः=विकसिततमालपुष्पसदृशैः, विकचतमालपुष्पनीलैरिति यावत्, सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः=सप्तपर्णवृक्षपुष्पपरागधवलैः। शुभैः=मनोहरैः, पापक्षयकरैर्वा। अभीषुभिः=रश्मिभिः, देहतेजोभिः। परस्परेण=अन्योऽन्यम्। छुरितामलच्छवी=मिश्रितोज्ज्वलकान्ती, व्यतिषक्तनिर्मलप्रभौ। तौ=श्रीकृष्णनारदौ। तदा=तस्मिन् काले। एकवर्णौ=तुल्यवर्णौ, समानरूपौ। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। बभूवतुः=अभूताम्। उभयच्छविमेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणे गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायोऽवर्णनीय कश्चित् समानवर्णः सञ्जातः। उभयवर्णमेलनादेकस्य कस्यचिदनिर्वचनीयस्य वर्णस्य प्रतीतेः सम्भावनादुत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि नपुंसके' इत्यमरः। 'निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः। 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विमलच्छदः' इत्यमरः। 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः।

समासः—तापिच्छस्य पुष्पं तापिच्छम्, प्रफुल्लतीति प्रफुल्लम्, प्रफुल्लं च तत् तापिच्छं च प्रफुल्लतापिच्छम्, तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः (कर्म०), नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः। अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति। सप्तच्छदाः पर्णानि पर्वसु यस्य (वृन्ते वृन्ते सप्त छदाः यस्य) स सप्तच्छदः, तस्य विकारः (पुष्पम्) सप्तच्छदम्, तानि सप्तच्छदानि, सप्तच्छदानां पांसवः सप्तच्छदपांसवः, ते इव पाण्डवस्तैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः (ब० व्री० गर्भ० तत्पु०)। छुरिते अमले छवी ययोस्तौ छुरितामलच्छवी (ब० व्री०)। एको वर्णो ययोस्तौ एकवर्णौ (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—प्रफुल्ल—प्र+फुल्ल+अच्। बभूवतुः—भू+लिट्+तस्+अतुस्।

हिन्दी—खिले हुए तमाल (आबनूस) के समान (श्यामल) तथा सप्तच्छद (छितवन) के पुष्प के पराग के समान शुभ्र तथा मनोहर किरणों से

परस्पर मिश्रित कान्ति वाले वे दोनों (श्रीकृष्ण भगवान् और नारदजी) उस समय मानो एक रङ्ग के हो गये ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णस्य नारदशुभागमनजन्यं हर्षमाह—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ २३ ॥

अन्वयः—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विपः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासम् आसत । तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवाः मुदः न ममुः ।

बालबोधिनी—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः—प्रलयसमयोपसंहृतजीवस्य, कल्पक्षयकुक्षिस्थापितचराचरस्य । कैटभद्विषः=कैटभारेः । यस्यां तनौ=यस्मिन् शरीरे । जगन्ति=भुवनानि, लोकाः । सविकासम्=सविस्तरम्, असम्बाधम्, यथासुखम् । आसत=उषितानि, अतिष्ठन् । तत्र=तस्याम् । तनौ=देहे । तपोधनाभ्यागमसम्भवाः=तपस्विश्रेष्ठनारदागमनप्रभवाः । मुदः=प्रीतयः, प्रमोदाः, हर्षाः । न ममुः=न मान्तिस्म । अतिरिच्यन्ते इत्यर्थः । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते' इति ।

कोशः—'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । 'मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः' इत्यमरः ।

समासः—युगानाम् अन्तः युगान्तः, युगान्तस्य कालः इति युगान्तकालः, तस्मिन् प्रतिसंहृता आत्मनो येनाऽसौ, तस्य युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः (त० पु० गर्भ व० व्री०) । तप एव धनं यस्यासौ तपोधनः, तस्य अभ्यागमः तपोधनाभ्यागमः, तस्मात् तेन वा सम्भवन्तीति तपोधनाभ्यागमसम्भवाः (ब० व्री० गर्भ त० पु०) । कैटभं द्वेष्टि यः सः, तस्य कैटभद्विषः ।

व्याकरणम्—विकास—वि+कस्+घञ् । आसत—आस्+लङ्+झ+अत । ममुः—मा+लिट्+झि+उस् ।

हिन्दी—युगों की समाप्ति के समय (प्रलयकाल) में (समस्त) जीवों को अन्तर्भूत कर लेने वाले कैटभ नामक राक्षस के शत्रु श्रीकृष्ण भगवान् के जिस शरीर में चौदहों भुवन विस्तार के साथ रहते थे, उसी श्रीकृष्ण भगवान् के शरीर में तपस्वि-श्रेष्ठ नारद के आगमन से उत्पन्न आनन्द न समा सका ।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण भगवान् (विष्णुजी) प्रलयकाल में समस्त प्राणियों का संहार करने के बाद उन सबको अपनी कुक्षि में स्थापित करके क्षीरसागर

में सो जाते हैं। ऐसा पुराणों में वर्णन है। गीता नवें अध्याय के सातवें श्लोक में भी कहा है—

'सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥'गीता ९।७ इति।

कैटभ राक्षस के विषय में पौराणिक कथा इस प्रकार है—एक बार विष्णु भगवान् के कान में मैल से मधु तथा कैटभ नाम के दो राक्षस उत्पन्न हुए। अपने बल के मद से चूर हुए उन दोनों ने विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में रहने वाले ब्रह्मा को मारने की धमकी दी। उनके डर से भयभीत हुए ब्रह्मा ने क्षीर-सागर में सोये हुए विष्णु भगवान् को जगाया। तब विष्णु भगवान् ने उन दोनों के साथ पाँच हजार वर्ष तक युद्ध करने के बाद अपने सुदर्शन चक्र से उन दोनों राक्षसों की गर्दनें काटकर मार डाला। उस मधु तथा कैटभ की मेदा से पृथिवी बनी। इसीलिये पृथिवी का नाम मेदिनी पड़ा ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णस्य पुण्डरीकाक्षसंज्ञाया सार्थकतामाह—

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—निदाघधामानम् इव अधिदीधितिं मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् सः पुण्डरीकाक्षः इति स्फुटः अभवत्।

बालबोधिनी—निदाघधामानम् = उष्णकिरणम्, सूर्यम्। इव = यथा। अधिदीधितिम् = अधिकतेजसम्, प्रचण्डमहसम्। मुनिं = नारदम्। अभि = लक्ष्यीकृत्य। मुदा = हर्षेण। विकासं = विकचत्वम्, विस्तारम्। उपेयुषी = प्राप्तवती, प्राप्ते। अधिश्रितश्रिणी = प्राप्तशोभे। विलोचने = नेत्रे। बिभ्रत् = दधानः। सः = श्रीकृष्णः। पुण्डरीकाक्षः = पुण्डरीकाक्षनामा, पुण्डरीकाक्षाभिधानः। स्फुटः = प्रकटः, स्पष्टम्। अभवत् = बभूव। 'बिभ्रत्' इत्ययमर्थः, 'पुण्डरीकाक्षोऽभवत्' इत्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। स च 'निदाघधामानमिव' इत्युपमाश्रितोऽत एवोभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमः तपः' इत्यमरः। 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः। 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हैमः।

समासः—नितरां दह्यते अनेनेति निदाघम्, निदाघं (उष्णम्) धाम (रश्मिः) यस्यासौ निदाघधामा, तम् निदाघधामानम् (ब० व्री०)। अधि

अधिका दीधितिर्यस्य सः, तम् अधिदीधितिम् (ब० व्री०)। अधिश्रिता श्रीः याभ्यां ते अधिश्रितश्रिणी (ब० व्री०)। पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्यासौ पुण्डरीकाक्षः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—निदाघम्–नि + दह + घञ्। विकासम् = वि + कस् + घञ्। उपेयुषी—उप् + इण् + लिट् + लिटः स्थाने क्वसु-प्रत्ययः। बिभ्रत्—भृञ् + कर्तरि शतृ।

हिन्दी—सूर्य के समान परमतेजस्वी मुनि नारदजी को लक्ष्य करके हर्ष से विकसित, शोभायमान नेत्रों को धारण करते हुए श्रीकृष्णजी 'पुण्डरीकाक्ष' इस सार्थक नाम वाले स्पष्ट रूप से हो गये।

टिप्पणी—एक बार शिवजी के ऊपर एक सहस्र कमल चढ़ाते समय एक कमल कम पड़ गया तो विष्णु भगवान् ने अपना नेत्र ही कमल के स्थान पर अर्पण कर दिया। तभी से विष्णु का नाम 'पुण्डरीकाक्ष' अर्थात् कमल-नयन पड़ गया ॥ २४ ॥

अथ श्रीकृष्णो नारदमवोचदित्याह—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥ २५ ॥

अन्वयः—अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः सितं मुनेः वपुः सौधमिव सुतरां सितिम्ना लम्भयन् शुचिस्मितां वाचम् अवोचत्।

बालबोधिनी—अथ = नारदश्रीकृष्णयोरुपवेशनानन्तरम्। अच्युतः = श्रीकृष्णः। विसारिभिः = प्रसरणशीलैः। द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः = दन्तपङ्क्तिछद्मचन्द्रमयूखैः, दन्तसमूहकपटचन्द्रकिरणैः। क्वचिद् 'द्विजावली' इति दीर्घेकारान्तपाठोऽपि दृश्यते। सितं=शुभ्रम्, स्वभावशुक्लम्। मुनेः=नारदस्य। वपुः = शरीरम्। सौधम् = राजसदनम्। इव = यथा। सुतरां=अत्यन्तम्, नितराम्। सितिम्ना=शौक्ल्येन, शुभ्रत्वेन। लम्भयन् = प्रापयन्। शुचिस्मितां = ईषद्धास्ययुक्ताम्। वाचं = वाणीम्। अवोचत् = उवाच। अत्र 'सौधमिव' इत्युपमा। 'सितिम्ना लम्भयन्' इति असम्बन्धे सम्बन्धवर्णनरूपातिशयोक्तिः। द्विजावलिव्याजशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनात्कैतवापह्नुतीनां परस्परं नैरपेक्ष्येण समावेशात् तिलतण्डुलन्यायेन पार्थक्येन प्रतीतेश्च संसृष्टिरलङ्कारः। यथा साहित्यदर्पणे—'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति।

कोशः—'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इत्यमरः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः' इत्यमरः। 'अवदातः सितः' इत्यमरः।

समासः—अभीक्ष्णं विसरन्तीति विसारिणः, तैः विसारिभिः। द्विजानाम् अवलिः द्विजावलिः (त० पु०), सैव व्याजः यस्य सः द्विजावलिव्याजः (ब० व्री०), स चासौ निशाकरश्च द्विजावलिव्याजनिशाकरः, तस्य अंशवस्तैः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः (क० त०)। शुचि स्मितं यस्याः सा, तां शुचिस्मिताम् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विसारिभिः—वि+सृ+'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) इति णिनिः। सितिम्ना—सित+इमनिच्+टा।

हिन्दी—इसके बाद श्रीकृष्णजी फैलती हुई, अपनी दन्तपंक्ति के बहाने से चन्द्रमा की किरणों के द्वारा (स्वभावतः) शुभ्र मुनि नारदजी के शरीर को चूने से लिप्त राजमहल के समान अत्यन्त शुभ्र करते हुए कुछ मुसकान(हास्य)-युक्त वचन बोले ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णकृतां नारदप्रशंसामाह—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भवदीयदर्शनं शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यतां व्यनक्ति। सम्प्रति अघं हरति। एष्यतः शुभस्य हेतुः पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम्।

बालबोधिनी—भवदीयदर्शनं=श्रीमतां तत्रभवतां भवतां दर्शनम्, त्वदीयावलोकनम्। शरीरभाजां=शरीरिणाम्, प्राणिनाम्। कालत्रितयेऽपि=भूतादिकालत्रयेऽपि। योग्यतां=अर्हताम्, धन्यताम्, पवित्रताम्। व्यनक्ति=प्रकटयति, गमयति, बोधयति। सम्प्रति=इदानीम्, दर्शनकाले। अघं=पापम्। हरति=अपसारयति, विनाशयति। किं च—एष्यतः=भाविनः। शुभस्य=कल्याणस्य, श्रेयसः। हेतुः=कारणम्। किञ्च, पूर्वाचरितैः=पूर्वानुष्ठितैः। शुभैः=सुकृतैः, पुण्यैः। कृतम्=उपनतम्, लब्धम्। अतः एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः। अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरभाजामित्यादिवाक्यार्थे हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति।

कोशः—'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः। 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः। 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रम्' इत्यमरः।

समासः—भवतः इदं भवदीयं, भवदीयं च तद् दर्शनं च भवदीयदर्शनम् (क० त०)। शरीरं भजन्ति ये ते शरीरभाजः, तेषां शरीरभाजाम् (त० पु०)। त्रयः अवयवाः यस्य तत् त्रितयम्, कालस्य त्रितयमिति कालत्रितयम्, तस्मिन् कालत्रितये। योग्नुमर्हः योग्यः, तस्य भावः योग्यता, तां योग्यताम्। पूर्वम् आचरितानि पूर्वाचरितानि, तैः पूर्वाचरितैः।

व्याकरणम्—एष्यतः—इण्+लट्+लटः स्थाने शतृ। शरीरभाजाम्—शरीर+भज् 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति ण्विः। व्यनक्ति—वि+अञ्ज+लट्—तिप्। त्रितये—त्रि+तयप्। आचरितैः-आ+चर्+क्तः।

हिन्दी-आपका दर्शन तीनों कालों में शरीरधारियों की पवित्रता (योग्यता) को प्रकट करता है। (क्योंकि) वर्तमान समय में पाप का नाश करता है, भविष्य में आने वाले कल्याण का हेतु है, (और भूतकाल में) किये हुए पुण्यों द्वारा (यह आपका दर्शन) प्राप्त हुआ है॥ २६॥

नारदस्य सूर्यादाधिक्यं दर्शयति—

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः॥ २७॥

अन्वयः-जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् तमः नियन्तुं न समभावि, अनुत्तमम् अदः तमः असंख्यतां गतैः तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुन्नम्।

बालबोधिनी—जगति=लोके। अपर्याप्तसहस्रभानुना=अपरिच्छिन्नसहस्रकिरणेन। भानुना=सूर्येण। यत् तमः=यदज्ञानरूपं ध्वान्तम्। नियन्तुं=निवारयितुम्, दूरीकर्तुम्। न समभावि=न शेके। अनुत्तमं=नितरां प्रगाढम्, सर्वाधिकम्। अदः=एतद्। तमः=अस्माकं मोहध्वान्तम्, अज्ञानम्। असंख्यतां गतैः=अगण्यतां प्राप्तैः, अनन्तैः। तेजोभिः=स्वप्रभावैः। प्रसह्य=बलात्। त्वया=भवता। नुन्नं=छिन्नम्, निरस्तम्। अतः श्लाघ्यदर्शनीयो भवानिति भावः। अत्रोपमानाद् भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकालङ्कारः।

कोशः—'भानवोऽर्ककरांशवः' इति वैजयन्ती। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः।

समासः—अपर्याप्ता सहस्रं भानवो यस्य, तेन अपर्याप्तसहस्रभानुना (ब० व्री०)। नास्ति उत्तमं यस्मात्तदनुत्तमम्।

व्याकरणम्—नियन्तुम्–नि + यम् + तुमुन्। समभावि—सम् + भू + लुङ् + त। नुन्नम्—नुद् + क्तः।

हिन्दी—संसार में न समाने वाली हजारों किरणों वाले सूर्य के द्वारा जिस अज्ञान रूपी अन्धकार का निवारण नहीं किया जा सका, उसी सर्व शायी अज्ञान रूपी अन्धकार को अपने असंख्य तेजों के द्वारा आपने व नष्ट कर दिया॥ २७॥

नारदस्य श्रुतिनिधित्वं दर्शयति—

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव॥ २८॥

अन्वयः—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वं ध सम्पदाम् इव श्रुतीनां सदा उपयोगे अपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः।

बालबोधिनी—प्रजाक्षेमकृता=जनकल्याणकारिणेति ब्रह्मपक्षेऽर्थः, स्वाप हितैषिणेति पित्रादिपक्षेऽर्थः। सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना=योग्यपुरुषनिक्षे स्वस्थचित्तेन, पक्षे—कटाहादिदृढभाजननिधानस्वस्थचित्तेन। प्रजासृजा=ब्रह्म पक्षे—पुत्रिणा। त्वं=भवान्, नारदः। धनसम्पदां=धनसम्पत्तीनाम्। इव= यथा। श्रुतीनां=वेदानाम्। सदा=सर्वदा। उपयोगेऽपि=अध्ययनाध्यापन उपयोगेऽपि, पक्षे—दानभोगाभ्यां व्ययेऽपि। अक्षयः=नाशरहितः, एकत्राम यादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः। गुरुः=उपदेष्टा, सम्प्रदायप्रवर्तक इति याव अन्यत्र—महान्। निधिः=निक्षेपः, शेवधिः। कृतः=विहितः, संस्थापित सम्प्रदायप्रवर्तकानां धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां द कस्य न श्लाघ्यमिति भावः। अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् श्लेषालङ्कार केचित्। वस्तुतस्तु श्लेषानुप्राणितोपमैवेयमिति दिक्।

कोशः—'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः। 'योग्यभाजनयोः पात्र इत्यमरः। श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः।

समासः—प्रजानां क्षेमं प्रजाक्षेमम्, प्रजाक्षेमं कृतवानिति प्रजाक्षेमकृत्, प्रजाक्षेमकृता (त० पु०)। सुपात्रे निक्षेपः सुपात्रनिक्षेपः, सुपात्रनिक्षेपेण नि कुलः आत्मा यस्य सः, तेन सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना (ब० व्री०)। प्र सृजतीति प्रजासृट्, तेन प्रजासृजा (त० पु०)। निधीयते इति निधिः, निध

वा निधिः । धनानां सम्पदः धनसम्पदः, तासां धनसम्पदाम् (त० पु०) । न विद्यते क्षयो यस्य सः अक्षयः । श्रूयन्ते इति श्रुतयः, तासां श्रुतीनाम् ।

व्याकरणम्—प्रजाक्षेमकृता—प्रजाक्षेम + कृ + क्विप् । प्रजासृजां—प्रजा-सृज् + क्विप् । उपयोगे—उप + युज् + घञ् । निधिः—नि + धा + 'उपसर्गे घोः किः' (३।३।९२) इति किप्रत्ययः । श्रुतीनाम्—श्रु + क्तिन् ।

हिन्दी—जैसे पिता या पितामहादि कोई गृहपति अपनी सन्तान के कल्याण के लिये अक्षय अनन्त धनराशि को किसी सुदृढ़ पात्र कण्डाल, कलसा या सन्दूकादि में रखकर (आपत्तिकाल के लिये उसे भूमि में गाड़कर) निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही प्रजापति ब्रह्माजी भी आपको (वेद-सम्प्रदाय की रक्षा के लिये) अध्ययन-अध्यापन में सदा उपयोग करते रहने पर भी कभी क्षय नहीं होने वाला वेदों का अनन्त निधि बनाकर सदा के लिये निश्चिन्त हो गये ।

श्रीकृष्णो नारदं प्रति मधुरं वक्तुमारभते—

विलोकनेनैव तवामुना मुने ! कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्वहितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ २९ ॥

अन्वयः—मुने ! निर्वहितांहसा अमुना तव विलोकनेन एव कृतार्थः कृतः अस्मि । तथापि अहं गरीयसीः (तव) गिरः शुश्रूषुः अस्मि । अथवा श्रेयसि केन तृप्यते ?

बालबोधिनी—मुने=हे मुनिश्रेष्ठ नारद ! निर्वहितांहसा=निरस्तपापेन, अपहृतकिल्विषेण । अमुना=अनेन, पवित्रतमेन शुभेन चेति भावः । तव=भवतः । विलोकनेन=दर्शनेन । एवेति निश्चये । कृतार्थः=कृतकृत्यः । कृतः=विहितः । अस्मि । तथापि=एवमपि, अथापि, कृतार्थे कृतेऽपीत्यर्थः । अहं=श्रीकृष्णः । गरीयसीः=अर्थवत्तराः, अर्थगुर्वीः । (तव=भवतः ।) गिरः=वाचः । शुश्रूषुः=श्रोतुमिच्छुः । अस्मि । न हि वाचः श्रवणे निष्प्रयोजना मे प्रवृत्तिरित्याह—अथवा=तथाहि । 'अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्धयोः' इति गणव्याख्यानात् । श्रेयसि=कल्याणविषये । केन=केन पुंसा । तृप्यते=सन्तुष्यते ? न केनाऽपि तृप्यते इत्यर्थः । कृतार्थताया इयत्ताऽभावादिति भावः । अत्र 'अथवा श्रेयसि–' इत्यादि-वाक्यार्थः, तथापीत्यादिवाक्यार्थस्य समर्थक इति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं कुवलयानन्दे—'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' इति ।

कोशः—'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः । 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः ।

समासः—निर्ह्रितं अंहो येन तत् निर्ह्रितांहः, तेन निर्ह्रितांहसा (ब० व्री०)। कृतः अर्थः यस्य येन वा कृतार्थः (ब० व्री०)। श्रोतुमिच्छुः शुश्रूषुः अतिशयेन गुर्व्यः गरीयस्यः, ताः गरीयसीः।

व्याकरणम्—विलोकनेन—वि + लोक् + ल्युट्। शुश्रूषुः—श्रु + सन् + उ। गरीयसीः—गुरु + ईयसुन् + ङीप्, गुरुशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इति गुरोर्गरादेशः। 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्।

हिन्दी—हे मुनि नारदजी ! पापों को दूर करने वाले आपके इस दर्शन से ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, तो भी आपकी अत्यन्त श्रेष्ठ वाणी को सुनना चाहता हूँ। क्योंकि कल्याण के विषय में कौन तृप्त होता है ? ॥ २९ ॥

एवं मधुरमुक्त्वा श्रीकृष्णः नारदागमनप्रयोजनं विनयेन पृच्छति—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—गतस्पृहः अपि आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया व्यवसीयते उदितात्मगौरवः गुरुः एष तव आगमः एव नः तां धृष्टतां तनोति।

बालबोधिनी—गतस्पृहः = निःस्पृहः, विरक्तः, विगततृष्णः। अपि (त्वम्) आगमनप्रयोजनं = आगमनकारणम्। वद = ब्रूहि। इति = इत्थम्, इत्येवम्। वक्तुम् = कथयितुम्, निगदितुम्। यया = धृष्टतया। व्यवसीयते = उद्यम्यते। उदितात्मगौरवः = प्रकटितनिजमाहात्म्यः। अत्र 'उदितात्मगौरवः' इत्यस्य आगमविशेषणत्वात् 'आत्म'-शब्दोऽपि तस्यैव वाचकः। गुरुः = महान्, श्लाघ्यः। एषः = अयम्। तव = भवतः। आगमः = आगमनम्। नः = अस्माकम्। ताम् आगमनप्रश्नरूपाम्। धृष्टतां = धाष्टर्चम्। तनोति = विस्तारयति। गौ... 'भवन्तमागमनप्रयोजनं पृच्छामि' इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणोदित इति पर्यायोक्तालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति।

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ महति दुर्भरे' इति धरणिः। 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः।

समासः—गता स्पृहा यस्याऽसौ गतस्पृहः (ब० व्री०)। आगमनस्य प्रयोजनं तत आगमनप्रयोजनम् (त० पु०)। गुरोर्भावः कर्म वा गौरवम्, आत्मनः गौरवम् आत्मगौरवम्, उदितम् आत्मगौरवं येनाऽसौ उदितात्मगौरवः (ब० व्री०)

व्याकरणम्—व्यवसीयते—वि + अव + सि + लट्—त। तनोति-तनु + श्नु—तिप्। धृष्टता—धृष्ट + तल् 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) इति।

हिन्दी—(श्रीकृष्ण भगवान् विनयपूर्वक नारदजी से आने का कारण पूछते हैं—) 'निःस्पृह रहते हुए भी आप (अपने) आने का कारण बताएँ ?' यह कहने के लिए जो धृष्टता मुझे उद्यत कर रही है, मेरी उस धृष्टता को, अपने महत्त्व को प्रकट करने वाला आपका यह (महत्त्वपूर्ण) आगमन ही बढ़ा रहा है।

टिप्पणी—उदितात्मगौरवः—इस शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने तथा उनका अनुकरण करने वाले आधुनिक प्रायः सभी टीकाकारों ने इस प्रकार किया है— उदितम् = उत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो=मम गौरवं येन सः' अर्थात् अभिहितमदीय-माहात्म्यः, उत्पन्नमदीयो गौरव इति वा-जिसने मेरे गौरव को प्रकट कर दिया या बढ़ा दिया है, वह आपका आगमन। वस्तुतः यह अर्थ अनुचित तथा क्लिष्टकल्पनापूर्ण है, क्योंकि 'उदितात्मगौरवः' यह शब्द 'आगमः' का विशेषण और यह बात मल्लिनाथ तथा अन्य सभी को भी अभिमत है। अतः इस में 'आत्म' शब्द भी 'आगम' के लिए ही आया है। अर्थ इस प्रकार होगा- उदितं = कथितम्, आत्मनः=स्वस्य, गौरवं = माहात्म्यम्, येन सः' अर्थात्; जिसने अपने गौरव को प्रकाशित किया है, इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण आपका आगमन ॥ ३० ॥

नारदस्य श्रीकृष्णं प्रत्युत्तरमाह—

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

अन्वयः—इति ब्रुवन्तं तं स व्रती उवाच—पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थं न वाच्यम्। योगिनाम् अपि त्वम् एव साक्षात्करणीयः, इत्यतः गुरु कार्यं किमस्ति।

बालबोधिनी—इति = इत्थम्। ब्रुवन्तं = कथयन्तम्। तं = श्रीकृष्णम्। सः = ब्रह्मणो मानसपुत्रः। व्रती = मुनिर्नारदः। उवाच=जगाद। हे पुरुषोत्तम= नरोत्तम ! त्वया=भवता। इत्थम्=ईदृक् 'गतस्पृहोऽपि' इत्यादिः। न वाच्यं= कथनीयम्। निःस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः। तदेवाह—योगिनां =समाहितचेतसाम्। अपि त्वं = भवान्। एवेति निश्चये। साक्षात्करणीयः= प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः। इति=अतो हेतोः। अतः = अस्माद् भवद्-दर्शनादन्यत्। गुरु =महत्, श्रेष्ठम्, अधिकम्। कार्यं = करणीयम्, प्रयोजनम्। किमस्ति = किं विद्यते। नैव किञ्चिदित्याशयः।

कोशः—'गुरुर्महत्यङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके। अलघौ दुर्जरे चा...
इति हैमः।

समासः—व्रतमस्यास्तीति व्रती। पुरि=देहे शेते इति पुरुषः, पु...
उत्तमः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम! (त० पु०)। असाक्षात् सा...
अवश्यं कर्त्तव्य इति साक्षात्करणीयः। योगोऽस्यास्तीति योगी।

व्याकरणम्—ब्रुवन्तम्—ब्रू+शतृ। व्रती—व्रत+इनिः। वाच्यम्-
वच्+ण्यत्। साक्षात्करणीयः—साक्षात्+कृ+अनीयर्। योगिनाम्-
योग+इनिः।

हिन्दी—इस प्रकार कहते हुए उन श्रीकृष्ण भगवान् से मुनि नार...
बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि) योगियों...
भी आप ही साक्षात् करने योग्य हैं, इसलिए इस (आपके दर्शन) से ...
कार्य और क्या हो सकता है? (अतः आपके दर्शन के लिए ही मेरा ...
आगमन हुआ है।)

टिप्पणी—**योगिनाम्**—योगियों का। संसार के समस्त विषयों से चि...
वृत्तियों को हटाकर आत्म-स्वरूप में स्थिर करना योग कहलाता है। जैसा...
योगदर्शन में पतञ्जलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', तथा 'तदा द्र...
स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगदर्शन पाद १, सू० २, ३)। उस योग की साक्ष...
करने वालों को योगी कहते हैं॥ ३१॥

योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति यदुक्तं तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूर्मिनिरपायसंश्रया॥ ३२॥

अन्वयः—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदु...
मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वं निरपायसंश्रया अग्रभूमिः (असि)।

बालबोधिनी—उदीर्णरागप्रतिरोधकं=प्रवृद्धविषयाभिलाषनिवारकम्। का...
...रपक्षे—मोहान्धचौरादिविरोधिगणसङ्कुलम्। अभीक्ष्णं=मुहुर्मुहुः, निरन्त...
अक्षुण्णतया=अनभ्यस्तत्वेन, कान्तारपक्षे—अपरिचितत्वेन, अप्रतिहतत्वेन ...
जनैः=मुमुक्षुभिः, कान्तारपक्षे—पान्थलोकैः। अतिदुर्गमं=अतिगहनम्, ...
...शक्यम्, कान्तारपक्षे—अतिदुस्तरम्, दुर्लङ्घ्यं च। मोक्षपथं=अपवर्गमा...
पक्षे—कान्तारं च। उपेयुषः=परिशीलयतः, प्राप्तवतश्च। मनस्विनः=आ...
चिन्तापरायणस्य, प्रशस्तमनसः, कान्तारपक्षे—उत्साहवतः, धीरस्य च। त्वं...

वानेव। निरपायसंश्रया=पुनरावृत्तिरहितप्राप्तिः। 'न स पुनरावर्तते' इति
तेः। कान्तारपक्षे—सकलभयविवर्जितप्राप्तिः। अग्रभूमिः=प्राप्यस्थानम्।
सीति शेषः। तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात् करणीय इति भावः। यथा
स्यचित् कुतश्चित् सङ्कटान्निर्गतस्य केनचित् कान्तारेण गतस्य किञ्चिन्निर्बाध-
थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति मल्लिनाथः। मतान्तरे
त्र प्रकृतयोर्मुमुक्षुश्रीकृष्णयोः प्रतिपादकेनाऽनेन वाक्येन 'उदीर्णरागादिश्लिष्ट-
वशेषणैश्चौरादिभयसन्तप्तपान्थतत्प्राप्यस्थानयोरप्रकृतयोरर्थयोः प्रतीतिर्भवति,
वशेष्यं च 'त्वम्' न श्लिष्टमिति समासोक्तिरलङ्कारः। यदुक्तं काव्यप्रकाशे—
परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः'। इति।

कोशः—'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः। 'अग्रमाल-
वने प्राप्ये' इति विश्वः।

समासः—उदीर्णश्चासौ रागश्च उदीर्णरागः, उदीर्णराग एव प्रतिरोधको
स्मिन्नसौ उदीर्णरागप्रतिरोधः, तम् उदीर्णरागप्रतिरोधकम् (कर्म० गर्भ
० व्री०), अन्यत्र-उदीर्णो रागो यस्याऽसौ उदीर्णरागः=चौरादिः, स एव
तिरोधको यस्मिन्नसौ उदीर्णरागप्रतिरोधकः, तम्. (ब० व्री०)। दुःखेन
म्यते इति दुर्गमः, अतिशयितो दुर्गमः अतिदुर्गमः, तम् अतिदुर्गमम्। मोक्षस्य
न्थाः मोक्षपथः, तं मोक्षपथम् (त० पु०)। निर्गतः अपायः यस्मात् सः
निरपायः, निरपायः संश्रयो यस्याः सा निरपायसंश्रया (ब० व्री०)। अग्रे
भूमिः अग्रभूमिः।

व्याकरणम्—अतिदुर्गमम्—अति+दुर्+गम्+खल्। मनस्विनः—मनस्
+विनिः। मोक्षपथम्—मोक्ष+पथिन् 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' (५।४।७४)
इति समासान्तः अप्रत्ययः। उपेयुषः—उप्+इण्+लिट् 'उपेयिवानाश्वाननू-
चानश्च' (३।१।१०९) इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपात्यते।

हिन्दी—बढ़ा हुआ सांसारिक विषयों का अनुराग ही जिसमें बाधक है
तथा जो लोगों से अनभ्यस्त होने से अत्यन्त दुर्गम है, उस मोक्षमार्ग को पाये
हुए मोक्षार्थी पुरुष के लिए आप ही पुनरावृत्तिरहित (जन्म-मरणरूप सांसारिक
दुःखों से रहित) प्राप्तव्य स्थान है।

पक्षान्तर—जिसमें बढ़े हुए सांसारिक राग वाला चोर है तथा जो लोगों
से अधिक यातायात नहीं होने से अत्यन्त दुर्लङ्घ्य है, उस भीषण वनमार्ग को
प्राप्त हुए धीर पुरुष के लिए जैसे कोई निर्बाध हमेशा रहने योग्य स्थान ही

प्राप्तव्य होता है। अर्थात् जैसे चोर-डाकुओं से भरे हुए वीहड़ जंगल में जा हुआ पथिक अपने गन्तव्य (सभी सुख-साधनों से परिपूर्ण) भयरहित आश्र स्थान पर पहुँचकर निश्चिन्त हो जाता है और फिर आनन्दपूर्वक उसी स्था पर रहता है, उसी तरह गहन, दुर्गम तथा काम, क्रोध आदि विघ्नों से भ हुए मोक्षमार्ग पर चलने वाले योगियों के लिए आप ही प्राप्तव्य परम पद हैं।

ननु सांख्यशास्त्रोक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नाऽस्मत्साक्षात्कारादित्य शङ्कयाह—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—पुराविदः त्वां निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीत उदासितारं बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथक् पुरातनं पुरुषं त्वां विदुः ।

बालबोधिनी—पुराविदः = पूर्वज्ञाः, पुराणतत्त्वविदः कपिलादयो मुनयः त्वां = भवन्तम् । निगृहीतमानसैः = संयतचित्तैर्योगिभिः । अध्यात्मदृशा = प्रत्यग् दृष्ट्या, अन्तर्दृशा । कथञ्चन = महाप्रयासेन । गृहीतं = साक्षात्कृतम् । उदासि तारम् = उदासीनम्, प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयं तद्भिन्नत्वादस्पष्टमित्यर्थः । बहिर्विकारं = महदादिप्रकृतिविकारभिन्नम् । प्रकृतेः = प्रधानात्, त्रिगुणात्मि कायाः कारणरूपायाः मूलप्रकृतेः । पृथक् = भिन्नम् । पुरातनं = पुराणम्, अना दिम्, सनातनम् । पुरुषं = पुरुषपदवाच्यम्, विज्ञानघनम् । विदुः = विदन्ति जानन्ति । तथा सांख्यकारिकायाम्—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' का० ३ ॥ इति

कोशः—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । 'प्रकृति पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः ।

समासः—निगृहीतं मानसं यैस्तैः निगृहीतमानसैः (ब० व्री०) । पुरा (पूर्व कालं, पुरावृत्तम्) विदन्तीति पुराविदः । आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम्, विभक्त्य र्थेऽव्ययीभावः । अध्यात्मं या दृक् सा अध्यात्मदृक्, तया अध्यात्मदृशा विकारेभ्यो बहिरिति बहिर्विकारम् (अव्ययीभावः) । पुरा भवः पुरातनः, पुरातनम् ।

व्याकरणम्—पुराविदः—पुरा + विद् + क्विप् । पुरातनम्—पुराशब्दात् 'सायंचिरम्०' (४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययः । तुडागमश्च । विदुः—विद् + लट् + झि 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति झेरुसादेशः ।

हिन्दी—पूर्वकालिक (प्राचीन) वृत्त को जानने वाले (कपिल तथा सनत्कुमारादि महामुनि) आपको, मन को वश में करने वाले योगियों के द्वारा अध्यात्म दृष्टि से किसी तरह साक्षात् किया हुआ, क्रियाशून्य, प्रकृति के महदादि तेईस विकारों से विलक्षण तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से भी भिन्न अनादि पुरुष जानते हैं।

टिप्पणी—कवि ने इस श्लोक में सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र का रहस्य भर दिया है। यहाँ पर मुख्य रूप से सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल के लिये यह 'पुराविदः' शब्द आया है, जिसका अर्थ है—पूर्व सृष्टियों के विषय में जानने वाला। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' इति (५।१)।

साङ्ख्यशास्त्र में चार प्रकार के पदार्थ माने गये हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति, (४) पुरुष।

१. प्रकृति—सत्त्व, रजः, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यह सबका आदिकारण है और यह नित्य है। यह स्वयं किसी से पैदा नहीं होती है और उससे महान् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात् प्रकृति कारण तो है पर कार्य किसी का नहीं है, इसीलिये इसका नाम प्रकृति है।

२. प्रकृति-विकृति—बुद्धि (महान्), अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) ये सात पदार्थ प्रकृति तथा विकृति उभयात्मक हैं, अर्थात् ये कारण भी हैं और कार्य भी। बुद्धि तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होता है। अतः वह प्रकृति का कार्य है, बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है, इसलिये बुद्धि अहङ्कार का कारण है। अहङ्कार बुद्धि से उत्पन्न होता है, अतः वह बुद्धि का कार्य है। यह अहङ्कार एकादश इन्द्रियों और पञ्च तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, अतः वह कारण है। पञ्च तन्मात्राएँ—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—ये अहङ्कार से उत्पन्न होती है, अतः ये अहङ्कार के कार्य हैं तथा क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को उत्पन्न करती हैं, अतः ये कारण हैं।

३. विकृति—पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) तथा एकादश इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाणि, पाद, वाक् (वाणी), मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन) ये १६ तत्त्व केवल विकृति अर्थात् कार्य हैं, क्योंकि ये अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं, कारण किसी के नहीं हैं क्योंकि इनके कोई तत्त्व पैदा नहीं होता है।

४. पुरुष—यह न प्रकृति है और न विकृति तथा उभयात्मक भी नहीं है। वह तो इन सबसे विलक्षण नित्य शुद्ध-बुद्ध-चेतन-उदासीन पुरुष है।

यहाँ पर कृष्ण को ही पुराणपुरुष माना गया है तथा नारद को योगी।

निगृहीतमानसैः—मन को वश में करने वाले योगियों के द्वारा। परमात्मा का साक्षात्कार तभी होता है जब कि चित्त की वृत्तियों को रोक कर मन को एकाग्र कर लिया जाय॥ ३३॥

भगवतः श्रीकृष्णस्य सांख्यदर्शनेन निष्क्रियत्वं निर्गुणत्वं च प्रतिपाद्य सम्प्रति प्रकृतोपयोगितया पाञ्चरात्रदर्शनेन सगुणत्वं कर्तृत्वं चाश्रित्य षड्भिः श्लोकैः स्तौति। प्रथमं वराहरूपेण तस्य धरोद्धरणमाह—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम्॥ ३४॥

अन्वयः—जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वं हेलया उद्धृतं फणाभृताम् ओकसः एकं छादनं भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ।

बालबोधिनी—जगत्त्रयैकस्थपतिः = त्रैलोक्याधिपतिः, पक्षान्तरे—त्रैलोक्य-शिल्पी च। त्वं = भवान्। हेलया = लीलया। उद्धृतं=उत्थापितं, वराहावतारे समुद्धृतम्। क्वचिद् हेलयोद्वृतमिति पाठान्तरम्, तत्र उद्वृतमित्यस्य चलित-मित्यर्थः, भूतलमित्यस्य विशेषणमिदम्। फणाभृतां = सर्पाणाम्। ओकसः= आश्रयस्य पातालरूपस्य, पक्षान्तरे—सद्मनश्च। एकं = मुख्यम्, प्रधानम्। छादनं= आवरणम्। भूतलं = भूवलयम्, पृथिवीतलम्। उच्चकैः = उन्नतेषु। अहीश्वर-स्तम्भशिरःसु = सर्पाधिपतिशेषशिरोरूपस्तम्भाग्रभागेषु, शेषफणासहस्रेषु। निवे-शयामासिथ = निवेषितवानसि, नियोजितवानसि। अत्र एकस्थपतिः एकस्वामी एवाद्वितीयशिल्पीत्यारोपो पृथिव्याश्छादनत्वारोपे, फणाभृतामोकसः (पातालस्य) गृहत्वारोपे, शेषस्य स्तम्भत्वारोपे च निमित्तमिति श्लेषपरम्परितरूपकमलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्। तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिवन्धनम्' इति।

कोशः—'स्थपतिश्चाधिपे तीक्ष्णे वृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती। 'ओकः सद्मनि चाश्रये' इति विश्वः।

समासः—त्रयः अवयवाः अस्येति त्रयम्, जगतां त्रयमिति जगत्त्रयम्, एक-श्चासौ स्थपतिश्च एकस्थपतिः, जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः जगत्त्रयैकस्थपतिः। फणाः

विभ्रतीति फणाभृतः, तेषां फणाभृताम् । ईष्टे इति ईश्वरः । अहीनाम् ईश्वरः अहीश्वरः, अहीश्वर एव स्तम्भः, तस्य शिरांसि, तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु । वस्तुतस्तु स्तम्भा इव शिरांसि स्तम्भरूपाणि वा शिरांसि स्तम्भशिरांसि, अहीश्वरस्य स्तम्भशिरांसि अहीश्वरस्तम्भशिरांसि, तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु ।

व्याकरणम्—उद्धृतम्—उद् + धृ + क्तः । छादनम्—छाद् + णिच् + ल्युट् । निवेशयामासिथ—नि + विश् + णिच् + लिट्—थल् 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगः ।

हिन्दी—तीनों लोकों के अद्वितीय कारीगर रूपी एक स्वामी आपने अनायास उठाये हुए सर्पों के घर रूपी आश्रय (पाताल) के एक (छादन) छप्पर रूपी भूतल को स्तम्भ रूपी शेषनाग के अग्रभाग रूपी सिरों पर रख दिया था ।

जिस प्रकार बढ़ई आदि कोई कारीगर मकान के आवरण (छप्पर या टीन आदि) को सरलतापूर्वक उठाकर उसे ऊँचे खम्भों पर रख देता है, उसी प्रकार तीनों लोकों के स्वामी आपने वराह रूप धारण कर अपने दाँतों पर अनायास उठाये हुए पाताललोक के छप्पर रूप इस भूतल को शेषनाग के सिरों के ऊपर रख दिया था ।

टिप्पणी—यहाँ भगवान् के वराहावतार के विषय में पौराणिक कथा इस प्रकार है—जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने अपने बल के गर्व में चूर होकर इस पृथिवी को समुद्र के भीतर गहराई तक धँसा दिया तो विष्णु भगवान् ने पृथिवी के उद्धार के लिये वराह का रूप धारण करके समुद्र के भीतर धँसती हुई पृथिवी को अपने दाँतों पर रोककर एक हजार वर्ष तक उस दैत्य से निरन्तर युद्ध करते हुए उसे मार डाला ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णस्य अपूर्वं महिमानं दर्शयति—

अनन्यगुर्वास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते ।
मनुष्यजन्माऽपि सुराऽसुरान् गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अनन्यगुर्वाः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते ? मनुष्यजन्मा अपि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुराऽसुरान् अधःकरोति ।

बालबोधिनी—अनन्यगुर्वाः=अनितरश्रेष्ठायाः, सर्वोत्तमायाः । 'अनन्यगुर्व्याः' इति पाठान्तरम्, अर्थे तु न विशेषः । तव=भवतः । पुराणमूर्तेः=पुरातनस्वरूपस्य, दिव्यस्य वपुषः । । केवलः=कृत्स्नः, अशेषः । महिमा=माहात्म्यम् ।

केन=पुरुषेण । अवगम्यते=ज्ञायते । न केनाऽपि तत्त्वतो भवतो महिमा ज्ञायते इत्यर्थः । मनुष्यजन्माऽपि=मानवशरीरधारी अपि । भवान्=त्वम् । भवच्छेदकरैः =संसारनिवर्तकैः, भवबन्धनकर्तनपटुभिः । 'भवोच्छेदकरैः' इति पाठे संसारोच्छेदकारिभिरित्यर्थः । गुणैः=ज्ञानैश्वर्यादिभिः, दयादाक्षिण्यादिभिश्च गुणैः । सुरासुरान्=देवासुरान् । अधःकरोति=तिरस्करोति । अत्रोत्तरार्धे 'सुरा सुरा' 'भव' 'भव', 'करै करो' इत्यादिषु व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा' इति ।

कोशः—'केवलः कृत्स्नः एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः ।

समासः—न विद्यते अन्यो गुरुर्यस्याः सा अनन्यगुरुः, तस्याः अनन्यगुर्वाः (ब० व्री०) । पुराणश्चासौ मूर्तिश्च पुराणमूर्तिः, तस्याः पुराणमूर्तेः (कर्मधारयः) । मनुष्यात् जन्म यस्य सः मनुष्यजन्मा (व्यधिकरणबहुव्रीहिः) । भवस्य छेदः भवच्छेदः, भवच्छेदं कुर्वन्तीति भवच्छेदकराः, तैः भवच्छेदकरैः (त० पु०) । सुराश्च असुराश्च सुरासुराः, तान् सुरासुरान् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—महिमा–महत्+इमनिच् । अवगम्यते–अव+गम्+लट्+त+यक् ।

हिन्दी—सबसे श्रेष्ठ दिव्य शरीर वाले आपकी सम्पूर्ण महिमा को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता । (क्योंकि इस) मनुष्य जन्म वाले भी आप जन्म-मरण रूप संसार का विनाश करने वाले (अपने ज्ञानादि) गुणों से देवताओं तथा दानवों को (भी) तिरस्कृत कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णस्य भूभारापहारकत्वमाह—

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः ।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥ ३६ ॥

अन्वयः—त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमूं लघूकरिष्यन् त्रिदिवात् अवातरः किल साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेतराम् ।

बालबोधिनी—त्वं=भवान् । अतिभारभङ्गुरां=भारातिशयभज्यमानाम्, अतिभारेण स्वयमेव भज्यमानाम् । अमूं=धरित्रीम् । लघूकरिष्यन्=निर्भारां करिष्यन्, व्यपगतभारां विधास्यन् । त्रिदिवात्=स्वर्गात् । अवातरः=अवतीर्णोऽसि । साम्प्रतं=इदानीम् । उदूढलोकत्रितयेन=धारितभुवनत्रयेण । त्वया=भवता, श्रीकृष्णेन । धरित्री=पृथिवी । गुरुः=भाराक्रान्ता, पूज्या च क्रियते-

तराम्=अतिशयेन क्रियते, विशेषतो विधीयते। अत्र यो लघुकर्ता स गुरुकर्ता कथमिति विरोधः समापतति, स च 'गौरववर्द्धकः' इत्यर्थकरणेन समाधीयते इति विरोधाभासोऽलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति।

कोशः—'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः। 'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः।

समासः—अतिशयितो भारः अतिभारः, तेन भङ्गुरा, ताम् अतिभारभङ्गुराम् (त० पु०)। लोकानां त्रितयमिति लोकत्रितयम्, उदूढं लोकत्रितयं येन सः, तेन उदूढलोकत्रितयेन (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—लघूकरिष्यन्—लघु+च्वि+कृ+लिट्+शतृ 'कृभ्वस्ति०' (५।४।५०) इत्यादिना च्विप्रत्ययः, 'च्वौ च' (७।४।२६) इति दीर्घः। अवातरः—अव+तृ+लङ्—सिप्।

हिन्दी—वस्तुतः आप (दुष्टों के) अत्यन्त भार से छिन्न-भिन्न होती हुई इस पृथिवी को हलका (भाररहित) बनाने के लिये स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं। (परन्तु) इस समय (अपनी कुक्षि में) तीनों लोकों को धारण करने वाले आपके द्वारा यह पृथिवी और भी भारी (बोझिल, पक्षान्तर में—पूज्य) बनाई गई हैं।

टिप्पणी—'यहाँ जो पृथ्वी का भार उतारने के लिये पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ है वह अपने भार से पृथिवी को और भी भारी बना रहा है' यह कैसे हो सकता है ? यह विरोध प्रतीत होता है। अतः 'त्रिलोकीनाथ ! आप अपने अवतार लेने से पृथिवी को पूज्य बना रहे हैं' यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णस्य महीतलावतीर्णत्वेन दर्शनविषयत्वं दर्शयति—

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—निजौजसा जगद्द्रुहाम् उज्जासयितुं महीतलं न उपाजिहीथाः यदि ततः समाहितैः अपि अनिरूपितः त्वम् ईश ! मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ?

बालबोधिनी—निजौजसा=स्वतेजसा। जगद्द्रुहां=लोकपीडकानाम्, जगद्विद्वेषिणां कंसादीनाम्। उज्जासयितुं=हिंसितुम्, मारयितुम्। महीतलं=पृथिवी-

तलम् । न उपाजिहीथाः=नावतरेः । यदि=चेत् । ततः=तर्हि । समाहितैः= समाधिनिष्ठैः, योगिभिः । अपि । अनिरूपितः=अनवलोकितः, अगृहीतः । त्वं= भवान् । ईश=हे स्वामिन् ! मादृशां=मत्सदृशानां चर्मचक्षुषाम् । दृशः=द्रष्टेः। पदं=गोचरः । कथं=केन प्रकारेण । स्याः=भवेः ? न कथञ्चिदपीत्यर्थः ।

कोशः—'ओजो दीप्तावववष्टम्भे प्रकाशवलयोरपि' इति मेदिनी ।

समासः—जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः, तेषां जगद्द्रुहाम् (त० पु०) । निजं च तदोजश्चेति निजौजः, तेन निजौजसा (क० त०) । मह्यास्तलं महीतलम् (त० पु०) । अहमिव पश्यन्तीति मादृशाः, तेषां मादृशाम् ।

व्याकरणम्—जगद्द्रुहाम्—'सत्सूद्विष०' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' (२।३।५४) इति कर्मणि शेषे षष्ठी । उज्जासयितुम्—उद्+जस्+स्वार्थे णिच्+तुमुन् । उपाजिहीथाः–उप+हा +लङ्—थास् ।

हिन्दी—यदि आप अपने प्रताप से संसार से द्वेष रखने वाले कंसादिकों को मारने के लिये इस पृथिवी पर अवतार नहीं लेते तो हे प्रभो ! योगियों से भी अगम्य आप मुझ जैसे चर्मचक्षु लोगों के दृष्टिगोचर कैसे होते ? ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्णस्य जगत्पालनसामर्थ्यमाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—विश्वम्भर ! मदोद्धतैः उपप्लुतम् अदः विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे । क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः क्षालयितुं रवेः ऋते कः क्षमेत ?

बालबोधिनी—विश्वम्भर=हे जगत्पालक ! हे त्रैलोक्यरक्षक ! मदोद्धतैः= दर्पवृद्धैः । उपप्लुतं=पीडितम् । अदः=इदम्, एतत् । विश्वं=जगत् । पातुं= रक्षितुम् । त्वमेव=भवानेव । ईशिषे=समर्थोऽसि । क्षपातमस्काण्डमलीमसं= निशान्धकारसन्तानमलिनम् । नभः=आकाशम् । क्षालयितुं=विशदीकर्तुम् प्रकाशयितुम् । रवेः=सूर्यात् । ऋते=विना । कः=कः पुरुषः । क्षमेत= शक्नुयात् ? न कोऽपि शक्नुयादित्यर्थः । अत्रैकस्यैव सामान्यधर्मस्य वाक्यद्वये 'ईशिषे' 'क्षमेत' इति द्विधा निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे— 'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः । एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥' इति ।

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इत्यमरः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्ववर्गावसरवारिपु' इत्यमरः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः।

समासः—विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः, तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! मदेन उद्धताः मदोद्धताः, तैः मदोद्धतैः (त० पु०)। तमसः काण्डानि तमस्काण्डानि, क्षपायास्तमस्काण्डानि क्षपातमस्काण्डानि, तैः मलीमसं, तत् क्षपातमस्काण्ड-मलीमसम्।

व्याकरणम्—उपप्लुतम्—उप+प्लु+कर्मणि क्तः। ईशिषे—ईश्+थल् थास्। क्षालयितुम्—क्षल्+णिच्+स्वार्थे तुमुन्। क्षमेत—क्षम्+लिङ्+ई+त।

हिन्दी—हे ज़गत्पालक ! मद से उद्धत कंसादि से पीड़ित इस संसार की रक्षा करने के लिए आप ही समर्थ हैं, क्योंकि रात्रि के अन्धकार-समूह से मलिन आकाश को स्वच्छ करने के लिए सूर्य के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं॥ ३८॥

श्रीकृष्णस्य कंसादितुच्छदानवमारणस्तवनं निन्दैवेति वक्ति—

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया॥ ३९॥

अन्वयः—जनः मृगाणाम् इव कंसादिमहीभृतां वधात् यत् तव स्तवं करोति, हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया (भवति)।

बालबोधिनी—जनः=लोकः। मृगाणां=हरिणानाम्। इव=यथा। कंसादिमहीभृतां=कंसादिनृपाणाम्। वधात्=मारणात्, हननात्। यत्। तव=भवतः। क्वचिद् 'यस्तव' इति पाठान्तरम्, तत्र यः 'जनः' इत्यस्य विशेषणम्। स्तवं=स्तुतिम्। करोति=विदधाति, विरचयति। हरे !=हे कृष्ण, हे सिंहेति च गम्यते। क्वचिद् 'हरेः' इति षष्ठ्यन्तं पदं दृश्यते। तत्र—हरेः=सिंहस्य इवेत्यर्थः। सा=स्तुतिक्रिया। हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः=हिरण्याक्षादि-दानवहस्तिरिपोः। तव=भवतः। प्रत्युत=वैपरीत्येन। तिरस्क्रिया=तिर-स्कारः। भवतीति शेषः। उक्तं च—

'मृगारिं वा मृगेन्द्रं वा द्वयं व्याहरतां सताम्।
तस्य द्वयमपि व्रीडा क्रीडादलितदन्तिनः॥' इति॥

अत्र 'असुरद्विपानाम्' इति 'हरिवद्धरिः' इति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते। उपमा हि रूपकमुपकरोतीति प्रधानम्। रूपकं चोपकार्यमिति अप्रधानम्। अतः द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः। 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्या। 'स्तवं स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः।

समासः—महीं बिभ्रतीति महीभृतः, कंस आदिर्येषां ते कंसादयः, कंसादयश्च ते महीभृतश्च कंसादिमहीभृतः, तेषाम् कंसादिमहीभृताम् (ब० व्री० गर्भ त० पु०)। पुरः सरतीति पुरःसरः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः हिरण्याक्ष एव पुरःसरो येषां ते हिरण्याक्षपुरःसराः (ब० व्री०); ते च असुराश्च हिरण्याक्षपुरःसरासुराः (क० धा०), ते एव द्विपाः हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपाः, तान् द्वेष्टि इति हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विट्, तस्य हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः (त० पु०)।

व्याकरणम्—महीभृतः—मही + भृ + क्विप् + तुक्। तिरस्क्रिया—तिरःपूर्वकात् कृधातोः 'कृञः श च' (३।३।१००) इति शः यक्।

हिन्दी—लोग मृगों के समान कंसादि राजाओं के वध करने से जो आपकी प्रशंसा करते हैं, हे हरि! (हे कृष्ण, पक्षान्तर में—हे सिंह!) वह प्रशंसा तो हिरण्याक्षादि दैत्य रूपी हाथियों को मारने वाले आपका अपमान ही है ॥३९॥

एवं स्तुत्या श्रीकृष्णमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमारभते—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥ ४० ॥

अन्वयः—उज्झितश्रमः (सन्) क्रमेण भुवनद्विषां पेष्टुं स्वयमेव प्रवृत्तः असि। तथापि मिथः त्वदाभाषणलोलुपं मनः मां वाचालतया युनक्ति।

बालबोधिनी—(त्वम्) उज्झितश्रमः = परित्यक्तपरिश्रमः सन्, अविश्रान्तः सन्। क्रमेण = क्रमशः, पर्यायेण। भुवनद्विषां = जगद्द्रुहाम्, कंसादिदुष्टानाम्। पेष्टुं = विनिहन्तुम्, हिंसितुम्। स्वमेव = आत्मनैव। न केनाऽपि प्रेरित इत्यर्थः। प्रवृत्तः = उद्युक्तः। असि। तथापि = स्वतः प्रवृत्तेऽपि। मिथः = परस्परम्, एकान्ते च। त्वदाभाषणलोलुपं = त्वया सह संलापे समुत्सुकम्। मम मनः = मच्चेतः। मां = निःस्पृहमपि मां नारदम्। वाचालतया = वाचाटतया (सह)। युनक्ति = योजयति। मां वाचालं करोतीति भावः।

कोशः—'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'समौ लोलुभलोलुपौ' इत्यमरः।

समासः—उज्झितः श्रमः येन सः उज्झितश्रमः (ब० व्री०)। भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः, तेषां भुवनद्विषाम्। बह्वयो वाचोऽस्य सन्तीति वाचालः, तस्य भवो वाचालता, तया वाचालतया। त्वया सह आभाषणं त्वदाभाषणम्, तस्मिन् लोलुपं, तत् त्वदाभाषणलोलुपम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—भुवनद्विषाम्—भुवन + द्विष् + क्विप् 'जासिनिप्रहण०' (२।३।५६) इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। पेष्टुम्—पिष् + तुमुन्। युनक्ति—युज् + लट्–तिप्। वाचालतया–वाच्शब्दात् 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (५।२।१२५) इत्यालच्, ततः तल्।

हिन्दी—थकान (की चिन्ता) को छोड़कर आप क्रम से संसार से द्वेष करने वाले दुष्टों को मारने के लिए स्वयं ही प्रवृत्त हो रहे हैं (अतः इसके लिए पिष्टपेषण के समान कुछ भी कहना निरर्थक है)। तथापि एकान्त में आपके साथ बातचीत करने का इच्छुक मेरा मन मुझे वाचालता से युक्त कर रहा है, अर्थात् मुझे वाचाल बना रहा है ॥ ४० ॥

इन्द्रसन्देशोऽवश्यमेव श्रोतव्य इति सहेतुकमाह—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद् भवता निशम्यताम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तत् उपेन्द्र ! इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यत् वचः क्षणं मया उच्यते तत् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतेन भवता निशम्यताम्।

बालबोधिनी—तदिति वाक्योपसंहारे, किं बहुनोक्तेन, तस्मात् कारणात् इति वा। उपेन्द्र = हे इन्द्रानुज ! हे श्रीकृष्ण ! इन्द्रसन्दिष्टम् = इन्द्रकथितम्। विश्वजनीनं = सार्वजनिकम्, सर्वलोकोपकारकम्। यद्वचः = यद्वाक्यम्। क्षणं = अल्पम्, किञ्चित्कालम्, मुहूर्तमेव। मया = नारदेन। उच्यते = कथ्यते। तत् = वचः। अहिद्विषः = वृत्रघ्नः, इन्द्रस्य। समस्तकार्येषु = निखिलकर्त्तव्येषु। धुर्यतां = भारवाहकताम्, धुरन्धरताम्। गतेन = प्राप्तेन। भवता = त्वया श्रीकृष्णेन। निशम्यताम् = श्रूयताम्। अत्र वचनस्येन्द्रसन्दिष्टत्वम्, विश्वजनीनत्वम्, तथा श्रीकृष्णस्येन्द्रसकलकार्यधुरन्धरत्वमिति सर्वेऽपि पदार्थाः सन्देशश्रवणे हेतव इति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

कोशः—'उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः। 'निर्व्या स्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' वैजयन्ती।

समासः—इन्द्रमुपगतः उपेन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र ! इन्द्रेण सन्दि इन्द्रसन्दिष्टम्। विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम्। समस्तानि च कार्याणि समस्तकार्याणि, तेषु समस्तकार्येषु (क० त०)। अहिं द्वेष्टि इति द्विट्, तस्य अहिद्विषः (त० पु०)। धुरं=भारं वहतीति धुर्यः, तस्य तत्ता, तां धुर्यताम्।

व्याकरणम्—विश्वजनीनम्—विश्वजनशब्दात् 'आत्मन्विश्वजनभोग पदात्खः' (५।१।९) इति खप्रत्ययः, तस्येनादेशः। धुर्यताम्—धुरं 'धुरो यड्ढकौ' (४।४।७७) इति यत्प्रत्ययः, ततः तल्। अहिद्विषः—अहि +क्विप्। निशम्यताम्—नि+शम्+कर्मणि लोट्+त+यक्।

हिन्दी—इसलिए उपेन्द्र ! इन्द्र के द्वारा सन्देश के रूप में भेजे हुए, लोकहितकारक जिस वचन को मैं क्षणभर में कह रहा हूँ, इन्द्र के समस्त भार को सँभालने वाले आप उसे सुनिए।

टिप्पणी—**धुर्यतां गतेन**—भारवाहकता को प्राप्त हुए। इन्द्र के स कार्यों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें पूर्ण करने वाले। **उपेन्द्र**—इन्द्र के भाई। इन्द्रादि देवों को पराजित कर तीनों लोकों का आधिपत्य पाने के जब असुरराज बलि यज्ञ करने लगा तब दिति की प्रार्थना से भगवान् वामन का रूप धारण करके बलि की यज्ञशाला में पहुँचे। वहाँ जाकर उ तीन पग भूमि बलि से यज्ञावसर पर दान रूप में माँगी। उसके स्वीकार पर विष्णु ने तीनों लोकों को विराट् रूप धारण करके केवल तीन पग में लिया। तब सपरिवार बलि को पाताललोक में भेजकर तीनों लोकों का इन्द्र को दे दिया। उनके इस सत्कार्य से प्रसन्न होकर देवगण उन्हें (इन्द्र के छोटे भाई) के पद पर अभिषिक्त कर अपने धाम चले गये (वत स्कन्ध ८, अ० १८ से २७) ॥ ४१ ॥

सम्प्रतीन्द्रसन्देशमवतारयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—प्रतिपक्षजन्मनां भियाम् अभूमिः तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभू हरेः इन्द्र शब्दार्थनिषूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।

बालबोधिनी—प्रतिपक्षजन्मनां=शत्रुसमुद्भूतानाम्, विपक्षादागतानाम्। भियां=भीतीनाम्। अभूमिः=अविषयः, निर्भय इति भावः। तपनद्युतिः=सूर्यतेजाः, रविप्रभः। दितेः=कश्यपपत्न्याः। तनूजः=सुतः, दैत्य इति यावत्। अभूत्=बभूव। हरेः=इन्द्रस्य। इन्द्रशब्दार्थनिपूदनम्=इन्द्रपदार्थभूतपरमैश्वर्यनिवर्तकम्। यं=दैत्यम्। हिरण्यपूर्वं कशिपुं=हिरण्यशब्दपूर्वकं कशिपुम्, हिरण्यकशिपुमिति यावत्। प्रचक्षते=कथयन्ति, लोका इति शेषः।

कोशः—'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः। 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः' । 'वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः।

समासः—प्रतिकूलः पक्षो यस्य सः प्रतिपक्षः=शत्रुः, तस्मात् जन्म यासां ताः प्रतिपक्षजन्मानः, तासां प्रतिपक्षजन्मनाम् (ब० व्री०)। तपनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्यासौ तपनद्युतिः। इन्दति परमैश्वर्यं लभते इति इन्द्रः, स चाऽसौ शब्दश्च इन्द्रशब्दः, तस्य योऽर्थः, तस्य निपूदनः, तम् इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम् (क० त०)। हिरण्यं पूर्वो यस्यासौ हिरण्यपूर्वः, तं हिरण्यपूर्वम् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—भियाम्—भी+क्विप्। प्रचक्षते—प्र+चक्ष+झ। इन्द्रः—परमैश्वर्यार्थकात् इदिधातोः 'ऋजेन्द्र०' इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिको निपातः नुमागमश्च।

हिन्दी—शत्रुजन्य विभीषिकाओं का अविषय अर्थात् शत्रु से नहीं डरने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी दिति का पुत्र (दैत्य) हुआ, जिसे लोग 'परमैश्वर्यवान्' इस शब्द के अर्थ को नष्ट करने वाला 'हिरण्यकशिपु' कहते हैं।

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय को शापवश राक्षस होना पड़ा। जो प्रथम जन्म में हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु, दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकर्ण तथा तीसरे जन्म में शिशुपाल तथा दन्तवक्त्र के रूप में उत्पन्न हुए। उनकी मुक्ति के लिये ही भगवान् को अवतीर्ण होना पड़ा। हिरण्यकशिपु के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये इसी सर्ग के ४७वें श्लोक की टिप्पणी को देखें॥ ४२॥

अथ हिरण्यकशिपोर्दुर्वृत्तं कथयति—

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत॥ ४३॥

अन्वयः—समत्सरेण असुर इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदां मनःसु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत।

बालबोधिनी—समत्सरेण=अन्यशुभद्वेषिणा। असुर इति नाम्नः=अ
इत्यभिधानस्य। प्रथमाभिधेयताम्=अन्वर्थतया मुख्याभिधेयताम्। गतेन
प्राप्तेन। तरस्विना=बलवता। येन=हिरण्यकशिपुना। द्युसदः=देवाना
मनःसु=चित्तेषु। भयस्य=भीतेः। पूर्वावतरः=प्रथमप्रवेशः, प्रथमप्रादुर्भा
न्यधीयत=निहितः, विहितः। प्रथमं तत एव देवा बिभ्युरित्यर्थः।

कोशः—'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः। 'चिराय चिररात्राय चिरस्या
श्चिरार्थकाः' इत्यमरः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमर
'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः।

समासः—मत्सरेण सहितः समत्सरः, तेन समत्सरेण। अस्यति क्षिप
देवानसौ असुरः=सुरोन्मूलनकर्ता। प्रथमं च तदभिधेयमिति प्रथमाभिधेय
तस्य भावस्तत्ता तां प्रथमाभिधेयताम्। अवतरणम् अवतरः, पूर्वश्चासौ अव
पूर्वावतरः। दिवि सीदन्ति गच्छन्तीति द्युसदः, तेषां द्युसदाम्।

व्याकरणम्—तरस्विना—तरस्-शब्दात् 'अस्मायामेधास्रजो विनि',
(५।२।१२१) इति विनिः। असुरः—अस्+उरन्। द्युसदाम्—दिवि+षद
क्विप्। पूर्वावतरः—पूर्व+अव+अप्, 'ऋदोरप्' (३।३।५७) इति अप्
प्रत्ययः। न्यधीयत—नि+धा+लङ्+त।

हिन्दी—दूसरे के शुभ से द्वेष करने वाले तथा असुर इस नाम की ब
काल के बाद प्रथम वाच्यता को प्राप्त हुए अर्थात् सर्वप्रथम असुर कहे जाने वा
जिस हिरण्यकशिपु ने देवताओं के मन में सर्वप्रथम भय का संचार किया ॥४३

हिरण्यकशिपोः दिक्पालविजयमाह—

दिशानधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—श्रियः यतः दिशाम् अधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य तं रागहृता
(सत्यः) सिषेविरे ततः आरभ्य अयशस्करं चला इति उच्चैः प्रवादम् अवापु

बालबोधिनी—श्रियः=सम्पत्तयः, सम्पदः। यतः=यदा, यस्मात् काल
दित्यर्थः। दिशां=पूर्वादीनां काष्ठानाम्। अधीशान्=अधिपतीन्, दिक्पाल
नपि। चतुरः=चतुःसंख्याकान्। सुरान्=देवान्, इन्द्रयमवरुणकुबेरान्। अपास्य
त्यक्त्वा। तं=हिरण्यकशिपुम्। रागहृताः=रागाकृष्टाः सत्यः। न तु बल
दित्यर्थः। सिषेविरे=भेजिरे। तत आरभ्य=ततः प्रभृति। अयशस्करं=अकीर्ति

करम् । उच्चैः=महान्तम्, प्रचुरम्, सर्वव्यापिनम् । प्रवादं=लोकनिन्दाम् । अवापुः=प्रापुः, लेभिरे ।

कोशः—'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः ।

समासः—रागेण हृताः रागहृताः । न यशः अयशः, अयशः करोतीति अयशस्करः, तम् अयशस्करम् ।

व्याकरणम्—दिशाम्—'ऋत्विक्-दधृक्०' (३।२।५९) इत्यादिना क्विन् । सिषेविरे—सेव+लिट्+इरे । आरभ्य–आ+रभ्+क्त्वा+ल्यप् । अयशस्करम्—अयशस्+कृ+ल्ट् 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) इति 'ट' प्रत्ययः 'अतः कृकमि०' (८।३।४६) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । अवापुः—अव+आप्+लिट्+झि+उस् ।

हिन्दी—लक्ष्मी जिस समय से दिशाओं के स्वामी चार देवताओं (इन्द्र, यम, वरुण, कुवेर) को छोड़कर (दिक्पालों से यह हिरण्यकशिपु अधिक वीर है, इस प्रकार की भावना रूप हिरण्यकशिपु के) अनुराग से आकृष्ट होकर उसकी सेवा करने लगी, अर्थात् उसके पास रहने लगी, तभी से उसने 'लक्ष्मी चञ्चल है' इस दुष्कीर्ति की करने वाली महती लोकनिन्दा को प्राप्त किया ॥४४॥

हिरण्यकशिपुभयाद् देवानां दुर्गादिविधानमाह—

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥ ४५ ॥

अन्वयः—नाकिनां गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि दुर्गाणि चक्रिरे, आयुधं निशातं (चक्रे), बलानि शूराणि चक्रिरे, कञ्चुकाः घनाः (चक्रिरे) ।

बालबोधिनी—नाकिनां=स्वर्गिणाम्, देवानाम् । गणैः=समूहैः । यं=हिरण्यकशिपुम् । तमिति पाठान्तरम्, अर्थस्तु समान एव । आशङ्क्य=बाधकरूपेण सम्भाव्य । तदादि=तदारभ्य, तदाप्रभृति । स्वरूपशोभैकफलानि=स्वरूपशोभैकप्रयोजनानि । क्वचित् 'फलानि' इत्यस्य स्थाने 'गुणानि' इत्यपि पाठः । अर्थस्तु स्पष्ट एव । पुराणि=नगराणि । दुर्गाणि=प्राकारपरिखादिभिरगम्यानि । चक्रिरे=विदधिरे, कृतानि । आयुधं=शस्त्रम् । निशातं=निशितम्, तीक्ष्णम् । चक्रे=विदधे, इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । (तथा) बलानि=सैन्यानि । शूराणि=शौर्यवन्ति । चक्रिरे । कञ्चुकाः=वारणाः, कवचाः । घनाः=सुदृढाः, दुर्भेदाः चक्रिरे । इत्थं हिरण्यकशिपुभयाद् देवाः सन्नद्धा जाग्रतिस्मेत्यर्थः ।

कोशः—'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यमरः। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः वरूथिनी वलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—स कालः आदिर्यस्मिन् तत् तदादि तद्यथा स्यात्तथा। स्वरूपस्य शोभा स्वरूपशोभा, स्वरूपशोभा एव एकं फलं येषां तानि स्वरूपशोभैकफलानि (त० पु० गर्भ व० व्री०)। नाकोऽस्त्येषां ते नाकिनः, तेषां नाकिनाम्।

व्याकरणम्—निशातम्–नि + शो + क्तः, 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७।४ इति इत्वविकल्पात् पक्षे आत्वम्। चक्रिरे—कृ + लिट् + इरे।

हिन्दी—देवगणों ने जिस हिरण्यकशिपु को बाधक समझकर तब से ही (तदादि) अर्थात् हिरण्यकशिपु के समय से ही, बाह्य शोभा ही (अब तक) जिनका एकमात्र प्रयोजन रहा था, उन नगरों को दुर्ग (खाई, परकोटा आदि) से सुसज्जित कर दुर्गम एवं अजेय किला) बना लिया, अस्त्रों को तीक्ष्ण कर लिया, सेनाओं को शूरवीर बना लिया और कवचों को सुदृढ़ एवं दुर्भेद्य बना लिया। अर्थात् हिरण्यकशिपु के भय से देवगण सब साधनों को युद्ध के योग्य बनाकर सावधान रहने लगे॥ ४५॥

प्रकारान्तरेण हिरण्यकशिपुसमुत्पन्नं देवानां भयमाह—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः॥ ४६॥

अन्वयः—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रियः आश्रयः सः यदृच्छया यां दिशम् अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं तस्यै दिशे नमः अकारि।

बालबोधिनी—भुवनान्तरेषु = लोकान्तरेषु, त्रिभुवनमध्येषु इति। सञ्चरिष्णुः = सञ्चरणशीलः। श्रियः = लक्ष्म्याः। श्रियमिति पाठान्तरे श्रियां लक्ष्मीणामित्यर्थः। आश्रयः = आधारः, निवासस्थानम्। सः = हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया = स्वैरवृत्त्या, स्वेच्छया। यां दिशं = यां पूर्वादिककुभम्। अशिश्रियत् = असेवत, अगमत्। मुकुटोपलस्खलत्करैः = मौलिमणिसञ्चरद्धस्तैः, किरीटरत्नेषु व्याप्रियमाणपाणिभिः, शिरसि वद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। त्रिदशैः = देवैः। त्रिसन्ध्यं = त्रिष्वपि सन्ध्यासु, सन्ध्यात्रये। तस्यै = हिरण्यकशिप्वाश्रितायै। दिशे = दिशायै। नमः = नमस्कारः। अकारि = कृतम्। उक्तं च—

'हिरण्यकशिपू राजा यां यां दिशमुदैक्षत।
तस्यै तस्यै नमश्चक्रुर्देवा ऋषिगणैः सह॥' इति॥

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः' इत्यमरः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः। सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः'॥ इत्यमरः।

समासः—अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि, तेषु भुवनान्तरेषु, अथवा—भुवनानाम् अन्तराणि भुवनान्तराणि, तेषु भुवनान्तरेषु=त्रिभुवनमध्येषु। मुकुटेषु ये उपलाः, तेषु स्खलन्तः कराः येषां तैः मुकुटोपलस्खलत्करैः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०)। तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैः त्रिदशैः। यद्वा—त्रिदशपरिमाणमेषामिति मल्लिनाथाः। वस्तुतस्तु तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशाः, तैः त्रिदशैः। देवानां सदा पञ्चविंशतिवर्षात्मकत्वेन तृतीयायां दशायां वर्तमानत्वमिति भावः। सम्यक् ध्यायते परमात्मा अस्यां सा सन्ध्या, तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं तत्तथा।

व्याकरणम्—सञ्चरिष्णुः—सम्पूर्वाच्चरधातोः 'अलंकृञ्०'(३।२।१३६) इत्यादिना चरेरिष्णुच् प्रत्ययः। अशिश्रियत्—श्रि+लुङ्+तिप् 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) इति चङ्, ततो द्वित्वादिकार्यं तत इयङादेशः। अकारि—कृ+कर्मणि लुङ्—त 'चिण् भावकर्मणोः०' (३।१।६६) इति चिण् 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) इति चिण्शब्दस्य लुक्।

हिन्दी—अन्यान्य लोकों में अथवा लोकों के मध्य वर्तमान प्रदेशों में घूमने वाला, लक्ष्मी का आश्रय वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छापूर्वक जिस दिशा में पहुँचता था (सिर पर पहने हुए) मुकुटों में लगे हुए रत्नों पर हाथ रखे हुए (हाथ जोड़कर सिर पर रखे हुए) देव लोग उस दिशा के लिए तीनों सन्ध्याओं (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं) में नमस्कार करते थे।

टिप्पणी—'त्रिदशपरिमाणमेषाम् (ते त्रिदशाः)' यह मल्लिनाथ-कृत व्याख्या ठीक प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि देवताओं की संख्या तीस नहीं है बल्कि तैंतीस है—१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, १ प्रजाप्रति, १ वषट्कार—इस प्रकार सब मिलाकर तैंतीस हुए॥ ४६॥

नृसिंहावतारकृतं हिरण्यकशिपोर्वधमाह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥ ४७॥

अन्वयः—नृसिंह ! अतनुं सैंहीं तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया सः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारं प्रतिचस्करे।

बालबोधिनी—नृसिंह=हे नरश्रेष्ठ ! हे नृसिंहावतारधारिन्निति च । बृ =विस्तीर्णाम्, अतिमहतीम् । सैंहीम् = सिंहसम्बन्धिनीम्, सिंहाकाराम्, तनुम् शरीरम् । बिभ्रता = दधता । नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । सटाच्छटाभिन्नघनेन केसरसमूहविदारितमेघेन, अभ्रङ्कषशरीरत्वादिति भावः । त्वया = भवता । = हिरण्यकशिपुः । मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः = सुन्दरभामिनीकुचसंसर्गभ मानैः । नखैः = नखरैः । उरोविदारं = उरो विदार्य । प्रतिचस्करे = मारितः ।

कोशः—'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽ नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—ना सिंह इव नृसिंहः, तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह ! 'उपमितं व्याघ्रादि सामान्याप्रयोगे' (२।१।६६) इति समासः । पक्षे—ना चासौ सिंहश्च नृसिंह तत्सम्बुद्धौ हे नृसिंह ! (क० त० पु०) । न तनुः अतनुः, ताम् अतनुम् (त० पु०) । सिंहस्य इयं सैंही, तां सैंहीम् । सटानां छटाः सटाच्छटाः, ता भिन्ना घनाः येन सः, तेन सटाच्छटाभिन्नघनेन (त० पु० गर्भ० ब० व्री०) कान्तायाः स्तनौ कान्तास्तनौ, मुग्धौ च कान्तास्तनौ मुग्धकान्तास्तनौ, तत् सङ्गः मुग्धकान्तास्तनसङ्गः, तेन भङ्गुराः, तैः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः (पु०) । अथवा मुग्धाः याः कान्ताः मुग्धकान्ताः, स्तनयोः सङ्गः स्तनसङ्गः मुग्धकान्तानां स्तनसङ्गः मुग्धकान्तास्तनसङ्गः, तेन भङ्गुरास्तैः मुग्धकान्ता स्तनसङ्गभङ्गुरैः । उरः विदार्येति उरोविदारम् ।

व्याकरणम्—सैंहीम्—सिंह+अण्+ङीप् । उरोविदारम्—उरस्+वि दृ+णमुल्, 'परिक्लिश्यमाने च' (३।४।५५) इति णमुल्प्रत्ययः । प्रतिचस्करे —प्रतिपूर्वात् कृधातोः कर्मणि लिट् 'ऋच्छत्यृताम्' (७।३।११) इति गुणः 'हिंसायां प्रतेश्च' (६।१।१४१) इति सुडागमः ।

हिन्दी—हे नृसिंह ! (पुरुषोत्तम तथा सिंह रूप धारी श्रीकृष्णजी) विशाल सिंह शरीर को धारण करते हुए (अतएव) गर्दन के बालों के समूह से बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाले आपने उस हिरण्यकशिपु को नव रमणी के स्तनों के सम्पर्क से भी टेढे हो जानेवाले (अत्यन्त कोमल अपने) नखों से पेट फाड़कर मार डाला ।

टिप्पणी—अपनी कठोर तपस्या से भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर हिरण्यकशिपु नामक दैत्य ने उनसे वरदान माँगा कि मैं किसी नक्षत्र-लग्न, दिन-रात, पक्ष-मास-वर्ष में किसी देव, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि से नहीं मरूँ। इस वर को पाने के बाद अपने को अवध्य मानकर वह देवताओं और ऋषियों को भी सताने लगा तथा यज्ञादिकों को नष्ट करने लगा। यहाँ तक कि ईश्वर के परम भक्त अपने पुत्र प्रह्लाद को भी ईश्वर-भक्ति न छोड़ने के कारण मारने के लिये अनेक प्रयत्न करने लगा। जब वह प्रह्लाद को किसी प्रकार भी न मार सका, तब उसने एक दिन गोधूलि के समय को खम्भे में बाँधकर स्वयं तलवार से उसका सिर काटना चाहा। इतने में ही भगवान् विष्णु ने नृसिंह रूप धारण कर हिरण्यकशिपु को अपनी गोद में लेकर अपने नखों से उसके वक्षःस्थल को फाड़कर मार डाला। ऐसी पौराणिक कथा है ॥ ४७ ॥

अथाऽस्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचक्षाणोऽयमेव जन्मान्तरे रावणो बभूवेति कथयति—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ सः पुनः त्रिदशैः समं रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदमिच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षः बभूव।

बालबोधिनी—अथ=स्ववधानन्तरं कदाचित् काले सरति। सः=हिरण्यकशिपुः। पुनः=भूयोऽपि। त्रिदशैः=देवैः। समं=साधंम्। रणेन=युद्धेन। दर्पजन्मनः=मदोत्थितायाः, अहङ्कारप्रभवायाः। कण्ड्वाः=कण्डूते। विनोदम्=अपनोदम्, विनाशम्। इच्छन्=अभिलपन्। दिवः=स्वर्गस्य। क्षतरक्षणम्=जितपरिपालकम्, अथवा—विनाशितरक्षणम्। अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम्। निकामभीषणम्=अत्यन्तभयानकम्, नितरां भयङ्करम्। रावणो नाम=रावण इति नामधेयम्, रावणनाम्ना प्रसिद्ध इत्यर्थः। नामशब्दोऽयं प्रसिद्धिद्योतको निपातः। रक्षः=राक्षसः। बभूव=जातः, राक्षसयोनौ सञ्जात इत्यर्थः। तदुक्तं वाल्मीकिरामायणे उत्तरकाण्डे—

'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्।
तस्मात् त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥' इति।

अत्र रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद् विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता।
कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेको स्मयो मदः' इत्यमरः।

समासः—दर्पाज्जन्म यस्याः सा दर्पजन्मा, तस्याः दर्पजन्मनः (ब० व्री०)। भीषयति (भीषयते) इति भीषणम्, निकामं भीषणं निकामभीषणम्, (त० पु०) रक्ष्यते अनेनेति रक्षणम्, क्षतं रक्षणं येन तत् क्षतरक्षणम्, अथवा—क्षताः= निर्जिताः, रक्षिणः=दिवःपालकाः देवा येन तत् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विनोदम्—वि+नुद्+घञ्। इच्छन्—इष्+कर्तरि शतृ। रावणः—विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावण इति विग्रहे विश्रवस्शब्दात् 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' (४।१।११२) इति प्रकृतेः रवणादेशः। अथवा—रावयतीति रावणः, रुधातोः ण्यन्तात् कर्तरि ल्युट्। वभूव—भू+लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—इस (हिरण्यकशिपु की मृत्यु) के बाद वही हिरण्यकशिपु फिर से देवताओं के साथ युद्ध के द्वारा अहङ्कारजन्य खुजलाहट को दूर करने की इच्छा से स्वर्ग की सुरक्षा को नष्ट करने वाला नितान्त भयङ्कर रावण नामक राक्षस हुआ ॥ ४८ ॥

रावणस्य तपःशौर्यं दर्शयति—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद् दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद् विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागात् दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादं विघ्नम् इव अतर्कयत्।

बालबोधिनी—यः=रावणः। भुवनत्रयस्य=लोकत्रयस्य। प्रभुः=ईश्वरः, स्वामी। बुभूषुः=भवितुमिच्छुः। अतिरागात्=प्रेमाधिक्यात्, महोत्साहात् न तु विलम्बेन। निर्वेदादिति भावः। दशमं शिरः=दशमं मूर्धानम्। चिकर्तिषुः= कर्तितुमिच्छुः। इष्टसाहसः=प्रियसाहसः। (अत एव) इच्छासदृशं=स्ववाञ्छानुकूलम्। पिनाकिनः=शूलपाणेः, शिवस्य। प्रसादं=वरम्। विघ्नमिव= शिरश्छेदनकर्मान्तरायमिव। अतर्कयत्=व्यचारयत्, उत्प्रेक्षितवान्। इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य 'स रावणो नाम रक्षो वभूवे'ति पूर्वेणान्वयः।

कोशः—'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः। 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः।

समासः—त्रयः अवयवा अस्येति त्रयम्, भुवनानां त्रयं भुवनत्रयम्, तस्य भुवनत्रयस्य। इष्टं साहसं यस्यासौ इष्टसाहसः (ब० व्री०)। समान इव पश्यति

सदृशः, इच्छया सदृशः इच्छासदृशः, तम् इच्छासदृशम् (त० पु०)। पिनाकोऽस्यास्तीति पिनाकी, तस्य पिनाकिनः।

व्याकरणम्—बुभूषुः—सन्नन्ताद् भूधातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।१।१६८) इति उप्रत्ययः। चिकर्तिषुः—कृ+सन्+उः। अतर्कयत्—तर्क+स्वार्थे णिच्+लङ्—तिप्।

हिन्दी—तीनों लोकों का स्वामी होने की इच्छा करने वाले (अत एव शिवजी की अतिशय प्रसन्नता के लिए) अत्यधिक भक्ति से दशवें सिर को काटने की इच्छा वाले महासाहसी जिस रावण ने इच्छानुकूल शिव के वरदान को विघ्न के समान समझा (वह 'रावण नाम का राक्षस हुआ' ऐसा पूर्वश्लोक १।४८ के साथ अन्वय करना चाहिए)।

टिप्पणी—एक वार रावण श्रीशङ्कर भगवान् को प्रसन्न करके तीनों लोकों का राजा वनने की इच्छा से अपने सिरों को काट-काटकर अग्नि में हवन करने लगा। इस प्रकार नव (९) सिरों को काटने के बाद जब वह दशवाँ सिर भी काटने लगा तो शिवजी ने प्रसन्न होकर उसको इच्छानुसार वरदान दिया। ऐसी शिवपुराण में कथा है॥ ४९॥

अथ रावणस्य कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम्॥ ५०॥

अन्वयः—यः पृथिवीभृतां वरं समुत्क्षिपन् शूलिनः वरप्रदानस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयं चकार।

बालबोधिनी—यः=यो रावणः। पृथिवीभृतां=भूधराणाम्, पर्वतानाम्। वरं=श्रेष्ठम्, कैलासमित्यर्थः। समुत्क्षिपन्=बलदर्पादुपरि प्रक्षिपन्, उत्तोलयन्। शूलिनः=शिवस्य। वरप्रदानस्य=इष्टवितरणस्य। त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन = बिभ्यत्पार्वतीसत्वरसभयस्वयंकृतकण्ठग्रहालिङ्गनसुखेन। निष्क्रयं=निष्कृतिम्, विनिमयम्, प्रत्युपकारमिव। चकार=कृतवान्। अत्राश्लेषसुखवरप्रदानयोर्विनिमयात्परिवृत्तिरलङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' इति।

कोशः—'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक् प्रिये' इत्यमरः। 'शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः। ईश्वरः शर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः' इत्यमरः। 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात् सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती।

समासः—पृथिवीं बिभ्रतीति पृथिवीभृतः, तेषां पृथिवीभृताम् । शूलमस्यास्तीति शूली, तस्य शूलिनः । वरस्य प्रदानं वरप्रदानम्, तस्य वरप्रदानस्य। त्रसन्ती चाऽसौ तुषाराद्रिसुता च त्रसत्तुषाराद्रिसुता, सम्भ्रमेण सहितः ससम्भ्रमः, ससम्भ्रमश्चासौ स्वयंग्रहश्च ससम्भ्रमस्वयंग्रहः, तेन य आश्लेषः त्रसत्तुषाराद्रिसुता-ससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषः, तेन यत् सुखं, तेन त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयं-ग्रहाश्लेषसुखेन (त० पु०) ।

व्याकरणम्—समुत्क्षिपन्–सम्+उत्+क्षिप्+कर्तृ शतृ । पृथिवीभृताम्–पृथिवी+भृ+क्विप् । चकार–कृ+लिट्–तिप्–णल् । शूलिनः–शूल+इनिः ।

हिन्दी—पर्वतश्रेष्ठ कैलाश को ऊपर उठाते हुए जिस रावण ने भयभीत पार्वती के द्वारा घबराहटपूर्वक स्वयं किये गये कण्ठग्रहजन्य आलिङ्गन से उत्पन्न सुख से शिवजी के वर प्रदान का बदला चुका दिया (वह रावण नामक का राक्षस हुआ) ।

टिप्पणी—एक समय क्रीडासक्त रावण कैलास पर्वत को हथेली पर उठाकर उसे गेंद की तरह से उछालने लगा । पर्वत के हिलने से पार्वतीजी डरकर शिवजी के गले से लिपट गई । इससे शिवजी को अपार सुख हुआ । लेकिन पार्वती के डर को दूर करने के लिए शिवजी ने कैलास को स्थिर करने के लिये उसे अपने वाम चरण के अँगूठे से दबा दिया, जिससे रावण का हाथ उसी के नीचे दब गया । तदनन्तर जब रावण ने शिवताण्डव-स्तोत्र रचकर शङ्करजी की स्तुति की, तो शिवजी ने प्रसन्न होकर अपने चरण को हटा लिया । तब रावण ने अपने हाथ को छुड़ाया । पुराणों में अनेक प्रकार से यह कथा वर्णित है ।। ५० ।।

रावणस्य स्वर्गलुण्ठनमाह—

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ।। ५१ ।।

अन्वयः—बली यः नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर, इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे (स रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः) ।

बालबोधिनी—बली=बलवान् । क्वचित् 'वशी' इति पाठः, तत्र समर्थ इत्यर्थः । यः=रावणः । नमुचिद्विषा=इन्द्रेण सह । विगृह्य=निरुध्य, वैरं विधाय । पुरीम्=अमरावतीम् । अवस्कन्द=पुनः पुनरवरुरोध । नन्दनम्=इन्द्रो-

द्यानम् । लुनीहि=पुनः पुनश्चिच्छेद । रत्नानि=श्रेष्ठवस्तूनि, मणीन् वा । मुषाण=पुनः पुनर्मुमोष, पुनः पुनश्चोरयामास । अमराङ्गनाः=देवाङ्गनाः, अप्सरसो वा । हर=पुनः पुनर्जहार । इत्थम्=अनेन प्रकारेण । अहर्दिवम्=अहन्यहनि, प्रतिदिनम् । क्वचिदहर्निशमिति पाठ, तत्राहोरात्रमित्यर्थः । दिवः=स्वर्गस्य । अस्वास्थ्यम्=उपद्रवम् । चक्रे=चकार ।

श्लोकमिमं केचनैवं व्याख्यायन्ति—

वली=वलवान् । यः=रावणः । नमुचिद्विषा=इन्द्रेण सह । विगृह्य=विरुध्य । अहर्दिवम्=अहन्यहनि । दिवः=स्वर्गस्य । अस्वास्थ्यं चक्रे=पीडां जनयामास । कथं तदित्याह—स हि अनुचरान् प्रत्याह–भोः प्रहस्त ! पुरीम्=अमरावतीम् । अवस्कन्द=निरुन्धि । अयि महोदर ! त्वमितो नन्दनं लुनीहि=छिन्धि । त्वञ्च वाष्कल ! रत्नानि मुषाण=कोषं रिक्तीकुरु । त्वं पुनः कुम्भकर्ण ! अमराङ्गनाः हर=सुरवनिताः वन्दीकुरु । इत्थं सोऽस्वास्थ्यं चक्रे ।

अत्र स्वर्गस्यास्वास्थ्यकरणेऽनेकक्रियाणामवस्कन्दादीनां हेतुत्वेनोपादानात् समुच्चयोऽलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्करणं भवेत् । समुच्चयोऽसौ' इति ।

कोशः—'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम् । स्थानीयं निगमः' इत्यमरः । 'नगरी त्वमरावती' इत्यमरः । 'नन्दनं वनमि'त्यमरः । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । 'जम्भभेदी हरिहयः स्वराणनमुचिसूदनः' इत्यमरः ।

समासः—न मुञ्चतीति नमुचिः, नमुचिं द्वेष्टीति नमुचिद्विट्, तेन नमुचिद्विषा । अहनि च दिवा च अहर्दिवम् । स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्, न स्वास्थ्यम् अस्वास्थ्यम् (नञ् त० पु०) । बलमस्यास्तीति बली ।

व्याकरणम्—अवस्कन्द लुनीहि इत्यादौ सर्वत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' (३।४।२) इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् तत्प्रयुक्तं तिङादिकार्यं च ।

हिन्दी—जिस बलवान् रावण ने इन्द्र से विरोध करके बार-बार इन्द्र की नगरी अमरावती को घेर लिया, (इन्द्र के) नन्दन वन को बार-बार काट डाला, रत्नों को पुनः-पुनः लूटा और देवाङ्गनाओं का (भी) बार-बार अपहरण किया । इस प्रकार उसने स्वर्ग को पीड़ित कर डाला । वह रावण नाम का राक्षस हुआ ॥ ५१ ॥

रावणभयेनेन्द्रस्यातिशयकातरत्वं दर्शयति—

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस, उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमं न (प्रशशंस) केवलं शीघ्रताम् एव (प्रशशंस)।

बालबोधिनी—संयति = युद्धे । येन = रावणेन । अनुद्रुतः = अनुधावितः । बलस्य = बलाख्यासुरस्य । शत्रुः = रिपुः, इन्द्र इत्यर्थः । अभ्रमोः = दिक्करिण्याः । भर्तुः = स्वामिनः, स्वगजस्य ऐरावतस्येत्यर्थः । सलीलयातानि = सभङ्गीकान् पदविन्यासान् । न प्रशशंस = न साधुवादेन तुष्टाव । किञ्च—उच्चैःश्रवसः = तन्नाम्नः स्वाश्वस्य । चित्रं = नानाविधम् । पदक्रमं = पादविक्षेपम्, पदन्यासम्, अर्धपुलायितादिगतिविशेषमिति मल्लिनाथाः । न प्रशंशंस = न तुष्टाव । (किन्तु) केवलम् = एकाम् । शीघ्रतामेव = शीघ्रगामित्वमेव । प्रशशंस = तुष्टाव ।

कोशः—'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'हय उच्चैःश्रवाः' इत्यमरः ।

समासः—लीलया सहितानि सलीलानि, सलीलानि च तानि यातानि सलीलयातानि । पदयोः क्रमः पदक्रमः, तं पदक्रमम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अनुद्रुतः—अनु + द्रु + क्तः । संयति—सम् + यम् + क्विप् । प्रशशंस—प्र + शंस् + लिट्—तिप्—णल् । शीघ्रताम्—शीघ्र + तल् ।

हिन्दी—जिस रावण के द्वारा पीछा किये जाते हुए (अनुद्रुतः), बल के शत्रु इन्द्र ने ऐरावत के विलासपूर्वक गमन की (तथा) उच्चैःश्रवा नामक अपने घोड़े की नाना प्रकार की (दुलकी, कदम, छरलक, पोइथी आदि) चालों की (भी) प्रशंसा नहीं की, किन्तु उनकी शीघ्र गति की ही प्रशंसा की, (वह रावण नाम का राक्षस हुआ) ॥ ५२ ॥

रावणभयात्पलाय्यान्तर्हितस्येन्द्रस्य उलूकसादृश्यमाह—

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय (स रावणो नाम रक्षो बभूव) ।

बालबोधिनी—अधीरलोचनः=चञ्चलनयनः, अस्थिरदृष्टिः । कौशिकः= महेन्द्रः, उलूकश्च । सहस्ररश्मेः=सहस्रांशोः, सूर्यस्य । इव=यथा । यस्य= रावणस्य । दर्शनं=प्रेक्षणम्, विलोकनम् । सोढुं=मर्षयितुम् । अशक्नुवन्= अपारयन्, असमर्थः सन् । हेमाद्रिगुहागृहान्तरं=मेरुपर्वतकन्दरानिकेतनमध्यम् । प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, अध्यास्य, तत्र तत्र स्थित्वा । (तत्रापि) बिभ्यत्=भीतः सन्, त्रस्यन् । दिवसानि=वासराणि । निनाय=यापयामास, अतिवाहयामास । अत्रानेकार्थस्य कौशिकशब्दस्य प्रकरणेन महेन्द्ररूपेऽर्थे नियन्त्रिते सति व्यञ्जनयैव उलूकरूपो द्वितीयोऽर्थो बोध्यते । स चाप्राकरणिकत्वादसम्बद्धो मा प्रासङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इति शब्दशक्तिमूल उपमा-ध्वनिः, स च सहस्ररश्मेरिवेत्युपमानस्य साधक इति वाच्यसिद्धयङ्गं नाम गुणी-भूतव्यङ्ग्यम् ।

कोशः—'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी । दृग्दृष्टी' इत्यमरः । 'महेन्द्र-गुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरा-लयः' इत्यमरः ।

समासः—अधीरे लोचने यस्याऽसौ अधीरलोचनः (ब० व्री०) । सहस्रं रश्मयो यस्यासौ सहस्ररश्मिः, तस्य सहस्ररश्मेः (ब० व्री०) । हेम्नः अद्रिः हेमाद्रिः, तस्य गुहैव गृहं हेमाद्रिगुहागृहम्, तस्यान्तरं, तद् हेमाद्रिगुहागृहान्तरम् ।

व्याकरणम्—अशक्नुवन्—न शक्नुवन् अशक्नुवन्—शक्+शतृ+नुम् । बिभ्यत्—भी+कर्तरि शतृ—द्वित्वम् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुम-भावः । निनाय—नी+लिट्—तिप्—णल् । प्रविश्य—प्र+विश्+क्त्वा—ल्यप् ।

हिन्दी—(अस्थिर नेत्र वाले उल्लू की तरह) चञ्चल आँखों वाले इन्द्र ने (पक्षान्तर में–इन्द्र के समान चञ्चल नेत्र वाले उलूक नामक पक्षी ने) सूर्य के समान (परम तेजस्वी) जिस रावण के दर्शन को सहन करने में असमर्थ होते हुए सुमेरु पर्वत की गुफा रूपी घर के अन्दर घुसकर डरते हुए दिनों को विताया (वह रावण नाम का राक्षस हुआ) ।

टिप्पणी—दिन में जैसे उल्लू सूर्य के भय से बाहर नहीं निकलता है, उसी तरह इन्द्र भी रावण के भय से बाहर न निकलकर सुमेरु पर्वत की गुफा के अन्दर रहकर ही दिनों को बिताता था ॥ ५३ ॥

विष्णोश्चक्रमपि रावणं प्रति विफलमिति दर्शयति—

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रं जगत्प्रभोः सुरद्विपः अस्य अधिकन्धरं न अक्रमत ।

बालबोधिनी–बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्=विशालपाषाणकठोरकण्ठाभिघानात् । विकीर्णलोलाग्निकणं=विक्षिप्तचपलस्फुलिङ्गम् । अत एव अप्रसहिष्णु=अनभिभावकम्, असमर्थं वा । वैष्णवं=विष्णोः सम्बन्धिनं । चक्रं=रथाङ्गम्, सुदर्शनचक्रमित्यर्थः । जगत्प्रभोः=लोकस्वामिनः । सुरद्विपः=अमरारेः । अस्य=रावणस्य । अधिकन्धरम्=अधिग्रीवम् । न अक्रमत=न क्रमतेस्म, न प्रावर्त्तत । क्वचिद् घट्टनादित्यस्य स्थाने 'घट्टना' इति पाठस्तत्र संश्लेष इत्यर्थः । विग्रहस्तु समासे द्रष्टव्यः । 'सुरद्विषः' इत्यस्य स्थाने सुरद्विषामिति पाठे, 'सुरद्विषामि'-त्यस्य 'प्रभोः' इत्यनेन सम्वन्धः कार्यः, तस्य 'असुराणां स्वामिनः' इति चार्थः । किञ्चास्मिन् पाठान्तरे जगच्छब्दस्य 'अप्रसहिष्णु' इत्यनेन सम्वन्धो विधेयः । जगदप्रसहिष्णु=भुवनान्यभिभविष्णु, क्रुद्धं सज्जगदपि भस्मीकर्तुं समर्थमित्यर्थः । 'एवमस्मिन् व्याख्याने न वस्तुनि दोषो न शब्दे' इत्यपि केषाञ्चिन्मतम् ।

कोशः—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः । 'त्रिपु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । 'अथ चक्रं सुदर्शनम्' इत्यमरः । 'प्रहसनमभिभवः' इति वृत्तिकारः ।

समासः—शिलेव निष्ठुरः शिलानिष्ठुरः, शिलानिष्ठुरश्चासौ कण्ठश्चेति शिलानिष्ठुरकण्ठः, बृहंश्चासौ शिलानिष्ठुरकण्ठश्च बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठः, तत्र घट्टनं, तस्मात् बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् (त० पु०) । यद्वा बृहत्पदं शिलाविशेषणम् । तत्र बृहती चाऽसौ शिला बृहच्छिला, सेव निष्ठुरः बृहच्छिलानिष्ठुरः, स चाऽसौ कण्ठश्च तत्र घट्टनं तस्मादिति विग्रहः कर्त्तव्यः । विकीर्णाः लोलाः अग्निकणाः यस्य, तस्मात् येन वा तथोक्तम्—विकीर्णलोलाग्निकणम् (ब० व्री०) । यत्र घट्टनादित्यस्य स्थाने 'घट्टना' इति पाठः, तत्र 'घट्टना' इत्यस्य विकीर्णेत्यादिना सम्वन्धः कार्यः । तथा न बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठे या घटना, तया विकीर्णा लोला अग्निकणा येन तत्तथोक्तमिति विग्रहो विधेयः । सुरान् द्वेष्टि इति सुरद्विट्, तस्य सुरद्विषः । न प्रसहिष्णु (नञ्० त० पु०) । विष्णोरिदं वैष्णवम् । कन्धरायामिति अधिकन्धरम् (अव्ययीभावः) ।

व्याकरणम्—वृहत्—वृह + शतृ 'महद्वृहज्जगच्छतृवच्च' इति निपातः। अप्रसहिष्णु–न + प्र + सह + इष्णुच्। अक्रमत–क्रम + लुङ् + त 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (१।३।३८) इति वृत्तावात्मनेपदम् (वृत्तिरप्रतिबन्धः)। सुरद्विषः–सुर + द्विष् + क्विप्। वैष्णवम्—विष्णु + इदमर्थेऽण्।

हिन्दी—विशाल शिला के समान कठोर (रावण के) कण्ठ में टक्कर लगने से जिसमें से चञ्चल चिनगारियाँ निकल रही हैं (तथा रावण की गर्दन पर) कोई प्रभाव न डालने वाला (अप्रसहिष्णु) विष्णु भगवान् का सुदर्शन चक्र (भी) संसार के स्वामी, देवताओं के शत्रु इस रावण की गर्दन पर प्रयुक्त नहीं हो सका। अर्थात् रावण की गर्दन पर विष्णु के चक्र ने कोई प्रभाव नहीं डाला।

पाठान्तर में—विशाल शिला के समान कठोर (रावण के) कण्ठ में टक्कर लगने से जिसमें से चञ्चल चिनगारियाँ निकल रही हैं तथा जो संसार को अभिभूत करने वाला है, उस विष्णु के सुदर्शन चक्र ने दैत्यों के स्वामी इस रावण की गर्दन पर कोई प्रभाव नहीं डाला॥ ५४॥

रावणस्य कुबेरविजयं दर्शयति—

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥ ५५॥

अन्वयः—सः मदेन दन्ती इव विभिन्नशङ्खः कलुषीभवत् निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकं मनुष्यधर्मणः मानसं मुहुः न प्रकम्पयामास (इति) न।

बालबोधिनी—सः=रावणः। मदेन=दर्पेण, दन्तिपक्षे–इभदानेन। दन्ती =गजः। इव=यथा। विभिन्नशङ्खः=विनाशितशङ्खनिधिः, दन्तिपक्षे—विघट्टितकम्बुः। कलुषीभवत्=क्षुभ्यत्, क्षोभं गच्छत्, पक्षान्तरे—आविलीभवत्। निरस्तगाम्भीर्यम्=निर्धूताविकारित्वम्, पक्षान्तरे—व्यपगतागाधत्वम्। किञ्च—अपास्तपुष्पकं=व्यपगतपुष्पकविमानम्, पक्षान्तरे—निरस्तकुसुमम्, विध्वस्तकुसुमम्। मनुष्यधर्मणः=कुबेरस्य। मानसं=चित्तम्, पक्षान्तरे—तदीयं मानसनामकं सरोवरञ्च। मुहुः=पुनः पुनः। न प्रकम्पयामास न=न क्षोभयामास इति न, किन्तु प्रकम्पयामासैवेति भावः। अत्र श्लेषगर्भितपूर्णोपमालङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः। सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं च भवेद्वाच्यम्' इति।

कोशः—'मदो दर्पेभदानयोः' इति विश्वः। 'कुबेरस्त्र्यम्बकसखो यक्षराड्

गुह्यकेश्वरः । मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः ॥' इत्यमरः । 'मानः सरसि स्वान्ते' इति विश्वः ।

समासः—विभिन्नः शङ्खः येनाऽसौ विभिन्नशङ्खः (ब० व्री०) । न कलुषम् अकलुषम्, अकलुषं कलुषं सम्पद्यमानं भवत् कलुषीभवत् । निरस्तं गाम्भीर्यं यस्य तत् निरस्तगाम्भीर्यम् (ब० व्री०) । अपास्तानि पुष्पाणि (पुष्पकं विमानं च) यस्मात् तत्तथाभूतम् अपास्तपुष्पकम् । मनुष्यस्येव धर्मो यस्य स मनुष्यधर्मा, तस्य मनुष्यधर्मणः ।

व्याकरणम्—दन्ती—दन्त + इनिः । कलुषीभवत्–कलुष् + च्विः + भू + शतृ । अपास्तपुष्पकम्—अपास्तपुष्पक + कप् । प्रकम्पयाभास—प्र + कम्प + णिच् + लिट्—तिप्—णल् । मनुष्यधर्मा—मनुष्य + धर्म + अनिच् 'धर्मादनिच् केवलात्' (५।४।१२४) इति ।

हिन्दी—मद (अभिमान, पक्षान्तर में—मदजल) से शङ्ख (शङ्ख नामक निधि-विशेष, पक्षान्तर में–कम्बु) को तोड़ने वाले हाथी के समान उस रावण ने कलुषित (क्षुब्ध), पक्षान्तर में—पङ्किल होते हुए (एवं) जिसकी गम्भीरता (कष्टादि आने पर सहनशीलता, पक्षान्तर में—अगाधता) नष्ट हो गई है तथा जिससे पुष्पक विमान हटा दिया (छीन लिया) गया है (पक्षा०—जिसके कमलादि फूल नष्ट कर दिये गये हैं) उस कुबेर के मन को (पक्षा०-मानसरोवर को बार-बार नहीं कँपाया हो ऐसा नहीं है (अपितु उसने निश्चय ही कुबेर के मन को बार-बार कम्पित किया) ।

टिप्पणी—जैसे मदोन्मत्त (हाथी ऐरावतादि) साफ-सुथरे गहरे तथा फूलों से लहलहाते हुए मानसरोवर को अपने मदजल से गँदला करते हुए तथा उस सरोवर में मिट्टी आदि डालकर उसकी अगाधता को दूर करते हुए शङ्ख तथा फूलादिकों को तोड़ते हुए उसे चञ्चल बना देता है, उसी प्रकार अभिमानपूर्वक उस रावण ने कुबेर की शङ्ख नामक निधि को लूटकर उसकी गम्भीरता को दूर करते हुए तथा उसके पुष्पक विमान का अपहरण करते हुए (अत एव) व्याकुल बने हुए कुबेर के मन को बार-बार कँपाया ।

शङ्ख–(१) एक विशेष प्रकार की मछली के शरीर की हड्डी होती है, अथवा—मदवाले हाथी की कपाल की उस हड्डी का नाम है, जो हाथी के एक गण्डस्थल से दूसरे गण्डस्थल तक फैली हुई होती है । युवावस्था में जब यह विकसित हो जाती है तब हाथी के कपोलों से मदवारि बहने लगता है । (२

दूसरे पक्ष में—शङ्ख कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि का नाम है। कुबेर की ९ निधियों के नाम ये हैं—

'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥' इति॥

पुष्पक—(१) पुष्पों का समूह, (२) कुबेर का विमान, जो उस पर बैठे हुए मनुष्य की इच्छा पर चलता था। इसे कुबेर को जीतकर रावण ने प्राप्त किया। रावण को मारने के बाद राम को यह विमान भेंट किया गया था, जिस पर बैठकर रामचन्द्रजी सब वानरों सहित अयोध्या लौटे थे।

मानस—(१) मन, (२) मानसरोवर। ब्रह्माजी ने इसका निर्माण अपने मन से किया था, इसीलिये इसका नाम मानस पड़ा। ऐसी पौराणिक कथा है॥ ५५॥

रावणस्य वरुणविजयं दर्शयति—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे॥ ५६॥

अन्वयः—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः यस्य सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः (अत एव) सभयाः जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठं प्रपेदिरे।

बालबोधिनी—रणेषु=युद्धेषु। प्रचेतसा=वरुणेन। प्रहिताः=प्रयुक्ताः। उरगराजरज्जवः=महासर्परज्जवः, नागपाशा इत्यर्थः। तस्य=रावणस्य। सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः=सरोषहुङ्कृतिपरावर्तिताः। अत एव—सभयाः=भयसहिताः, ससाध्वसाः (सत्यः)। जवेन=वेगेन, सत्वरम्। प्रहर्तुः=प्रहारकर्तुः प्रहारकस्य वरुणस्यैव। कण्ठम्=गलम्। प्रपेदिरे=सम्प्राप्ताः। अत्र शत्रुविनाशप्रयुक्तस्य शस्त्रस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः'''तद् विषमं मतम्' इति।

कोशः—'प्रचेताः वरुणः पाशी यादसां पतिरप्पतिः' इत्यमरः। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशन' इत्यमरः। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः।

समासः—उरगाणां राजानः उरगराजाः, उरगराजा रज्जव इव उरगराजरज्जवः, हुङ्कारणं हुङ्कारः, रोषेण सहितं सरोषम्, सरोषं यथा स्यात्तथा हुङ्कारः सरोषहुङ्कारः, पराञ्चि मुखानि यासां ताः पराङ्मुखाः, न पराङ्मुखाः अपराङ्मुखाः, अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः सम्पद्यमानाः कृताः पराङ्मुखीकृताः, सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृताः सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः। भयेन सहिताः सभयाः।

व्याकरणम्—प्रहितः—प्र + हि + क्तः । प्रहर्तुं:—प्र + हृ + कर्तरि तृ
पराङ्मुखीकृताः—पराङ् + मुख + च्वि + कृ + क्तः । प्रपेदिरे—प्र + पद
लिट्—झ—इरे ।

हिन्दी—युद्ध में रावण के द्वारा फेंके गये (रावण को बाँधने के लिये छो
गये परन्तु रावण के द्वारा) क्रोधपूर्वक हुङ्कार से लौटाये गये, रस्सों
समान सर्पराज (अर्थात् नागपाश नामक शस्त्र) भयभीत होकर छोड़ने
वरुण के ही गले को वेगपूर्वक प्राप्त हुए (अर्थात् वरुण के कण्ठ में आ
लिपट गये) ॥ ५६ ॥

रावणस्य यमविजयं दर्शयति—

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महि
भारे हृते अपि महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरः दुःखेन उवाह ।

बालबोधिनी—अमुना = रावणेन । धनुः = शाङ्र्गम्, चापम् । विधातुं =
निर्मातुम् । उत्खातविषाणमण्डलः = उत्पाटितशृङ्गवलयः । परेतभर्तुः = प्रेताधिप
यमस्य । महिषः = यमराजस्य वाहनभूतः सैरिभः, लुलायः । भारे = विषा
मण्डलरूपे भारे । हृतेऽपि = उत्सारितेऽपि । महतः = वृहतः, दुर्भरात् । त्र
भरात् = लज्जाभरात् । भृशानतं = अत्यर्थनम्रम् । शिरः = मूर्धानम्, मस्तक
दुःखेन = क्लेशेन । उवाह = वहतिस्म, दधार । अत्र भारे हृतेऽपि भृशान
मिति विरोधः । तदनुप्राणिता चेयं त्रपाभरस्य शिरोनमनहेतुत्वेनोत्प्रेक्षा ।

कोशः—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमर
'धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट् । कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमरा
यमः' ।

समासः—विषाणयोर्मण्डलं विषाणमण्डलम्, उत्खातं विषाणमण्डलं यस्या
उत्खातविषाणमण्डलः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०) । परेतानां भर्ता परेतभ
तस्य परेतभर्तुः (त० पु०) । त्रपैव भरः त्रपाभरः, तस्मात् त्रपाभरात् ।
यथा स्यात्तथा आनतं भृशानतम्, तत्तथाभूतम् ।

व्याकरणम्—विधातुम्—वि + धा + तुमुन् । परेतभर्तुः—परेत + भृ
तृच् । महतः—मह + अतिप्रत्ययः शतृवद्भावः । उवाह—वह + लिट्—ति

णल्, 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) इति कित्त्वात् 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) इति सम्प्रसारणम् ।

हिन्दी—इस रावण के द्वारा धनुष बनाने के लिए जिसके शृङ्गमण्डल को उखाड़ लिया गया है, उस यमराज के भैंसे ने (सींगों के) भार के हट जाने पर भी मानों लज्जा के महान् भार से अत्यन्त झुके हुए (अपने) सिर को कष्टपूर्वक धारण किया ॥ ५७ ॥

रावणस्य सूर्यविजयमाह—

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ।

बालबोधिनी—अहस्करः=दिनकरः, सूर्यः । शुचौ समये=ग्रीष्मकाले, शुद्धे आचारे । स्थितोऽपि=अवस्थितोऽपि, वर्तमानोऽपि च । असमग्रपातिभिः=असमस्तपतनशीलैः, सङ्कुचितवृत्तिभिः । कराग्रैः=किरणाग्रैः, हस्ताग्रैश्च । सशङ्कः=सभयः । स्पृशन्=आमृशन्, संस्पृशंश्च । अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः=अनुष्णस्वेदजबिन्दुमुक्ताफलैः । अस्य=रावणस्य । वधूः=अङ्गनाः । अलञ्चकार=अभूषयत । अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधकप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्ति' इति ।

कोशः—'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः ।

समासः—शङ्कया सहितः सशङ्कः । कराणाम् अग्राणि कराग्राणि, तैः कराग्रैः (त० पु०) । समग्रं पतन्ति समग्रपातीनि, न समग्रपातीनि असमग्रपातीनि, तैः असमग्रपातिभिः (नञ् त० पु०) । घर्मस्य उदकम् घर्मोदकम्, तस्य बिन्दवः घर्मोदकबिन्दवः, न घर्माः अघर्माः, अघर्माश्च ते घर्मोदकबिन्दवश्च अघर्मघर्मोदकबिन्दवः, ते एव मौक्तिकानि अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकानि, तैः अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः ।

व्याकरणम्—अहस्करः—अहन्=कृ 'दिवाविभानिशा०' (३।२।२१) इत्यादिना टप्रत्ययः, 'अतः कृकमिकंसकुम्भ०' (८।३।४६) इत्यादिना सत्वम् । असमग्रपातिभिः—असमग्र+पत्+ताच्छील्ये णिनिः । अलञ्चकार—अलं+कृ+लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—ग्रीष्मकाल में (पक्षा०—शुद्ध आचरण में) वर्तमान होता भी सूर्य पूरी-पूरी न गिरने वाली अपनी किरणों के अग्र भाग से (हाथों अग्रभाग से) शङ्का सहित स्पर्श करता हुआ इस रावण की स्त्रियों को श्री स्वेदविन्दु रूप मोतियों से अलङ्कृत करता था।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नर्मसचिव (प्रसाधक) शुद्धाचरण हुआ भी रानियों को, 'यदि राजा मुझे हाथ बढ़ाये हुए देख लेंगे तो रुष्ट जायेंगे' इस भय से अच्छी तरह हाथ बढ़ाकर नहीं छूते हुए मोतियों रानियों को सजाता है, उसी प्रकार आषाढ़ मास होने पर सूर्य रावण के से अपनी सम्पूर्ण किरणों से उसकी रानियों को स्पर्श नहीं करता था, थोड़ा-सा तपता था, जिससे रावण की सुकुमारी स्त्रियों के मुखादि पर मो के समान पसीने की बूँदें उन्हें शोभित कर देती थीं। रावण के भय से ग्री काल में भी सूर्य अधिक गर्मी नहीं करता था ॥ ५८ ॥

रावणस्य चन्द्रविजयमाह—

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥ ५९

अन्वयः—कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्य नर्मसाचिव्यं न अकारि (इति) न।

बालबोधिनी—कलासमग्रेण=सम्पूर्णकलेन, पक्षान्तरे—सकलशिल्पकला लेन। गृहान्=रावणसौधानि। अमुञ्चता=अपरित्यजता, सदा तद्गृहे निवासता। मनस्विनीः=मानिनीः। उत्कयितुं=उत्कण्ठयितुम्, सोत्सु कर्तुम्। पटीयसा=चतुरेण, मानिनीमानभङ्गदक्षेण। कुतः ? रतिः=सुरता रागम्। एकत्र—रावणस्य, अपरत्र—स्वामिनः। वितन्वता=वर्द्धयता। ए =चन्द्रिकाभिरपरत्र, चतुरोक्तिभिरित्यर्थः। इन्दुना=चन्द्रेण। विलासि =शृङ्गारिणः। तस्य=रावणस्य। नर्मसाचिव्यं=नर्मसचिवता, सुरतक्री सचिवत्वम्। न अकारि=न कृतम्। इति न, अपितु कृतमेवेति भावः। प्रकृतस्येन्दोरप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः। अत्र नर्मसचिवः पीठमर्दक एव तल्लक्षणं यथा—

'सेवाऽभिज्ञः कलादक्षः शुचिर्वेश्मरतः सदा।
स्यान्नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्रीप्रसादकः ॥' इति ॥

कोशः—'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती। 'क्री

लीला च नर्म च' इत्यमरः। हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः।

समासः—कलाभिः समग्रः कलासमग्रः, तेन कलासमग्रेण। सचिवस्य भावः कर्म वा साचिव्यम्, नर्मणि साचिव्यं नर्मसाचिव्यम् (त० पु०)। विलसितुं शीलमस्येति विलासी, तस्य विलासिनः।

व्याकरणम्—अमुञ्चता—न+मुञ्च+शतृ। उत्कयितुम्—उत्कशब्दात् 'उत्क उन्मनाः' (५।२।८०) इति निपातनात् 'तत्करोति०' (ग०) इति ण्यन्तात्तुमुन्प्रत्ययः। मनस्विनीः—मनस्+विनिः। पटीयसा—पटु+ईयसुन्। वितन्वता+वि+तनु+शतृ। साचिव्यम्—सचिव+ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। अकारि—कृ+कर्मणि लुङ्।

हिन्दी—कलाओं (१६ कलाओं, पक्षा०—सकल ६४ कामकलाओं) से परिपूर्ण उस रावण के घर को न छोड़ने वाले तथा मानिनी स्त्रियों को (उनका मान दूर करके पतियों से मिलने के लिए) उत्कण्ठित करने में निपुण एवं (अपनी चन्द्रिका से, पक्षा०—चतुरता पूर्ण उक्तियों से) रावण के प्रेम को बढ़ाते हुए चन्द्रमा ने विलासी उस रावण के नर्मसचिव (सुरतक्रीडा में सहायक) का कार्य नहीं किया, ऐसा नहीं, अपितु किया ही ॥ ५९ ॥

रावणस्य गणेशविजयं दर्शयति—

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥ ६० ॥

अन्वयः—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनं जातु उद्धृतं वैनायकम् एकं विषाणम् अद्यापि पुनः न प्ररोहति।

बालबोधिनी—मानिना=अहङ्कारिणा। अनेन=रावणेन। विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया=चतुरविलासिनीधारणोचितदन्तमयकर्णभूषणनिर्माणेच्छया। क्वचिद् 'विधित्सया' इत्यस्य स्थाने 'चिकीर्षया' इति पाठस्तत्रापि स एवार्थः। नूनं=निश्चितम्। जातु=कदाचित्। उद्धृतम्=उत्पाटितम्, उत्खातम्। वैनायकं=विनायकसम्बन्धि, गाणपतम्। एकम्=अद्वितीयम्। विषाणं=दन्तः। अद्यापि=इदानीमपि, बहुतिथे काले गतेऽपीत्यर्थः। पुनः=भूयः। न प्ररोहति=न प्रादुर्भवति। अत्र 'रावणेनैव विनायक एकदन्तः कृत' इत्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। सा चोत्प्रेक्षा नूनमित्यनेन व्यज्यते इति वाच्योत्प्रेक्षा।

कोशः—'विषाणं पशु-शृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इत्यमरः। 'कदाचि ज्जातु' इत्यमरः।

समासः—मानोऽस्यास्तीति मानी, तेन मानिना। विदग्धाः लीलाः यासां ता विदग्धलीलाः, अथवा—विदग्धानां लीलाः विदग्धलीलाः, तासामुचिताः विदग्ध लीलोचिताः, विदग्धलीलोचिताश्च ताः दन्तपत्रिकाश्चः विदग्धलीलोचितदन्त पत्रिकाः, विधातुमिच्छा विधित्सा, विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाणां या विधित्सा तया विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया। विनयति अपाकरोति विघ्नानिति विनायकः, विनायकस्येदं वैनायकम्।

व्याकरणम्—विधित्सया—वि + धा + सन्। मानिना—मान + इनिः वैनायकम्—विनायक + अण्। उद्धृतम्—उद् + धृ + क्तः। प्ररोहति—प्र + रुह् + लट्—तिप्।

हिन्दी—इस अहंकारी रावण के द्वारा चतुर लीला वाली स्त्रियों के योग्य दन्तपत्रिका (कान का भूषण जिसे तरकी कहते हैं) बनाने की इच्छा से किसी समय उखाड़ा गया गणेशजी का एक दाँत आज तक भी फिर नहीं उगा है।

टिप्पणी—प्राचीन आख्यानों के अनुसार परशुरामजी के साथ युद्ध करने में गणेशजी का एक दाँत टूट गया था॥ ६०॥

रावणस्य वायुवशीकारमाह—

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः॥ ६१॥

अन्वयः—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे।

बालबोधिनी—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽपि = अन्तःपुरविलासिनीजनान्तरीयचालनस्पष्टापराधेनाऽपि। ऊरुषु=विलासिनीकमनीयसक्थिषु। लोलचक्षुषः=सतृष्णनेत्रस्य। तस्य=रावणस्य। प्रियेण=कृपापात्रेण। प्रकम्पनेन=वायुना। प्रभञ्जनेनेति पाठान्तरेऽपि समान एवार्थः। अनपराधबाधिताः =अपराधाऽभावेऽपि पीडिताः राजपुरुषैरिति शेषः। सुराः=देवाः। अनुचकम्पिरे=अनुकम्पिताः, प्रार्थनादिना गृहीता इत्यर्थः। एकस्य चातुर्याद् बहवो जीवन्तीति भावः।

कोशः—'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः। 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः। 'प्रकम्पनो महावातः' इत्यमरः। 'सक्थिक्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः।

समासः—निशान्ते नार्यः निशान्तनार्यः, तासां परिधानानि निशान्तनारीपरिधानानि, तेषां धूननं निशान्तनारीपरिधानधूननम्, तेन स्फुटः आगो यस्य सः, तेन निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा। लोले चक्षुषी यस्य सः लोलचक्षुः, तस्य लोलचक्षुषः। अनपराधे बाधिताः अनपराधबाधिताः।

व्याकरणम्—धूननम्—धूञो ण्यन्तात् ल्युट् 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति वार्तिकेन नुक्। प्रकम्पनेन—प्र+कम्पि+ल्युट्। अनुचकम्पिरे—अनु+कम्पि+लिट्—झ—इरेच्।

हिन्दी—अन्तःपुरः की नारियों की साड़ियों को उड़ाने के कारण स्पष्ट अपराध वाले भी (किन्तु नग्न जघना स्त्रियों की) जङ्घाओं पर सतृष्ण दृष्टि वाले रावण के कृपापात्र वायु ने विना अपराध के ही (राजपुरुषों द्वारा) पीड़ित देवों पर अनुकम्पा कराई ॥ ६१ ॥

रावणस्याग्निविजयमाह—

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
बभार वाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः॥ ६२॥

अन्वयः—तस्य जनाभिभाविना महीयसां महसां महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः तनुः तनूनपात् आधिजैः वाष्पैः द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभार।

बालबोधिनी—तस्य=रावणस्य। जनाभिभाविना=लोकतिरस्कारिणा। महीयसां=अतिमहताम्। महसां=तेजसाम्। महिम्ना=माहात्म्येन, गौरवेण। मुहुः=पुनः पुनः, भृशम्। तिरस्कृतः=अभिभूतः, पराभूतः। अत एव—तनुः=कृशः। तनूनपात=अग्निः। आधिजैः=मानसव्यथोत्पन्नैः। वाष्पैः=निःश्वासोष्मभिः। द्विगुणीकृतं=द्विरावृतम्, द्विगुणतां नीतम्, घनीभूतम्। धूमवितानं=धूमपुञ्जम्, धूममण्डलम्। बभार=धारयामास, दध्रे। अत्र धूमद्वैगुण्यसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धकथनात् सम्बन्धातिशयोक्तिः। तदुक्तं कुवलयानन्दे—'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्' इति।

कोशः—'वाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इत्यमरः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः। कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' ॥ इत्यमरः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियाऽमुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती।

समासः—जनमभिभवतीति जनाभिभावी, तेन जनाभिभाविना। अतिशयेन महान्ति महीयांसि, तेषां महीयसाम्। महतो भावो महिमा, तेन महिम्ना। तनूं न पातयति (जाठररूपेण शरीरं धारयति) इति तनूनपात्। आधेर्जातानि

अधिजातानि, तैः आधिजैः । द्वौ गुणौ अस्येति द्विगुणम्, अद्विगुणं द्विगुणं सम्पद्यमानं कृतं द्विगुणीकृतम् । धूमस्य वितानं धूमवितानम् ।

व्याकरणम्—जनाभिभाविना—जन + अभि + भू + णिनिः । महीयसाम्-महत् + ईयसुन् । महिम्ना—महच्छब्दात्–'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः । तनूनपात्—'न भ्राट्०' (६।३।७५) इत्यादिसूत्रे निपातनान्नञो नलोपाभावः । तिरस्कृतः—तिरस् + कृ + क्तः । द्विगुणीकृतम्-द्वि + गुण + च्वि + कृ + क्तः । बभार—भृ + लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—उस रावण के समस्त जनों का तिरस्कार करने वाले तथा अत्यन्त महान् तेज की महिमा से बार-बार तिरस्कृत होकर अत एव कृश हुए अग्नि ने मानसिक दुःखों से उत्पन्न आँसुओं के कारण दुगुने बने हुए धूमसमूह को धारण किया ॥ ६२ ॥

रावणस्य नागलोकविजयं वर्णयति—

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥ ६३ ॥

अन्वयः—इद्धं तम् आराधयितुं परस्य मर्माविधं निजं द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः भुजङ्गता न भेजे ।

बालबोधिनी—इद्धं=दीप्तम्, उग्रमित्यर्थः । तं=रावणम् । आराधयितुं=सेवितुम् । परस्य=स्वेतरस्य, जनान्तरस्य । मर्माविधं=मर्मवेधकम्, हृदयादिमर्मस्थलपीडकम् । सूचकपक्षे—कुलाचारादिभेदकम्, परदोषोद्घाटनेन परमव्यथकम् । निजं=स्वकीयम् । द्विजिह्वतादोषं=दशनात्मकं सर्पत्वदोषम्, दृष्टिविषत्वादिकं वा । सूचकपक्षे—पिशुनतारूपं दोषम् । उज्झतां=त्यजताम् । फणिनाम्=सर्पाणाम् । अजिह्मगामिभिः=ऋजुगामिभिः । सूचकपक्षे—करचरणादिमद्विग्रहधारित्वात् सरलगतिभिः, अकपटचारिभिर्वा । सकर्णकैः=चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकारणैरित्यर्थः । सूचकपक्षे—सनियामकैः । कुलैः=समूहैः । भुजङ्गता=सर्पत्वम् । सूचकपक्षे—विटत्वम् । न भेजे=न सिषेवे, किन्तु त्यक्तैवेत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । लक्षणन्तूक्तमेव ।

कोशः—'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः । 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः ।

समासः—मर्माणि विध्यतीति मर्मावित्, तं मर्माविधम्। द्वे जिह्वे स्तो येषां ते द्विजिह्वाः, तेषां भावो द्विजिह्वता, तस्या यो दोषः, त द्विजिह्वतादोषम्। फणाः सन्ति येषां ते फणिनः, तेषां फणिनाम्। जिह्मं गच्छन्तीति जिह्मगामिनः, न जिह्मगामिनः अजिह्मगामिनः, तैः अजिह्मगामिभिः। कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते इति सकर्णकाः, तैः सकर्णकैः। सूचकपक्षे—कर्णयन्ति सर्वं शृण्वन्ति इति कर्णकाः, तैः सहितैः सकर्णकैः। भुजाभ्यां गच्छन्तीति भुजङ्गाः, तेषां भावो भुजङ्गता। पिशुन-पक्षे—भुजं कुटिलं गच्छन्तीति भुजङ्गाः, तेषां भावो भुजङ्गता।

व्याकरणम्—मर्माविधम्-मर्मन्+व्यध+क्विप् 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'नहि वृति०' (६।३।११६) इत्यादिना दीर्घः। उज्झताम्—उज्झ+कर्तरि शतृ। इद्धम्—इन्धी+कर्तरि क्तः। आराधयितुम्—आ+राध+णिच्+तुमुन्। अजिह्मगामिभिः—अजिह्म+गम्+ताच्छील्ये णिनिः। भेजे—भज+लिट्+कर्मणि त—एश्।

हिन्दी—उग्र स्वभाव वाले उस रावण की सेवा करने के लिये दूसरों का मर्मवेधन (हृदय आदि मर्मस्थल को डँसना-काटना, चुगलखोर पक्ष में—कलाचारादि को नष्ट करना) रूप अपने द्विजिह्वता दोष (कटी जीभ वाला होना या दशनादि सर्प का अवगुण, पक्षान्तर में—चुगलखोरी) को छोड़ने वाले तथा कुटिल न चलने वाले (सीधा चलने वाले, पक्षान्तर में—कपटरहित व्यवहार करने वाले) एवं कर्णयुक्त (नेत्रश्रवता को छोड़कर श्रोत्रयुक्त, पक्षान्तर में—नियामक सहित हो जाने वाले) सर्पों के समूह ने, पक्षा०—खलों ने भुजङ्गता (सर्पत्व, पक्षा०—कुटिलता) को ग्रहण नहीं किया अर्थात् छोड़ दिया।

टिप्पणी—रावण के भय से सर्प तथा चुगलखोरों ने अपने-अपने दोषों को छोड़ दिया। **द्विजिह्वता**—(१) दो अर्थात् बीच से कटी हुई जीभ रखना, जैसा कि सर्पों की द्विजिह्वा प्रसिद्ध है। (२) चुगलखोरी आदि से भरी हुई दो प्रकार की बात कहना, पिशुनता रूप दोष। **सकर्णकैः**—(१) 'कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते इति सकर्णकाः'—अर्थात् कान रखने वाले। ऐसा कहा जाता है कि सर्पों के कान नहीं होते। अतः उन्हें 'चक्षुःश्रवसः' नेत्र रूप कर्ण वाला या आँखों से सुनने वाला कहा जाता है। रावण के शासन-काल में सर्पों ने भी कानों को धारण किया, जिससे वे अपने कर्त्तव्यों का भली प्रकार श्रवण करके उनका पालन कर सकें। (२) 'कर्णकेन सह वर्तन्ते इति सकर्णकैः'—अर्थात् नियामक

सहित । कर्णक—जो प्रत्येक वात को सुनता है। किन्तु किसी से प्रभावित नहीं होता है, अर्थात् चुगलखोरों के कहने में नहीं आता है। चुगलखोरों ने रावण के नियन्त्रण में चुगली करना छोड़ दिया, क्योंकि वे नियामक (रावण) से युक्त थे, अर्थात् उसकी सेवा में थे। अतः उनको चुगली करने का साहस नहीं होता था ॥ ६३ ॥

रावणगजकृतदिग्गजविजयेन रावणस्य सकलभुवनविजयमाह—

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि ।

बालबोधिनी—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=रावणीयकुञ्जरपङ्क्तिप्रेरितैः =रावणगजसमूहाभिहतैः । अत एव—कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः=गण्डस्थलापगतमदजलैः । गृहीतदिक्कैः=आश्रितदिग्भिः, पलाय्य गृहीतदिगन्तैरित्यर्थः । अपुनर्निवर्तिभिः=पुनरागमनरहितैः । दिग्गजैः=दिशामातङ्गैः, ऐरावतादिभिः । चिराय=चिरेण, कल्पान्तं यावत् । याथार्थ्यम्=अन्वर्थत्वम्, दिक्षु स्थिताः गजाः दिग्गजा इति नाम्नः सार्थकत्वम् । अलम्भि=लब्धम्, अधिगतम् ।

कोशः—'गजानां घटना घटा' इत्यमरः । 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः । 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः । 'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः' ॥ इत्यमरः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः ।

समासः—तस्येमे तदीयाः, तदीयाश्च ते मातङ्गाः तदीयमातङ्गाः, तेषां याः घटाः ताभिः विघट्टिताः, तैः तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः (त० पु०) । कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषां तैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः (ब० व्री०) । गृहीताः दिशः यैस्तैः गृहीतदिक्कैः (ब० व्री०) । न पुनर्निवर्तन्ते इति अपुनर्निवर्तिनः, तैः अपुनर्निवर्तिभिः (नञ् त० पु०) । अर्थमनतिक्रम्येति यथार्थमाह, यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम् । दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजाः, तैः दिग्गजैः, शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः ।

व्याकरणम्—गृहीतदिक्कैः—गृहीत+दिश 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप्प्रत्ययः । अपुनर्निवर्तिभिः—न पुनर्–नि+वृतु+णिनिः । याथार्थ्यम्–

यथार्थ + अर्शादित्वान्मत्वर्थेऽच् ततः ष्यञ् । अलम्भि—लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् 'विभाषा चिण्णमुलोः' (७।१।६७) इति विकल्पान्नुमागमः ।

हिन्दी—रावण के गजसमूह से ताडित अतएव जिनके गण्डस्थल से मद-जल दूर हो गया है तथा जिन्होंने (भागकर) अपनी दिशाओं को ग्रहण कर लिया है और जो (रावण के हाथियों के भय से) पुनः नहीं लौटे, उन दिग्गजों ने चिरकाल तक (दिग्गज नाम की) यथार्थता को प्राप्त किया ।। ६४ ।।

रावणस्य सुराङ्गना-विलासमाह—

अभीक्षणमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ।। ६५ ।।

अन्वयः—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न निर्ववौ ।

बालबोधिनी—सोष्मणः=कामज्वरसहितस्य । तस्य=रावणस्य । वपुः=शरीरम् । अभीक्ष्णम्=अत्यन्तम्, भृशम् । उष्णैरपि=सन्तप्तैरपि । सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः=सुराधिपवन्दीभूतसुन्दरीनिःश्वासपवनैः । यथा=यादृशम् । निर्ववौ=निर्वृत्तम्, शान्तिमाप । तथा=तादृशम् । सचन्दनाम्भःकणकोमलैः=चन्दनसहितजलबिन्दुमृदुभिः । जलार्द्रापवनैः=जलोक्षिततालवृन्तवायुभिः । न निर्ववौ=नानन्दं लेभे । अत्रोष्णनिःश्वासरूपकारणेन सन्तापनिवृत्तिरूपस्य विरुद्ध-कार्यस्योत्पत्तिवर्णनाद् विषमालङ्कारः । तदुक्तं कुवलयानन्दे—'विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्' इति ।

कोशः—'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती । 'त्रवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपं व्यञ्जनं च तत् । जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती । 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् । पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।। कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम् । अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' ।। इत्यमरः ।

समासः—उष्मणा सहितः सोष्मा, तस्य सोष्मणः । सुराणामिन्द्रः सुरेन्द्रः, तस्य या वन्द्यः सुरेन्द्रवन्द्यः, तासां यानि श्वसितानि, तेषां अनिलास्तैः सुरेन्द्र-वन्दीश्वसितानिलैः (त० पु०) । चन्दनेन सहितानि सचन्दनानि, तानि च तानि अम्भांसि सचन्दनाम्भांसि, तेषां कणाः तैः ये कोमलाश्च तैः सचन्दनाम्भः-कणाः, ते च ते कोमलाश्च तैः सचन्दनाम्भःकणकोमलैः । जलार्द्रायाः पवनाः जलार्द्रापवनाः, तैः जलार्द्रापवनैः (त० पु०) ।

व्याकरणम्—निर्ववौ—निर्+वा+लिट्—तिप्—णल् ।

हिन्दी—कामज्वर से सन्तप्त उस रावण का शरीर (दुःख के कारण) अत्यन्त गर्म इन्द्र की बन्दिनी बनाई गई सुन्दरियों के निःश्वास वायु से जितना आनन्दित हुआ, उतना चन्दनयुक्त जलकणों से मृदु एवं मनोहर जल से सिक्त पंखे की वायु से आनन्दित नहीं हुआ ।

टिप्पणी—इस श्लोक पर एक अन्य टीकाकार ने बड़ा अकाण्ड ताण्डव किया है । विद्वान् टीकाकार ने वन्दी शब्द का अर्थ बाँदियाँ किया है, जो उनकी साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म तत्त्वों की अनभिज्ञता को प्रकट करता है । विजयी राजा हारे हुए राजादिकों की स्त्रियों को ही अपहरण करके अपने यहाँ रखा करते हैं, न कि विजितों की दासियों को । क्योंकि दूसरे राजाओं की दासियों को पकड़वाकर अपने घरादि में रखना विजयी राजा की अत्यन्त तुच्छता को प्रकट करता है । यदि कहें कि रावण कामी एवं विलासी है तो भी एक लोकविजयी राजा के लिए विजित राजाओं की स्त्रियों को ही अपने यहाँ रखना उचित हो सकता है । दासियों (बाँदियों) को नहीं । दूसरे नारदजी रावण के लोकातिशायी पराक्रम को एवं स्वाभिमानता का कथन कर रहे हैं, जो कि देवों की नारियों को बन्दी बनाने से ही प्रकट होता है, न कि बाँदियों को, क्योंकि देवाङ्गनाओं को बन्दी बनाने का अर्थ है—देवों को पराजित करना एवं अत्यन्त तुच्छ समझना ।

टीकाकार ने रावण के कामज्वर की शान्ति में देवाङ्गनाओं के गर्म श्वासों की उपयुक्तता इसलिये कही है कि वे गर्म हैं और गर्म वस्तु का उपचार ज्वर में लाभ्प्रद है, न कि चन्दनादि शीतल पदार्थों का उपचार । इस प्रकार तो उनके मत में रावण के जेल में पड़े हुए पीड़ित पुरुषों के गर्म श्वास भी रावण के कामज्वर को शान्त करने में समर्थ होंगे; क्योंकि वे भी तो गर्म ही हैं ? अहह ?? कैसा सुन्दर समाधान है ??? वास्तविक बात तो यह है कि कामज्वर की शान्ति तो कामिनियों से अथवा—इन स्त्रियों की चेष्टाओं या क्रियाओं से ही हो सकती है, गर्म वस्तुओं से नहीं । इसलिये 'वन्दीश्वसितानिलैः' बन्दीभूत सुन्दरियों की श्वासों से, ऐसा कहा ॥ ६५ ॥

रावणस्य कालविजयमाह—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सदा प्रसूनक्लृप्तिं दधतः ऋतवः वर्षाः तपेन, हिमागमः शरदा, शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ।

बालबोधिनी—सदा = सर्वकाले, नित्यम्, न तु यथाकालमित्यर्थः । प्रसूनक्लृप्तिं = पुष्पसम्पत्तिम् । दधतः = धारयन्तः, बिभ्रतः । क्वचित् 'प्रसूनक्लृप्तं ददतः' इति पाठस्तत्र—प्रसूनं = पुष्पफलं तदेव क्लृप्तं = भाटकं, ददतः = ददानाः । ऋतवः = वसन्तादयः षड् ऋतवः । वर्षाः = प्रावृट् ऋतुः स्त्री । तपेन = ग्रीष्मेन पुंसा । हिमागमः = हेमन्तर्तुः पुमान् । शरदा = शरदृतुना नार्या सह । शिशिरः = शिशिरर्तुः भर्ता । वसन्तलक्ष्म्या=वसन्तर्तुशोभया पत्न्या सह । चेति समुच्चये । पुरे = नगरे, लङ्कायामित्यर्थः । वास्तव्यकुटुम्बितां = प्रतिवासित्वम्, नागरिकताम् । ययुः = प्रापुः । क्वचित् 'दधुः' इति पाठः, अर्थे तु न विशेषः । अत्र पुरे युगपत्सर्वर्तुसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः, लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ।

कोशः—'स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः । 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—हिमस्य आगमः यस्मिन् सः हिमागमः (ब० व्री०) । वसन्तस्य लक्ष्मीः वसन्तलक्ष्मीः, तया वसन्तलक्ष्म्या (त० पु०) । प्रसूनानां क्लृप्तिः प्रसूनक्लृप्तिः, तां प्रसूनक्लृप्तिम् । वसन्तीति वास्तव्याः, कुटुम्बानि सन्ति एषामिति कुटुम्बिनः, वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनः वास्तव्यकुटुम्बिनः, तेषां भावः, तां वास्तव्यकुटुम्बिताम् ।

व्याकरणम्—दधतः—धा + शतृ—अभ्यस्तत्वान्नुमभावः । समेत्य–सम् + इ + क्त्वा—ल्यप् । ययुः—या + लिट्—झि—उस् ।

हिन्दी—सदा (अपने-अपने नियत समय से अतिरिक्त समय में भी) पुष्पश्री-को धारण करते हुए छः ऋतुएँ—ग्रीष्म से वर्षा, शरद् से हेमन्त और वसन्त की शोभा से शिशिर ऋतु (दाम्पत्य भाव से) मिलकर इस रावण की नगरी (लङ्कापुरी) में वसने वाले कुटुम्बियों के भाव (दाम्पत्य भाव या नागरिकता को प्राप्त कर लिया । अर्थात् लङ्कापुरी के कुटुम्बी बन गये ।

टिप्पणी—यहाँ श्रीमाघ ने दो-दो ऋतुओं के मिलने का वर्णन किया है । इसमें से एक अर्थात् कोमल कान्ति वाली ऋतु (वर्षादि) का वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किया है तथा द्वितीय प्रचण्ड ऋतु (तप = ग्रीष्म, आदि)

वाचक शब्द पुंल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। इससे दाम्पत्य भाव प्रगट होता है। वर्षा, शरद् और वसन्त से स्वभावतः पुष्पसमृद्धि होती है। ये तीनों क्रमशः ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिर से मिलती हैं तो ऋतुएँ पुष्पसमृद्धि से युक्त हो जाती हैं ॥ ६६ ॥

'स चाऽऽसन्नमृत्युः तुभ्यमपि द्रुग्ध्वा त्वयैव हतः' इति वक्तुकामः प्रथमं तस्य रामदारापहारकत्वं दर्शयति—

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अमानवम् अजं मनोः कुले जातं प्रभाविनम् (भवन्तम्) आत्मनः अन्तं भाविनं जानन् अपि यः जानकीं न मुमोच, हि मानिनः सदा अभिमानैकधनाः भवन्ति।

बालबोधिनी—अमानवम्=अमानुषम्। अजं=नित्यम्। मनोः=एतन्नामकस्य राजर्षेः। कुले=वंशे, सूर्यवंशे इत्यर्थः। जातम्=उत्पन्नम्, रामचन्द्ररूपेणावतीर्णम्, विरुद्धं चैतत्–यो हि जातः स कथमजो भवेत्? यश्च मनुवंशे समुत्पन्नः सः कथममानवः? इति विरोधं समापतति। स चाभासत्वेन विरोधाभासोऽलङ्कारः। अत एवाह—प्रभाविनं=महाप्रभावशालिनम्। महाप्रभावे तस्मिन् कश्चिद्विरोध इति भावः। भवन्तमिति शेषः। आत्मनः=स्वस्य, रावणस्येत्यर्थः। अन्तं=विनाशकम्। भाविनं=भविष्यन्तम्। जानन्नपि=त्वत्तो विदन्नपि यः=रावणः। जानकीं=जनकसुताम्, भवत्पत्नीं सीतामित्यर्थः। न मुमोच=न तत्याज। हि=यतः। मानिनः=मानवन्तः। सदा=सर्वदा। अभिमानैकधनाः=अभिमानमात्रसाराः। भवन्तीति शेषः। ते हि मृत्यावपि प्राप्ते मानं न त्यजन्तीति भावः। अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः॥' इति।

कोशः—'मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' इत्यमरः।

समासः—मनोरयं मानवः, न मानवः अमानवः, तम् अमानवम् (नञ् त० पु०)। प्रकृष्टो भावः प्रभावः, सोऽस्यातीति प्रभावी, तं प्रभाविनम्। अवश्यं भविष्यतीति भावी, तं भाविनम्। जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी, तां जानकीम्। अन्तं करोति—अन्तयति इति अन्तः, तम् अन्तम्। अभिमान एव एकं धनं येषां ते अभिमानैकधनाः।

व्याकरणम्—जानन्=ज्ञा+कर्तरि शतृ। प्रभाविनम्—प्रभाव+इनिः णिनिर्वा। जानकीम्—जनक+अण्+ङीष्। मुमोच—मुच+लिट्+तिप्—णल्।

हिन्दी—मानव भिन्न तथा जन्मरहित (होते हुए भी मनुष्य रूप में—) मनु के कुल में उत्पन्न तथा अत्यन्त प्रभावशाली आपको अपना अवश्य ही मारने वाला जानते हुए भी जिस रावण ने सीता को नहीं छोड़ा। क्योंकि मानी पुरुषों का अभिमान ही मुख्य धन होता है ॥ ६७ ॥

रावणस्य रामावतारे कृतं वधं वर्णयति—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन् भवानमुं वनान्ताद् वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥६८॥

अन्वयः—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति अदः स्मरति किम् ?

बालबोधिनी—भवान्=त्वम्। दाशरथिः=दशरथापत्यं रामः। भवन्=सन्। वनान्तात्=दण्डकारण्यात्। वनितापहारिणम्=सीतापहर्तारम्। अमुं=रावणम्। आबद्धचलज्जलाविलं=बद्धसेतुत्वाच्चञ्चलजलपङ्किलम्। आविद्धचलज्जलाविलामिति पाठे पर्वतन्यासोत्क्षुभितचञ्चलजलकलुषमित्यर्थः। पयोधिं=सागरम्। विलङ्घ्य=उल्लङ्घ्य, समुत्तीर्य। लङ्कां निकषा=लङ्कायाः समीपे। हनिष्यति=अवधीत्। अदः=एतत्, रावणहननम्। (भवान्) स्मरति=प्रत्यभिजानाति किम् ?

कोशः—'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः॥ रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपां पतिः' इत्यमरः। 'समयानिकषाब्दौ च सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः।

समासः—वनस्यान्तः वनान्तः, तस्मात् वनान्तात् (त० पु०)। वनिताम् अपहरतीति वनितापहारी, तं वनितापहारिणम्। चलन्ति जलानि यस्य सः चलज्जलः, आबद्धश्च चलज्जलश्च आबद्धचलज्जलः, स चाऽसौ आविलश्च आबद्धचलज्जलाविलः। पयांसि धीयन्ते अस्मिन्निति पयोधिः, तं पयोधिम्। दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः।

व्याकरणम्—दाशरथिः—दशरथशब्दादपत्यार्थे 'अत इञ्' (४।१।९५)इति इञ्प्रत्ययः। पयोधिः—पयस्पूर्वाद् धाधातोः 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इति किप्रत्ययः। हनिष्यति—हन्धातोः 'अभिज्ञावचने लृट्' (३।२।११२)

इति भूते लट्, ततः लट्कार्यम् । लङ्कां निकषा—'अभितःपरितःसमयानिक हाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन द्वितीया ।

हिन्दी—आपने दशरथ-पुत्र होते हुए दण्डक वन से (अपनी) पत्नी का अपहरण करने वाले इस रावण को, पुल बाँधने से चञ्चल जल वाले क्षुब्ध समुद्र को लाँघकर लंका के पास में मारा था । यह (इस बात आप स्मरण करते हैं क्या ? ॥ ६८ ॥

एष शिशुपाल रावण एवेति नटदृष्टान्तेन समर्थयति—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥ ६

अन्वयः—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकाम् इव अप उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा (सन्) सः अपि परैः प्रतीयते ।

बालबोधिनी—अथ=रावणदेहत्यागानन्तरम् । सम्प्रति=इदानीम् । छल परः=वञ्चनाप्रधानः, परप्रतारणपरायणः । एषः=रावणः । शैलूषः=नट भूमिकामिव=रूपान्तरमिव, पात्रान्तरमिव । अपराम्=अन्याम् । उपपत्ति रूपम्, जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य=गृहीत्वा, लब्ध्वा । शिशुपालसंज्ञया शिशुपालनाम्ना । तिरोहितात्मा=तिरोहितस्वरूपः सन्, संवृतदेहः सन् । सो स एव=रावण एव, सन्नपि । परैः=अन्यैः लोकैः । असः=तद्भिन्न ए प्रतीयते=ज्ञायते ।

कोशः—'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'शैलूषो भिल्लयोः' इति विश्वः ।

समासः—छलनायां परः (तत्परः) छलनापरः (त० पु०) । अथवा छलना परं प्रधानं वस्तु यस्य सः छलनापरः (व० व्री०) । तिरोहितः आ यस्य येन वेति तिरोहितात्मा । शिशुपाल इति या संज्ञा, तया शिशुपालसंज्ञ न सः असः (नञ्समासः) ।

व्याकरणम्—शिलूषस्य ऋषेरपत्यं पुमान् शैलूषः—शिलूष+अ प्रतीयते—प्रति+इ+कर्मणि लट्—त ।

हिन्दी—इसके बाद (रावण के शरीर को छोड़ने के पश्चात्) दूसरों छलने में तत्पर वह रूपान्तर को धारण करने वाले नट के समान दूसरे को प्राप्त करके, इस समय शिशुपाल नाम से अपने स्वरूप को छिपाये हुए रावण होते हुए भी अन्य जनों को दूसरा ही प्रतीत होता है ॥ ६९ ॥

शिशुपालस्वरूपमाह—

स बाल आसीद् वपुसा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥ ७० ॥

अन्वयः—सः बालः सन् वपुषा चतुर्भुज आसीत्, मुखेन पूर्णेन्दुनिभः (आसीत्) त्रिलोचनः (आसीत्), सम्प्रति युवा सः कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असंशयं रविः (अस्ति) ।

बालबोधिनी —सः =शिशुपालः । बालः सन् =शिशुरेव, बाल्यावस्थायामित्यर्थः । वपुषा=शरीरेण । चतुर्भुजः =भुजचतुष्टयवान्, चतुष्करः । आसीत् । मुखेन =आननेन । पूर्णेन्दुनिभः =पूर्णचन्द्रसदृशः । आसीत् । त्रिलोचनः = त्रिनेत्रः । आसीत् । बाल इति विशेषणात् सम्प्रति तत्सर्वं तिरोहितमिति भावः । सम्प्रति = इदानीम् । युवा =तरुणः सन् । सः=शिशुपालः । कराक्रान्तमहीभृत्= करदीकृतभूपालः, दण्डपराभूतमहीश्वरः । सूर्यपक्षे—किरणाधिष्ठितभूधरः, अंशुव्याप्तशैलः । उच्चकैः =अतिमहता । तेजसा =प्रतापेन । असंशयम् =निश्चितम्, ध्रुवम् । रविः =सूर्य एव । अस्तीत्यर्थः । उक्तं च—

'शिशुपालः पुरा जातस्त्रिनेत्रश्च चतुर्भुजः ।
पितरौ वाऽथ तं दृष्ट्वा हातुं वै चक्रतुर्मतिम् ॥
उच्चचाराथ नभसि वागेवमशरीरिणी ।
नैष त्याज्यो महाराज ! श्रीमान् वीरो भविष्यति ॥
स चैष वधको भावी यं दृष्ट्वा निपतिष्यतः ।
बाहू नेत्रं च सहसा तद् बुद्ध्वा 'पाल्यतामयम् ॥' इति ।

अत्रार्थान्तरप्रतीत्या तस्य (शिशुपालस्य) सर्वदेवमयत्वमुक्तम् । चतुर्भुजः = नारायणः, इन्दुः =शशिः, त्रिलोचनः = शिवः, रविः =सूर्यः । अत्र तेजसेत्यनेन शिशुपालस्य रविस्वरूपेणोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । सा चोत्प्रेक्षा कराक्रान्तेत्यादिश्लेषेणानुप्राणिता । 'पूर्णेन्दुनिभः' इत्यत्र चोपमालङ्कारः । उभयोरपि उपमोत्प्रेक्षयोः तिलतण्डुलन्यायेन नैरपेक्ष्येणावस्थानात् संसृष्टिरलङ्कारः ।

कोशः—'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । 'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः ।

समासः—चत्वारः भुजा यस्य सः चतुर्भुजः (ब० व्री०) । पूर्णश्चाऽसौ इन्दुश्च पूर्णेन्दुः, पूर्णेन्दुना तुल्यः पूर्णेन्दुनिभः । त्रीणि लोचनानि यस्याऽसौ त्रिलोचनः (ब० व्री०) । करैः आक्रान्ता महीभृतः येन सः कराक्रान्तमहीभृत् । अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत् तथा असंशयम् ।

व्याकरणम्—महीभृतः—मही + भृ + क्विप् । आसीत्—अस् + लङ्, तिप् + इट् ।

हिन्दी—वह शिशुपाल बालक होते हुए अर्थात् बचपन में शरीर से च भुजा वाला था, मुख से पूर्ण चन्द्र के सदृश था तथा तीन नेत्र वाला था। समय युवा होने पर वह करग्रहण द्वारा राजाओं को वशीभूत करने वा (सूर्यपक्ष में—अपनी किरणों द्वारा पर्वतों को आक्रान्त करने वाला) अ अत्यधिक तेज से सूर्य (के तुल्य) हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ शिशुपाल को चतुर्भुज शब्द से विष्णु, इन्दु शब्द से चन्द्र त्रिनेत्र शब्द से शिव तथा रवि शब्द से सूर्य के रूप में व्यञ्जित किया इससे शिशुपाल का सर्वदेवमयत्व प्रकट होता है।

शिशुपाल की माता सात्वती राजा कुन्तिभोज की पुत्री थी, जो श्रीकृष्ण पिता वसुदेव की चचेरी बहन थी। जब शिशुपाल उत्पन्न हुआ तो उसकी च भुजाएँ तथा तीन नेत्र थे। उसे इस प्रकार का देखकर सात्वती डरी और कहीं दूर छोड़ना चाहा। उसी समय आकाशवाणी से यह सुनाई पड़ा कि एक बलवान् राजा होगा। इसको जिसकी गोद में रखने से तुरन्त ही इ दो हाथ और तीसरा नेत्र अदृश्य हो जायँ, वही इसको मारने वाला होग अतः जो व्यक्ति शिशुपाल को देखने के लिए आता था, सात्वती उसी गोद में उसे रख देती थी। एक बार जब श्रीकृष्ण अपनी बूआ सात्वती मिलने आये तो सात्वती ने उनकी गोद में शिशुपाल को रख दिया। उसी समय उसकी दो भुजाएँ और तीसरा नेत्र अदृश्य हो गये। अब सात्व ने समझ लिया कि इसकी मृत्यु इन्हीं के हाथों से होगी। अतः उसने भगव श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि यह तुम्हारा फुफेरा भाई है, अतः इसके अपर को आप क्षमा करें। तब श्रीकृष्ण ने सात्वती के समक्ष शिशुपाल के अपराध क्षमा करने की प्रतिज्ञा की ॥ ७० ॥

शिशुपालस्य देवताप्रसादाभावेऽपि अद्वितीयपराक्रमत्वमाह—

> **स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।**
> **दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ ॥ ७१ ॥**

अन्वयः—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ।

बालबोधिनी—यदृच्छया=स्वेच्छया । स्वयम्=आत्मनैव । सुरदैत्यरक्ष

देवदानवराक्षसानाम्। अनुग्रहावग्रहयोः = प्रसाददण्डयोः। 'अनुग्रहापग्रहयोः' इति पाठे प्रसादापमानयोरित्यर्थः। विधाता = विधायकः, कर्त्ता। असौ = शिशुपालः। अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्=अर्चितदेवतादत्तपराक्रमातिशयान्। दशाननादीन् = रावणहिरण्यकशिप्वादीन्। हसति = उपहसति।

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः इत्यमरः। 'असुराः दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः।

समासः—सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति सुरदैत्यरक्षांसि, तेषां सुरदैत्यरक्षसाम् (द्वन्द्वः)। अभिराद्धाभिः देवताभिः वितीर्णः वीर्यातिशयः येषां येभ्यः वा, तान् अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् (ब० व्री०)। दश आननानि यस्याऽसौ दशाननः, दशाननः आदिर्येषां, तान् दशाननादीन् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विधाता—वि + धा + तृच्। हसति—हस + लट्—तिप्।

हिन्दी—अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं ही देव, दानव तथा राक्षसों के प्रसाद एवं दण्ड को करने वाला वह शिशुपाल, आराधित (शिवादि) देवताओं के (वरदान के) द्वारा प्राप्तातिशय पराक्रम वाले रावणादिकों का उपहास करता है।

टिप्पणी—सुर, दैत्य एवं राक्षस ये तीन भिन्न-भिन्न जाति के माने जाते हैं। सुर—दक्ष की पुत्री अदिति तथा कश्यप की सन्तान सुर कहे जाते हैं। दैत्य—दक्ष की पुत्री दिति तथा कश्यप के पुत्र दैत्य कहलाते हैं। इन्होंने अनेक वार देवताओं को भी परास्त किया था। उन्हीं में बलि तथा हिरण्याक्ष जैसे प्रभावशाली योधा हुए हैं। राक्षस—दक्ष की पुत्री खशा एवं कश्यप की सन्तान हैं। अन्य मत के अनुसार ये पुलस्त्य की सन्तान हैं॥ ७१॥

शिशुपालस्य संसारपीडकत्वमाह—

बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥७२॥

अन्वयः—जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुना अपि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते। सती योषित् इव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेषु अपि पुमांसम् अभ्येति।

बालबोधिनी—जिगीषुणा—विजयेच्छुना, जयशीलेन, नित्योत्साहवतेत्यर्थः। तेन = शिशुपालेन। बलावलेपात् = बलदर्पात्। अधुना = इदानीमपि। जगत् = भुवनम्। प्रबाध्यते = प्रपीड्यते। तथाहि—सती=पतिव्रता। योषिदिव=नारीव। सुनिश्चला = ध्रुवा, स्थिरतरा। सुनिश्चितेति पाठे सदभ्यस्तेत्यर्थः। प्रकृतिः =

स्वभावः । भवान्तरेष्वपि=जन्मान्तरेष्वपि । पुमांसं=पुरुषम् । अभ्येति= प्राप्नोति । 'अन्वेति' इति पाठान्तरे अनुगच्छतीत्यर्थः । उक्तं च भगवता मनुना

'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता ।
सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति ।

अत्र योषिदेवेत्यत्रोपमालङ्कारः । किञ्चोत्तरार्धोक्तेन सामान्यार्थेन पूर्वार्धोक्तस्य विशेषार्थस्य समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः' इत्यमरः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा ॥' इत्यमरः ।

समासः—वलस्य अवलेपः बलावलेपः, तस्मात् बलावलेपात् (त० पु०) जेतुमिच्छुः जिगीषुः, तेन जिगीषुणा । सुष्ठु निश्चला सुनिश्चला । अन्ये भवाः भवान्तराणि, तेषु भवान्तरेषु (त० पु०) ।

व्याकरणम्—जिगीषुणा—जि+सन् 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२।१६८) इति उप्रत्ययः । पूर्ववत्—पूर्वशब्दात् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः । प्रबाध्यते—प्र+बाध् कर्मणि लट्—त । अभ्येति—अभि+इ+लट्—तिप् ।

हिन्दी—विजय की इच्छा करने वाला वह शिशुपाल बल के गर्व से इस समय भी पहले (रावणादि पूर्व जन्म की अवस्था) के समान संसार को पीड़ित कर रहा है, (क्योंकि) पतिव्रता नारी के समान स्थिर स्वभाव (प्रकृति) दूसरे जन्म में भी उसी (पूर्व जन्म के) पुरुष को प्राप्त कर लेता है ॥ ७२ ॥

अथ फलितमाह—

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो निपातनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तत् विधेः उल्लङ्घितशासनम् एनं कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि हि शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः असाधवः सतां निपातनीयाः ।

बालबोधिनी—तत्=तस्मात् कारणात् । विधेः=विधातुः, ब्रह्मणः । उल्लङ्घितशासनम्=अतिक्रान्ताज्ञम् । एनं=शिशुपालम् । कीनाशनिकेतनातिथिं=यमगृहाभ्यागतम्, यमराजसदनप्राघुणिकम् । विधेहि=कुरु, व्यापादयेत्यर्थः । हि=यतः । शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः=अशुभाचारपरिपक्वविपदः, स्वाशुभाचारपरिप्राप्तविपत्तयः । असाधवः=दुर्जनाः, दुष्टाः । सतां=सज्जनानाम् । निपात-

नीयाः=मारणीयाः, वध्याः। 'विपादनीया' इति पाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः। 'तदेनमि'त्यस्य स्थाने तमेनमिति पाठान्तरे—तं=चैद्यम्, शिशुपालम्। एवं= पूर्वोक्तप्रकारेण विधेस्त्यक्ताज्ञमिति योज्यम्। अत्राऽपि पूर्ववत् सामान्येन विशेष-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। 'अतिथिर्ना गृहागते' इत्यमरः। 'कीनाशः कर्कशे क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः।

समासः—उल्लङ्घितं शासनं येनाऽसौ उल्लङ्घितशासनः, तम् उल्लङ्घितशासनम् (ब० व्री०)। कीनाशस्य निकेतनं कीनाशनिकेतनम्, तस्य अतिथिः, तं कीनाशनिकेतनातिथिम् (त० पु०)। शुभादितरः शुभेतरः, शुभेतरश्चाऽसौ आचारश्च शुभेतराचारः, विपाकेन निर्वृत्ताः विपक्त्रिमाः, शुभेतराचारेण विपक्त्रिमाः आपदो येषां ते शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः (त० पु० गर्भ० ब० व्री०)। न साधवः असाधवः (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—वि+धा+लोट्—सिप्—हि। विपक्त्रिमाः—विपूर्वात् पच्-धातोः 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।४८) इति क्त्रिप्रत्ययः, 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति वार्तिकेन तद्धितो मम् प्रत्ययः। निपातनीयाः—नि+पत+णिच्+अनीयर्।

हिन्दी—इसलिये (देव, दैत्य तथा राक्षसों के अनुग्रह तथा निग्रह को स्वेच्छापूर्वक स्वयं करने से) ब्रह्मा की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले (संसार की मर्यादा को तोड़ने वाले) इस शिशुपाल को आप यमराज के घर का अतिथि बनाइये अर्थात् इसको मार डालिये। क्योंकि अशुभ आचरण से परिपक्व आपत्ति वाले दुष्ट, सज्जनों के मारने योग्य होते हैं।

टिप्पणी—'शुभेतराचार०' इत्यादि विशेषण का अभिप्राय यह है कि ऐसे दुष्टों का सर्वनाश तो अपने दुराचार (पाप) के परिपाक से ही हो जाता है, आप (कृष्ण) जैसे सज्जन तो उनके मारने में निमित्त मात्र हुआ करते हैं। कहा भी है—'अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते' इति ॥ ७३ ॥

अथ दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहोऽपि स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयं पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं दधातु।

बालबोधिनी—अरिवधोदयात्=शत्रुविनाशलाभात्, रिपुनाशरूपाभ्युदयात्। उदूढद्रढिम=धृतदार्ढ्यम्। 'अवाप्तद्रढिमे'ति पाठे प्राप्तदृढत्वमित्यर्थः। 'उपोढद्रढि-

मे'ति पाठेऽपि स एवार्थः। पुरन्दरस्य=इन्द्रस्य। हृदयं=वक्षःस्थलम्। पुन भूयः। घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं=निविडरोमाञ्चशा कुचाग्रत्वरितालिङ्गननिपीडनसहत्वम्। दधातु=धारयतु, वहतु। पूर्वं शिशुपा भयाच्चित्तविक्षेपेण त्यक्तभोगेनेन्द्रेण भवत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भु तामित्यर्थः। अत्रोदूढद्रढिमेति विशेषणेन प्राप्तस्य दाढर्यपदार्थस्य निपीडनक्षम प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। किञ्च—हृदयनिपीड क्षमत्वसम्बन्धेऽपि असम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्का वृत्त्यनुप्रासश्च। एषां त्रयाणामपि परस्परनैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्या संसृष्टिः। पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरग पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात्।

कोशः—'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः। वृद्धश्रवाः सुनासी पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः।

समासः—अरेः वधः अरिवधः, स एवोदयः, तस्मात् अरिवधोदयात् (त पु०)। उदूढः द्रढिमा येन तत् उदूढद्रढिम (ब० व्री०)। पुरः=शत्रुपुरी दारयतीति पुरन्दरः। घनः पुलको ययोस्तौ घनपुलकौ, कुचयोः अग्रौ कुचाग्रौ पुलोम्नः जाता पुलोमजा, पुलोमजायाः कुचाग्रौ पुलोमजाकुचाग्रौ, घनपुलकौ तौ पुलोमजाकुचाग्रौ घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रौ, तयोः द्रुतं यः परिरम (आलिङ्गनम्), तेन तत्र वा यन्निपीडनं तस्य क्षमत्वं तत्तथाभूतम्, घनपुल पुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिनिपीडनक्षमत्वम्।

व्याकरणम्—द्रढिमा—दृढधातोः 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२ इति इमनिच्प्रत्ययः 'र ऋतोहलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इति रभावः। दधातु धा+लोट्—तिप्।

हिन्दी—शत्रु शिशुपाल का वध हो जाने के कारण दृढ़ता को प्राप्त करने वाला इन्द्र का हृदय फिर से अत्यन्त (घन) रोमाञ्च युक्त इन्द्राणी के स्तन के अग्रभागों के शीघ्र आलिङ्गन में होने वाले परिपीडन (दवाव) की क्षमता को धारण करे॥ ७४॥

इन्द्रसन्देशमुक्त्वा नारदे स्वर्गं प्रस्थिते सति शिशुपालं प्रति श्रीकृष्णस्य क्रो दर्शयति—

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।

शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति,
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥ ७५ ॥

इति माघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रीकृष्ण-नारदसम्भाषणं
नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अन्वयः—तस्मिन् सुरमुनौ इति वाचं व्याहृत्य नभः उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रियं बिभ्रति (सति) अथ ओम् इति उक्तवतः चैद्यं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नीव अनिशं शत्रूणां विनाशपिशुनः केतुः भ्रुकुटिच्छलेन आस्पदं चकार ।

बालबोधिनी—तस्मिन् = पूर्वोक्ते । सुरमुनौ=देवर्षौ, नारदे इत्यर्थः । इति = इत्थम्भूताम्, पूर्वोक्ताम् । वाचं = वाणीम्, वचनम् । व्याहृत्य = अभिधाय, उक्त्वा । नभः = आकाशम् । उत्पतिते = समुद्गते । पुरः = अग्रे । इन्दोः = चन्द्रमसः, चन्द्रस्य । श्रियं = शोभाम् । बिभ्रति = धारयति (सति) । अथ = इन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरम् । ओम्=तथाऽस्तु, एवं भवतु । इति = इत्थम्, अनेन प्रकारेण । उक्तवतः = कथितवतः । चैद्यं प्रति = चेदिदेशाधिपतिं प्रति, शिशुपालं प्रति । क्रुद्धस्य=कुपितस्य । क्वचित् 'क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति' इत्यस्य स्थाने 'कर्तुंमतिं संयति' इति पाठ उपलभ्यते, तत्र—संयति=सङ्ग्रामविषये, मतिं कर्तुः = इच्छां विधातुरित्यर्थो ज्ञेयः । शार्ङ्गिणः = शार्ङ्गपाणेः, श्रीकृष्णस्य । वदने = मुखे । व्योम्नि = आकाशे । इव = यथा । अनिशं = सर्वदा, नित्यम् । नितरामिति पाठान्तरे अत्यन्तमित्यर्थः । शत्रूणां = रिपूणाम् । विनाशपिशुनः=उच्छेदसूचकः । केतुः = केतुनामोत्पातविशेषः । भ्रुकुटिच्छलेन = भ्रूभङ्गव्याजेन । आस्पदं = स्थितिम्, प्रतिष्ठाम् । चकार = विदधे, कृतवान् । अत्र वाक्यार्थभूतस्य वीररस-सहकारिरौद्ररसस्य स्थायिभावः क्रोधोऽनुमेयः, तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीररसस्य चाऽपि स्थायिभाव उत्साहोऽप्युत्पन्नः, इति सहृदयैर्विचारणीयम् । अत्र 'वदने व्योम्नीव' इत्युपमालङ्कार इति मल्लिनाथाः । मतान्तरे तूत्प्रेक्षा । किञ्च—भ्रुकुटिच्छलेन केतुरित्यत्र छलशब्देन भ्रुकुटिरूपस्योपमेयस्यासत्यतां प्रतिपाद्योपमान-भूतस्य केतोः सत्यता प्रदर्शितेति अपह्नुत्यलङ्कारः । इन्दोः श्रियं बिभ्रतीत्यत्र चेन्दोः श्रियं कथमन्यो धृतवानिति तत्सदृशी श्रीः तेन धृतेत्यर्थे पर्यवसानान्नि-दर्शना । निदर्शनोपमयोश्चापह्नुत्युपकारकत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । प्रतिसर्गान्तं श्रीशब्दप्रयोगश्चमत्कारी माङ्गलिकश्च । यथाऽऽह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गला-दीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति । किञ्च—'ओम्-अथ'-शब्दावपि माङ्गलिकौ प्रयुक्तौ । उक्तमपि—

'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' इति ।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्री
इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । यथाह दण्डी—

'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।
सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥' इति ।

कोशः—'ओम् प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः । 'केतुर्द्युतौ पताकायां
त्पातारिलक्ष्मसु' इत्यमरः । 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः ।

समासः—शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गम्, तदस्यास्तीति शार्ङ्गी, तस्य शार्ङ्
सुराणां मुनिः सुरमुनिः, तस्मिन् सुरमुनौ (त०पु०) । विनाशस्य पिशुनः वि
पिशुनः । भ्रुकुटेश्छलं भ्रुकुटिच्छलम्, तेन भ्रुकुटिच्छलेन, अथवा—भ्रुवः या
सैव छलं, तेन भ्रुकुटिच्छलेन (त० पु०) । अविद्यमाना निशा (विर
यस्मिन् तत् यथा स्यात्तथा अनिशम् ।

व्याकरणम्—उक्तवतः—वच् कर्तरि भूते क्तवतुः । व्याहृत्य—वि+
+हृ+क्त्वा—ल्यप् । बिभ्रति—भृ+कर्तरि शतृ—अभ्यस्तत्वान्नुमभा
क्रुद्धस्य—क्रुद्ध+कर्तरि क्तः । आस्पदम्—'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' (६।१।१
इति निपातनात्सुडागमः । चकार—कृ+लिट्—तिप्—णल् । चैद्यम्—
शब्दात् 'वृद्धेत्कौसलाजादाञ्ञ्यङ्' (४।१।१७१) इति ञ्यङ्प्रत्ययः ।

हिन्दी—इस प्रकार बात कह कर उस देवमुनि नारद के आका
चले जाने पर (तथा) सामने चन्द्रमा की शोभा को धारण कर लेने पर, ना
मुनि के वचनों के सुनने के बाद, 'अच्छा ऐसा ही होगा' (ओम्) इस प्र
कहने वाले तथा शिशुपाल के प्रति क्रुद्ध, आकाश के समान भगवान् के मुख
सदा शत्रुओं के विनाश के सूचक, धूमकेतु नामक तारा ने भ्रूभङ्ग के बहाने
स्थान बना लिया ।

टिप्पणी—यदि चन्द्रमा के पास धूमकेतु का उदय हो तो राजाओं
विनाश होता है, ऐसा ज्योतिषियों का मत है । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के
रूपी आकाश में नारद रूपी चन्द्रमा के पास भ्रुकुटी रूपी धूमकेतु का
शिशुपालादि राजाओं के वध की सूचना देता है ॥ ७५ ॥

इति निखिलशास्त्रनिष्णातानां पण्डितराज-श्रीरामलोटनअवस्थिमहोदयानां शि
श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठानां स्वधर्मधुरन्धराणां श्रीबाबूरामशर्मणां पु
श्रीबादामीदेवीगर्भसम्भवेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-खैरपुरग्रामनिवासि
मैनपुरीमण्डलान्तर्गत—शिरसागंजस्थार्यगुरुकुलमहाविद्यालयसाहित्य-
प्रधानाध्यापकेन श्रीरामजीलालशर्मणा विरचितायां शिशुपालवध-
महाकाव्यस्य बालबोधिन्यां व्याख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

श्लोकानुक्रमणिका

(प्रथमः सर्गः)

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(द्वितीयसर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

श्री: रामजीलाल शर्मा

साहित्य-दर्शनाचार्यः

साहित्यविभागाध्यक्षः

आर्य गुरुकुल महाविद्यालयः, सिरसागंज (मैनपुरी)



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३३३४३१

सप्तम संस्करण १९९९
मूल्य २५-००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड
दिल्ली ११०००७

*

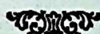
प्रमुख वितरक—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

25



ŚIŚUPĀLAVADHAM

OF

MAHĀKAVI MĀGHA

(*Canto II*)

With

'BALBODHINI' SANSKRIT-HINDI COMMENTARIES

By

Shri Ramjilal Sharma

Sahitya-Darshanacharya

Head of the Department of Sahitya

Arya Gurukul Mahavidyalaya, Sirsaganj (Mainpuri)



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No 69
VARANASI 221001

भूमिका

काव्यशास्त्र की उपादेयता

इस संसार में मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। जिसका मुख्य साधन वेद शास्त्रों का ज्ञान है। परन्तु वेद शास्त्रों के नीरस तथा कठिन होने से उन्हें वे ही मनुष्य पढ़ने तथा समझने में समर्थ हैं जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं परिपक्व है। कोमल बुद्धिवालों के लिये तो अत्यन्त सरल एवं सरस होने से काव्य ही एक ऐसा साधन है जो उन्हें धर्मादि की सुखपूर्वक प्राप्ति कराने में समर्थ है। जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव.................................॥' (सा० द० १।२)

भरत मुनि कहते हैं कि धर्मार्थियों को धर्म, कामार्थियों को काम, विद्याभिलाषुकों को विद्वत्ता तथा दीन-दुखियों को परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है। रुद्रट, भामह आदि सभी विद्वानों ने काव्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट ने कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (का० प्र० १।२)

अर्थात् 'काव्य यश धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमङ्गल का नाश, परमसन्तोष एवं कान्ता के समान हितोपदेश को देने वाला है।' पुराण एवं इतिहास आदि को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, दण्डी, बाण, हर्ष, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सहस्रों कवियों का यश आज भी इस संसार में विद्यमान है, एवं सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगा। एक-एक पद्य पर सहस्रों मुद्रायें आदि प्राप्त होने की कथायें राजतरङ्गिणी आदि में उपलब्ध हैं। श्रीहर्षादि से बाणादि को अतुल धन-लाभ होने की वार्ता से कौन अपरिचित है ? सूर्यशतक (सूर्य-स्तुति) आदि ने मयूरादि के कुष्ठ जैसे भयङ्कर रोगों का समूल विनाश हो जाना संसार प्रसिद्ध ही है। यही नहीं काव्य को आचार्यों ने ब्रह्मरूप में प्रतिपादित किया है—

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ॥

तभी तो—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गम्.................................॥

यह कहना सङ्गत होता है। यही कारण है कि परम प्रयास साध्य—योग, जप, तप, वेद, उपनिषद् तथा दर्शनादि के परिशीलन की अपेक्षा अत्यन्त सरल, सरस एवं ब्रह्मानन्द सहोदर काव्य-शास्त्र के परिशीलन में लोगों की अधिक प्रवृत्ति होती है।

काव्य के भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। दृश्य काव्य को ही रूपक कहते हैं। यह रूपक नाटकादि भेद से दस प्रकार का होता है। रूपकों के समान ही कुछ विशेषता लिए हुए नाटिका आदि १८ प्रकार के उपरूपक भी होते है। द्वितीय श्रव्य काव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पद्यात्मक काव्य—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) कुलक, (४) कलापक, (५) सन्दानितक, (६) युग्मक, (७) मुक्तक भेद से सात प्रकार का होता है। गद्यात्मक काव्य—कथा तथा आख्यायिका भेद से दो प्रकार का माना गया है। श्रीविश्वनाथ जी के मत से गद्य—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिका प्राय और (४) चूर्णक भेद से चार प्रकार का होता है। गद्यपद्योभयात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं। यही चम्पू यदि राजस्तुतिपरक हो तो विरुद कहलाता है, और यदि अनेक भाषा निबद्ध हो तो करम्भक कहलाता है।

महाकवि 'माघ' का परिचय

महाकवि माघ के पिता—'दत्तक' बड़े उदार एवं दानी पुरुष थे। वे अपने यहाँ सबको आश्रय दिया करते थे, जिससे वे 'सर्वाश्रय-दाता' इस विरुद से विख्यात थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रभदेव' था जो श्री वर्मलात (वर्मनाभ, धर्मनाभ, धर्मलात) नामक राजा के मन्त्री थे। बस महाकवि 'माघ' के स्वरचित्त 'कवि-वंश-वर्णन' से इतना ही इनके विषय में परिचय प्राप्त होता है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि माघ के जन्म के समय में ही ज्योतिषियों ने इनकी जन्म-पत्री को देखकर बतलाया था कि ये अपने जीवन में ही अत्यन्त गरीब हो जायँगे। इस बात को जानकर माघ के पिता ने एक लाख रुपया प्रतिमास के हिसाब से सौ वर्ष के लिए दस बारह करोड़ रुपया सोने की हाँड़ी में भरकर जमीन में गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र माघ को जीवन में कभी भी धन की कमी न पड़े। परन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार में लाखों रुपया दान में दे देना उनके लिये साधारण-सी बात थी। फल यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोजप्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार 'माघ' धारानरेश 'भोज' के राजकवि एवं प्रधान मन्त्री थे। अतः निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११.६४) इत्यादि पद्य को लिखकर पत्नी अपनी को उसे लेकर राजसभा में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। उसे लेकर रास्ते में आते हुए माघ की पत्नी ने उस सम्पूर्ण धन को याचकों के लिये बाँट दिया और घर जाने तक उसके पास कुछ भी न रहा। परन्तु घर तक याचकों का ताँता बँधा ही रहा। याचकों को देने के लिये अपने पास कुछ भी न देखकर महाकवि माघ ने अत्यन्त दुःख से अपने प्राण छोड़

दिये। प्रातःकाल भोज को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने महाकवि माघ का अग्नि-संस्कार किया। माघ की पत्नी उन्हीं के साथ सती हो गई। कुछ भी हो इस कथा से 'माघ' की दानशीलता का पता चलता है।

काव्य-गुणों की दृष्टि से शिशुपालवध की समीक्षा

वस्तु संघटना—शिशुपालवध की कथा का आधार महाभारत के सभापर्व अध्याय ३३ से ४५ तक की कथा है। महाकवि माघ ने अपनी नवीन उद्भावनाओं से इस छोटी-सी कथा को एक बीस सर्ग के महाकाव्य का रूप दिया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नायक तथा काव्य के फल से होता है। परन्तु प्रासङ्गिक वस्तु में नायक से भिन्न किसी अन्य का वृत्त रहता है जिसका परम्परया सम्बन्ध काव्य के फल से रहता है। शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही आधिकारिक कथा है जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

इस महाकाव्य की कथा को देखने पर प्रतीत होता है कि यह एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। घटना-प्रधान काव्यों में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका समस्त वस्तु-विन्यास उस घटना पर ही केन्द्रित रहता है। परन्तु रामायण या बुद्धचरित जैसे व्यक्ति प्रधान महाकाव्यों में नायक के समस्त जीवन का परिचय मिलता है। यहाँ कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं पर रहती है। इस घटना-प्रधान शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही मुख्य घटना है। अन्य सभी प्रासङ्गिक वर्णन उसके पोषक के रूप में हैं।

यहाँ महाकवि माघ प्रबन्ध-काव्य की इतिवृत्तनिर्वाहकता में सफल नहीं कहे जा सकते हैं। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। मूलकथा पहले, दूसरे तथा चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पाई जाती है। इसमें भी कई अप्रासङ्गिक वर्णनों का कवि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शेष चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का वर्णन आनुषङ्गिक है जिसका आवश्यकता से अधिक विस्तार आलोचकों को अत्यन्त खटकता है। यह कथा के प्रवाह को रोक लेता है। वीररस-प्रधान शिशुपालवध के पूरे ६ सर्गों में श्रृङ्गार लीलाओं का वर्णन वीररस को दबोच-सा लेता है। काव्य के मध्य भाग को पढ़ने पर पाठक यह समझने लगता है कि यह श्रृङ्गार का ही काव्य है। वस्तुतः यहाँ श्रृङ्गार-रस वीर-रस की चर्वणा में बाधक बन गया है।

प्रबन्ध काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात को स्वयं महाकवि माघ भी स्वीकार करते हैं—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ २।७२ ॥

अर्थात् इच्छानुसार बहुत-सी असङ्गत बातें सरलता से कही जा सकती हैं परन्तु ऐसे प्रबन्ध को कहना कठिन है जिसमें पदार्थों की सङ्गति विच्छिन्न हुई हो।

वस्तुतः मुख्य घटना के साथ प्रासङ्गिक बातों का वर्णन वहीं तक उचित होता है ज तक वे प्रासङ्गिक वर्णन मुख्य घटना को रोचक बनाकर श्रोताओं को भाव-मग्न क रसानुभूति में सहायक सिद्ध हो सकें। अतः ये वर्णन पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं हो चाहिये और उनका विस्तार भी मुख्य घटना के अनुकूल होना चाहिए, अत्यधिक नहीं माघ का यह अप्रासङ्गिक वर्णनों का अत्यधिक विस्तार कथा के प्रवाह में बाधक हो रसानुभूति में भी बाधक बन गया है।

भावाभिव्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपालवध का प्रधान (अङ्गी) रस वीर है। शृङ्गार तथा रौद्रादि रस उसी में अ बनकर आये हैं। शिशुपालवध के इस वीर रस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासङ्गिक शृङ्गार लीला के पूरे ६ सर्गों के विस्तृत वर्णन ने वीर रस को दबोच-सा लिया है। परन्तु इसका यह नहीं कि माघ वीर रस के सफल चित्रकार नहीं हैं। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनों के सफ चित्रकार हैं। यहाँ दिग्दर्शन के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। वीर रस उदाहरण लीजिये—

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥ १८।८० ॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत (विपक्षी) राजाओं की सेना का बड़े-बड़े तरङ्गों वाली भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के सा इस प्रकार युद्ध होने लगा जिस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का स के बड़े-बड़े तरङ्गों वाले प्रवाहों से गम्भीर ध्वनि के साथ संघात (टक्कर) होता है।

माघ का अष्टादश सर्ग युद्धवर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवा के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के चित्र वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। अन्यत्र भी माघ के वीर रस के चित्र सुन्दर बन पड़े माघ के पद-विन्यास की धीर और गम्भीर गति उनके चित्र में एक अपूर्व शोभा को ला देती है। रावण के साथ वरुण के युद्ध का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है— युद्ध के समय वरुण रावण पर नागपाश फेंकता है, नागपाश रावण की ओर चलता है उसे देखकर रावण क्रोध से हुङ्कार करता है तो नागपाश डरकर लौट पड़ता है और वह सर्पराजपाश भयभीत होकर वेगपूर्वक प्रहार करने वाले वरुण के गले में जाकर लिपट जाता है—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभया प्रपेदिरे ॥ १।५६ ॥

माघ का मन वीर रस से भी अधिक शृङ्गार के वर्णन में रमता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उन्होंने सम्भोग शृङ्गार का ही अधिक वर्णन किया है। उनके षड्ऋतु वर्णन, वनविहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि संभोग शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। कहीं कहीं विप्रलम्भ शृङ्गार का भी वर्णन है। उनके शृङ्गारिक पदों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ ३।१६ ॥

जिस-जिस प्रिया को प्रिय श्रीकृष्ण ने देखा उसने लज्जा से मुख को नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियाँ उस प्रियतम कृष्ण पर ईर्ष्यावश निर्भय होकर एक साथ अपने कटाक्षों से प्रहार करने लगीं।

और भी देखिये—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥११।१३॥

अर्थात् प्रातःकाल हो गया है। रात्रि की रतिक्रीडा से थककर सोये हुए दम्पत्तियों में से नायिकायें पहले जाग गयी हैं, परन्तु वे अपने शरीर को इसलिये नहीं हिलाती डुलाती हैं कि कहीं उनके हाथ के हट जाने से उनके प्रियतम की नींद न टूट जाय।

महाकवि माघ ने रसाभिव्यक्ति के अनुकूल भावाभिव्यञ्जना भी की है। वीर रस के स्थायिभाव उत्साह का बीज प्रथम सर्ग में दिखाया गया है। प्रथम सर्ग में उनके आलम्बन विभाव शिशुपाल का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल में युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के प्रति कठोर वचन उद्दीपन विभाव हैं और सप्तदश सर्ग में अनुभावों का वर्णन किया गया है। शृङ्गार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों का भी कवि ने सफल चित्रण किया है। परन्तु शृङ्गार के सञ्चारी भावों के चित्रण में वे इतने सफल नहीं हुए हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि माघ वीररस तथा शृङ्गाररस दोनों के ही सफल चित्रकार हैं। परन्तु उनका शृङ्गार अत्यन्त विलासमय हो गया है जो कि सहृदयों के हृदय में खटकता है। वस्तुतः माघ प्रेम के कवि न होकर प्रेमकला के कवि हैं। वे नायिका के हाव-भाव या नखशिख वर्णन आदि के द्वारा ही भाव पक्ष की कमी को पूरा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

माघ का प्रकृति-वर्णन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं तो षष्ठ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। परन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग का प्रकृति-वर्णन सरल है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात-वर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है और वह भी सम्भोग शृङ्गार की प्रकृति।

किन्तु बीच बीच में वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। माघ का प्रकृति-वर्णन मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—(१) यमक वाला प्रकृति-वर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन। प्रथम प्रकार में आनेवाला चतुर्थ सर्ग का प्रकृति-वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता है जब कि छठे सर्ग का प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। इस छठे सर्ग में दूसरी दो कोटियों के शृङ्गार का भी समावेश है। यमक, श्लेष और शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का वर्णन कितना सुन्दर है—

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥ ३।२५ ॥

चमकती हुई चञ्चल बिजलीवाली सघन बादलों से भरी मेघ पंक्ति अपने उचित समय पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई जैसे चञ्चल नेत्रों वाली, पुष्ट यौवन वाली नायिका अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा में न डालती हुई उसके पास में उपस्थित होती है।

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। पश्चिम दिशा अस्त होनेवाले निस्तेज सूर्य को इस प्रकार घर से निकाल देती है जिस प्रकार वेश्या धनरहित व्यक्ति को—'निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका' (९।१०)। प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से भागता हुआ इस तरह नजर आता है जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो—'उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।' ११.६५ ॥

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान के प्रकृति-वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकालीन सूर्य का बाल रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है।

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥ ११।४७ ॥

उदयाचल के शिखररूपी आङ्गन में रेंगता (घुटनों के बल चलता) हुआ कमलिनियों के द्वारा कमल रूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (अनुष्ण किरणाग्र) बालसूर्य पक्षियों के कलरव के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) आकाश की गोदी में जा रहा है। इस पद्य मे श्लेष अतिशयोक्ति तथा रूपक का सङ्कर पाया जाता है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ ४।४७॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी (रैवतक की) गोद में लेटा करती हैं। अतः ये रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति

समुद्र से मिलने जा रही हैं। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति-वर्णन का खास सौन्दर्य अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है।

बालबोधिनी की विशेषता

इस टीका में अवतरण, अन्वय, पर्याय, भावार्थ, कोश, समास, व्याकरण तथा हिन्दी अनुवाद एवं विषम स्थलों पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

समास विग्रह आदि में संक्षेप नहीं किया गया है किन्तु छात्रों की सुविधा के लिये प्रायः पूरा-पूरा समास व विग्रह दिया गया है। पर्याय भी एक-एक शब्द के २–३ दिये हैं। इससे विद्यार्थियों को स्वयं पर्याय बनाने का अभ्यास हो सकेगा। पर्यायों में भी प्रचलित एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याख्या में—छन्द, अलङ्कार तथा ध्वनि आदि का यथास्थान समुचित निर्देश किया गया है जिससे छात्र तथा अध्यापक सभी लाभ उठा सकें।

हिन्दी अनुवाद में अन्वय के अनुसार अक्षरशः अर्थ किया गया है जिससे कि छात्रों को शब्दार्थ समझने में कठिनाई न हो। कठिन स्थलों को सुबोध बनाने के लिये टिप्पणियों द्वारा अर्थ स्पष्ट किया गया है। सम्बन्धित पौराणिक कथायें भी टिप्पणी में दे दी गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में गवेषणापूर्ण भूमिका एवं कथासार भी राष्ट्रभाषा में लिखे गये हैं।

यद्यपि इस टीका के निर्माण में हमारा कोई आलोचनात्मक लक्ष्य नहीं रहा है। हाँ कवि के अन्तस्तल में पहुँचाने का अवश्य प्रयत्न किया है। इसी लिये हमें यत्र-तत्र व्याख्यानों का निराकरण करना पड़ा है जिससे कि पाठक गण इन व्याख्यानों से भ्रान्ति में न पड़कर वास्तविकता को समझें।

इस प्रकार यह संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। परीक्षार्थियों के लिए इतनी अधिक सुविधा अभी तक सुलभ किसी संस्करण में नहीं थी जैसी सुन्दर उपयोगी व्यवस्था बालबोधिनी में रखी गई है।

इस संस्करण से यदि विद्वानों एवं छात्रों को कुछ भी लाभ एवं सन्तोष हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूंगा।

विदुषां वंशवदः—
रामजीलाल शर्मा

संक्षिप्त कथासार

द्वितीय सर्ग

श्रीकृष्ण भगवान् का उद्धवजी तथा बलरामजी के साथ मन्त्रणा करना।

नारद जी चले जाने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने मन्त्री एवं चाचा उद्धव तथा बड़े भाई बलराम के साथ गुप्त विचार करने के लिये सभा भवन में पहुँचे। वहाँ तब श्रीकृष्णजी कहने लगे 'युधिष्ठिर ने यज्ञ में हम लोगों को बुलाया है तथा देवराज इन्द्र ने शिशुपाल के मारने के लिये सन्देश भेजा है। अतः हम लोगों को युधिष्ठिर के यज्ञ में जाना चाहिए तथा शिशुपाल पर चढ़ाई करनी चाहिए।' एक ही काल में उपस्थित होने में परस्पर विरुद्ध इन दो कार्यों को उद्धव तथा बलराम को बता कर श्रीकृष्ण पहले अपना ही विचार प्रकट करने लगे—'युधिष्ठिर अपने भाइयों की सहायता से यज्ञ पूरा कर ही लेंगे अतः वहाँ हम लोग न जायँ तो भी कोई हानि नहीं है। परन्तु शत्रु की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। इसलिये मेरे विचार से शिशुपाल पर आक्रमण करना ही श्रेयस्कर है। इस विषय में आप लोगों की क्या सम्मति है?'

श्रीकृष्ण के वचन को सुनने के बाद बलराम ने उठकर अनेक प्रकार से युक्तियों द्वारा उनके वचनों का समर्थन किया और तुरन्त ही शत्रु पर चढ़ाई करने को योग्य बताया।

बलरामजी के वचन के समाप्त हो जाने पर श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को बोलने के लिये नेत्रों से सङ्केत कर दिया। उनका सङ्केत पाकर उद्धवजी ने तर्कपूर्ण अनेक युक्ति-युक्त वचनों से बलरामजी की प्रत्येक बात का खण्डन करके धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये कहा। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपनी बूआ सात्वती प्रति शिशुपाल के सौ अपराधों को क्षमा करने प्रतिज्ञा का भी स्मरण दिलाया। उन्होंने यह भी राय दी कि श्रीकृष्ण अपने गुप्तचरों द्वारा शत्रुओं में फूट पैदा कर दें तथा अपने पक्ष के राजाओं को शिशुपाल के विरुद्ध युद्ध करने के लिये अस्त्र-शस्त्र से युक्त होकर यज्ञ में पहुँचने के लिये सूचना दें। क्योंकि यज्ञ में युधिष्ठिर आदि पाण्डव लोग आपका विशेष सम्मान एवं पूजादि करेंगे और शिशुपाल इसे सहन न कर सकेगा। अतः वह आपकी अनेक तरह से निन्दा करेगा। इससे एक तरफ तो आपकी उसके सौ अपराधों को क्षमा करने की प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी दूसरे अन्य राजा लोग भी उसके इस दूषित व्यवहार से उसके विरुद्ध हो जायेंगे। इसलिये वहाँ पर शिशुपाल को जीतना भी सरल होगा। इस प्रकार शिशुपाल पर चढ़ाई करने के कार्य की सिद्धि वहाँ स्वतः हो जायेगी। इस प्रकार के उद्धवजी के युक्ति-युक्त वचनों को सुनकर उन्हें शीघ्र कार्यान्वित करने के लिये बड़ी प्रसन्नता के साथ भगवान् श्रीकृष्ण ने सभा का विसर्जन किया।

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

—: ❀ :—

द्वितीयः सर्गः

अस्मिन् सर्गे मन्त्रवर्णनाय बीजं वपति—

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाऽथ द्विषन्मुरम् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ यियक्षमाणेन पार्थेन आहूतः अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुः मुरं द्विषन् कार्यद्वयाकुलः आसीत् ।

बालबोधिनी—अथ = इन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरम् । यियक्षमाणेन = यष्टुमिच्छता, यज्ञं कर्तुमिच्छता । पार्थेन=पृथापुत्रेण युधिष्ठिरेण । आहूतः=आकारितः, निमन्त्रितः । (अपरम्) अभिचैद्यं—शिशुपालं प्रति । प्रतिष्ठासुः=प्रस्थातुमिच्छुः । मुरं द्विषन्=मुरारिः, श्रीकृष्णः । कार्यद्वयाकुलः=देवकार्यमित्रकार्यद्वयव्याकुलः । आवश्यके कार्यद्वये आपतिते यदि पूर्वं पार्थं प्रति व्रजति ततः शिशुपाल उपेक्षितो भवति अथ शिशुपालमास्कन्दति ततो युधिष्ठिरो व्यथितः अतः पूर्वं मया देवकार्यं करणीयं सुहृदो युधिष्ठिरस्य वेति कार्यद्वये सन्दिग्धमनाः । आसीत्=बभूव । अतो मन्त्रस्यावसरोऽयमिति भावः । क्वचिद् 'द्विषन्मुरम्' इत्यस्य स्थाने 'मुरं द्विषन्' इति पाठान्तरम् । अस्मिन् सर्गेऽनुष्टुप् छन्दः । 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' इति लक्षणात् ।

कोशः—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथ' इत्यमरः । 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः ।

समासः—यष्टुमिच्छति यियक्षति, यियक्षतीति यियक्षमाणः, तेन—यियक्ष-
णेन। पृथाया अयम् (अपत्यं पुमान्) पार्थः, तेन पार्थेन। चैद्यम् अभिलक्ष्य
अभिचैद्यम् (अव्ययीभावः)। द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम, कार्ययोः द्वयम्
कार्यद्वयम् तेन आकुलः कार्यद्वयाकुलः।

व्याकरणम्—यियक्षमाणेन—यजतेः सन्नन्ताल्लटः शानच्। पार्थेन
पृथाशब्दात् 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण्। आहूतः—आङ्पूर्वाद् ह्वे
धातोः कर्मणि क्ते सम्प्रसारणदीर्घौ। अभिचैद्यम्—'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये'
(२।१।१४) इत्यव्ययीभावः। 'अभिरभागे' (१।४।९०) इति
प्रवचनीयत्वे, तद्योगे द्वितीया वा। प्रतिष्ठासुः—प्रपूर्वात् स्थाधातोः सन्नन्त
प्रत्ययः। मुरं द्विषन्—द्विषोऽमित्रे' (३।२।१३१) इति शतृप्रत्यये
लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) इत्यत्र 'द्विषः शतुर्वा'
वार्तिकेन वैकल्पिकः षष्ठीप्रतिषेधः। आसीत्—अस्+लङ्+तिप्।

हिन्दी—परस्पर विरोधी अनेक कार्यों के एक साथ उपस्थित होने
मन्त्र (गुप्त विचार, सलाह) की आवश्यकता हुआ करती है, अतः मन्त्र
अवतरणार्थ दो कार्यों को उपस्थित करते हुए 'मन्त्रवर्णनात्मक' इस द्वितीय
का आरम्भ करते हैं—) इसके बाद (इन्द्र का सन्देश नारदजी से सुनने
उसकी स्वीकृति पाकर नारदजी के चले जाने पर) यज्ञ करने के इच्छुक
पुत्र युधिष्ठिर के द्वारा निमन्त्रित (तथा तत्काल ही) शिशुपाल पर
करने के इच्छुक भगवान् श्रीकृष्ण (परस्पर विरोधी एवं परम आवश्यक)
कार्यों (के एक साथ उपस्थित हो जाने) से बड़े चिन्तित थे।

टिप्पणी—पार्थेन—'पृथाया अयम् पार्थः, तेन पार्थेन' 'तस्ये
(४।३।१२०) इत्यण्। अन्यथा 'द्व्यचः' (४।१।१२१) इत्यनेन
स्यात्ततः पार्थेय इति स्यात्। यहाँ पर 'पृथाया अपत्यं पुमान्' पृथा का पुत्र
ऐसा विग्रह करेंगे तो 'द्व्यचः' से ढक् होकर पार्थेय बनेगा, पार्थ नहीं
पायेगा। अतः 'पृथाया अयम्' पृथासम्बन्धी ऐसा विग्रह मानकर 'तस्ये
(४।३।१२०) से अण् ही उचित है। दूसरे अपत्य, समूह, निवास
सभी अर्थों में 'तस्येदम्' सूत्र से अण् का विधान भी है और तस्यापत्यम्
इसी के विशेष रूप हैं—'यो ह्युपगोरपत्यमुपगोरसावयमिति
व्यपदेष्टुम्।' अत एव "तस्यापत्यम्' आदि सूत्रों का विधान, 'तस्येदम्' से

वाले अण् के बाधक वृद्धसंज्ञकों से होनेवाले छादि शैषिक प्रत्ययों को निवृत्ति के लिए है ॥ १ ॥

अथ सभाभवनप्रवेशमाह—

साद्धंमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

अन्वयः—अथ असौ अभिनभः गुरुकाव्यानुगां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रत् उद्धवसीरिभ्यां साद्धं सदः आसदत् ।

बालबोधिनी—अथ=सन्देहानन्तरम् । असौ=हरिः । अभिनभः=आकाशे । गुरुकाव्यानुगां=बृहस्पतिशुक्राचार्यानुयाताम् । चान्द्रीं=चन्द्रसम्बन्धिनीम्, ऐन्दवीम् । श्रियं=शोभाम् । बिभ्रत्=दधत्, धारयन् । उद्धवसीरिभ्यां=उद्धवबलदेवाभ्याम् । साद्धं=सह, उद्धवबलरामाभ्यां सहित इत्यर्थः । सदः=सभाम् । आसदत्=अगमत्, प्राप । अत्राह मनुः—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेद् भावभाविनौ ॥ ७।१७४ ॥ इति ।

अत्रान्यस्य श्रियं कथमन्यो वहत्विति चान्द्रीश्रियमिव श्रियं दधदित्यर्थे पर्यवसानान्निदर्शनालङ्कारः । तदुक्तं कुवलयानन्दे—'वाक्यार्थः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना' इति ।

कोशः—'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली संङ्कर्षणः सीरपाणिः कालिन्दीभेदनो बलः' इत्यमरः । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः । 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः ।

समासः—नभसि इति अभिनभः (अव्ययीभावः), गुरुश्च काव्यश्च गुरुकाव्यौ, तौ अनुगौ यस्याः यस्यां वा सा गुरुकाव्यानुगा, ताम्—गुरुकाव्यानुगाम् (द्वन्द्वगर्भ ब० व्री०) । उद्धवश्च सीरी च उद्धवसीरिणौ, ताभ्याम्—उद्धवसीरिभ्याम् (द्वन्द्वः) ।

व्याकरणम्—बिभ्रत्—भृ + शतृ । आसदत्—आङ्पूर्वात् सदेर्लुङि 'पुषादिद्युताद्य्—' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः, तिपि । चान्द्रीम्—चन्द्र + अण् + ङीप् ।

हिन्दी—इस प्रकार सन्देह होने के बाद वे श्रीकृष्ण भगवान् आकाश में बृहस्पति एवं शुक्राचार्य जिसका अनुसरण कर रहे हैं उस चन्द्रमा की शोभा को धारण किये हुए उद्धव तथा बलराम के साथ सभा-भवन में पहुँचे ।

टिप्पणी—जिस प्रकार चन्द्रमा की अपेक्षा बृहस्पति तथा शुक्र की शोभा कम होती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की अपेक्षा उद्धव तथा बलराम की शोभा कम थी और वे दोनों श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे चल रहे थे, यह बात इस उपमा से सूचित होती है। यहाँ श्रीकृष्ण की चन्द्र से, उद्धव की बृहस्पति तथा बलराम की शुक्र से और सभा की आकाश से उपमा दी गई है ॥ २॥

श्रीकृष्णबलरामोद्धवानामग्नित्रयसाम्यमाह—

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

अन्वयः—जगतः शान्तये समुपेयुषी जाज्वल्यमाना असौ नरशिखित्रयी सभावेद्यां व्यद्योतिष्ट।

बालबोधिनी—जगतः=भुवनस्य, लोकस्य। शान्तये=अनुपद्रवाय, मङ्गलाय। समुपेयुषी=मिलिता, सङ्गता। जाज्वल्यमाना=भृशं ज्वलन्ती। असौ=एषा। नरशिखित्रयी=श्रीकृष्णबलरामोद्धवपुरुषपावकत्रयी। सभावेद्याम्=परिषत्परिष्कृतभूमौ, सभामण्डपे। व्यद्योतिष्ट=दिदीपे, शुशुभे। अत्र श्रीकृष्णोद्धवबलरामेषु शिखित्वारोपात्तेषां शिखिरूपेणैव बोधो भवतीति रूपकालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे' इति।

कोशः—'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः। 'रोहिताश्वो वायुसखः शिखावानाशुशुक्षणिः। हिरण्यरेता हुतभुग् दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः।

समासः—त्रयः अवयवाः यस्याः सा त्रयी, नरा एव शिखिनः नरशिखिनः, तेषां त्रयी नरशिखित्रयी। सभैव वेदिः सभावेदिः, तस्यां सभावेद्याम्।

व्याकरणम्—जाज्वल्यमाना—ज्वल् धातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) इति यङि ततो लटः शानचादेशे टाप्। समुपेयुषी—सम् + उप + इ + क्वसुः + ङीप्। व्यद्योतिष्ट—विपूर्वाद् द्युत्धातोः लुङि, अनुदात्तेत्वादात्मनेपदम्।

हिन्दी—संसार (में होने वाले उपद्रवों) की शान्ति के लिए एकत्रित तथा अत्यन्त देदीप्यमान मानरूपी अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि) सभामण्डपरूप वेदी पर शोभित हुआ ॥ ३ ॥

सभामण्डपस्थितानां श्रीकृष्णबलरामोद्धवानां चमत्कारपूर्णं वर्णनं कुरुते—

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

अन्वयः—रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमाः ते एकाकिनः अपि परितः पौरुषेयवृता इव चकाशिरे।

बालबोधिनी—रत्नस्तम्भेषु=रत्नखचितस्तम्भेषु, रत्नमयस्तम्भेषु। संक्रान्तप्रतिमाः=संलग्नप्रतिविम्बा, प्रतिफलितशरीराः। ते—श्रीकृष्णबलरामोद्धवाः। एकाकिनः=एकैकाः, असहायाः। अपि। परितः=सर्वतः। पौरुषेयवृताः=पुरुषसमूहावृताः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। चकाशिरे=दिदीपिरे; शुशुभिरे, बभुः। एतेन विजनत्वमुक्तम्। यद्यपि 'निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भित्यन्तरसंश्रये। प्रासादाग्रे त्वरण्ये वा मन्त्रयेत् भावभाविनौ॥' इति कामन्दकीये मन्त्रभूमेः स्तम्भप्राचुर्यनिषेधो गम्यते तथाऽपि तस्यापि विजनत्वोपलक्षणत्वादुत्प्रेक्षालङ्कारः। लक्षणं तु प्रागेवोक्तम्।

कोशः—'प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा' इत्यमरः। समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः।

समासः—रत्नानां स्तम्भाः रत्नस्तम्भाः, तेषु रत्नस्तम्भेषु (त० पु०)। संक्रान्ताः प्रतिमाः येषां ते संक्रान्तप्रतिमाः (ब० व्री०)। पुरुषाणां समूहः पौरुषेयः, तेन वृताः पौरुषेयवृताः।

व्याकरणम्—चकाशिरे—काशृ+लिट्+झि—इरेच्। एकाकिनः—एकशब्दात् 'एकादाकिनिच्चासहाये' (५।३।५२)। इत्याकिनिच् प्रत्ययः। पौरुषेय—पुरुषशब्दात्—'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' (५।१।१०)। इत्यधिकारे 'पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन ढञ् प्रत्ययः।

हिन्दी—रत्नजड़ित खम्भों में प्रतिविम्बित शरीरवाले वे (श्रीकृष्ण, बलराम तथा उद्धवजी स्वयं) अकेले होते हुए भी मानो पुरुषसमूह से घिरे के समान शोभित होते थे॥ ४॥

श्रीकृष्णबलरामोद्धवाधिष्ठितसिंहासनानां शोभामाह—

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा॥ ५॥

अन्वयः—अमी यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि अध्यासामासुः तैः केसरिक्रान्तत्रिकूट शिखरोपमा ऊहे।

बालबोधिनी—अमी=श्रीकृष्णबलरामोद्धवाः। यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि=यानि उन्नतकनकासनानि। अध्यासामासुः=अधितष्ठुः, उपविष्टा इत्यर्थः।

तैः=कनकासनैः। केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा=सिंहाधिष्ठितत्रिकूटपर्वतशृ
सादृश्यम्। ऊहे–ऊढा। उपमालङ्कारः। लक्षणं तु प्रागेवोक्तम्।

कोशः—'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्। तपनीयं शातकु
गाङ्गेयं भर्मं कर्बुरम्' इत्यमरः। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरि
इत्यमरः। 'पीठमासनम्' इत्यमरः। 'त्रिकूटस्त्रिककुत्समौ' इत्यमरः। कूटोऽ
शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः।

समासः—हेम्नः पीठानि हेमपीठानि (त० पु०) उत्तुङ्गानि च ता
हेमपीठानि च उत्तुङ्गहेमपीठानि (कर्मधारयः)। केसराः सन्त्येषां केसरि
तैः क्रान्तानि, त्रिकूटस्य शिखराणि त्रिकूटशिखराणि, केसरिक्रान्तानि च ता
त्रिकूटशिखराणि, केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखराणि, तेषां उपमा—केसरिक्रान्तत्रिकू
शिखरोपमा।

व्याकरणम्—हेमपीठानि—'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१।४।४६) इत्य
धारस्य कर्मत्वम् ततो द्वितीया। अध्यासामासुः—अधि+आस्–लिट्–झि–उस्।
ऊहे—वह+लिट्–त–ए–एश् सम्प्रसारणम्।

हिन्दी—ये तीनों (श्रीकृष्ण, बलराम, उद्धव) जिन ऊँचे स्वर्ण के सिंहा
सनों पर बैठे उन आसनों ने (तीन) सिंहों से अधिष्ठित त्रिकूट पर्वत की
(तीन) चोटियों की समानता को धारण किया।। ५ ।।

अथ श्रीकृष्णकृतं प्रस्तावमाह—

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः ।। ६ ।।

अन्वयः—अथ विचक्षणः हरिः गुरुद्वयाय गुरुणोः उभयोः कार्ययोः
विप्रतिषेधम् आचचक्षे।

बालबोधिनी—अथ=उपवेशनानन्तरम्। विचक्षणः=वक्ता, व्याख्यान
कुशलः; अथवा–धीमान्, आचारज्ञः। प्रष्टव्या गुरव इति पृच्छति न तु अज्ञान
तयेत्यर्थः। हरिः=श्रीकृष्णः। गुरुद्वयाय=पितृव्यज्येष्ठभ्रातृद्वितयाय, उद्धव
बलरामाभ्यामित्यर्थः। 'गुरुभयस्मै' इति पाठान्तरे—गुर्वोरुभयं गुरुभयं तस्मै
गुरुभयस्मै, अर्थस्तूभयत्र समान एव। गुरुणोः=महतोः। युगपदनुष्ठातुमशक्य
त्वात्। उभयोः कार्ययोः=शिशुपालवधयुधिष्ठिरयज्ञगमनयोः। तं=पूर्वोक्त
अप्रतिविधेयम्। विप्रतिषेधम्=विरोधम्। तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः।
अथवा—यत्र बहुकार्याणां मध्यादेकं कार्यं कर्तुं मनसि अनिश्चयो भवति

विप्रतिषेधः । आचचक्षे=आख्यातवान् । अन्योऽपि विचक्षणो वैयाकरणो गुरवे पण्डिताय द्वयोर्विरोधमाचष्टे कथयति ।

कोशः—'धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः दूरदर्शी दीर्घदर्शी' इत्यमरः । 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके । अलघौ दुर्जरे चाऽपि' इति हैमः ।

समासः—गुर्वोः द्वयं गुरुद्वयम्, तस्मै गुरुद्वयाय ।

व्याकरणम्—विचक्षणः—वि + चक्ष् + 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (३।२।१४९) इति युच् । विप्रतिषेधम्—वि + प्रति + षिध् + अच् । आचचक्षे—आ + चक्ष् + लिट्–त–एश ।

हिन्दी—इस (सभाभवन में अपने-अपने आसनों पर बैठ जाने) के बाद आचार को जानने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने पूज्य उन दोनों (चाचा उद्धव तथा बड़े भाई बलराम) से (एक साथ न किये जा सकने के कारण तथा परम आवश्यक होने से) महान् दोनों (शिशुपाल पर चढ़ाई करने तथा युधिष्ठिर के यज्ञ में जाने इन विरोधी) कार्यों के विरोध को कहा ।। ६ ।।

श्रीकृष्णोक्तिप्रकारमाह—

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

अन्वयः—कुन्दकुड्मलाग्रदतः तस्य सरस्वती द्योतितान्तःसभैः स्मितैः स्नपिता इव शुद्धवर्णा अभवत् ।

बालबोधिनी—कुन्दकुड्मलाग्रदतः = माघ्यकुसुमकलिकाग्रभागसदृशसूक्ष्मदन्तस्य । तस्य = श्रीकृष्णस्य । सरस्वती = वाणी । द्योतितान्तःसभैः = प्रकाशितसभाभ्यन्तरैः । स्मितैः=मन्दहास्यैः । स्नपिता इव=क्षालिता इव । शुद्धवर्णा=स्फुटाक्षरत्वात् स्वच्छकान्तिः । अभवत्=अभूत । स्मितपूर्वाभिभाषी हि श्रीकृष्ण इति भावः । अत्र हि सरस्वत्याः प्रसिद्धोऽपि कविसम्प्रदाये शुक्लवर्णः स्नानहेतुकतयोत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः ।

समासः—कुन्दस्य कुड्मलानि कुन्दकुड्मलानि तेषाम् अग्राणि कुन्दकुड्मलाग्राणि, तानीव दन्ता यस्यासौ कुन्दकुड्मलाग्रदन्, तस्य कुन्दकुड्मलाग्रदतः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । अन्तः प्रधाना सभा अन्तःसभा, द्योतिता अन्तः

सभा यैस्तानि द्योतितान्तःसभानि, तैः द्योतितान्तःसभैः (ब० व्री० । शु
वर्णा यस्यां सा शुद्धवर्णा ।

व्याकरणम्—स्नपिता—ष्णा+णिच्+क्तः+पुक्+टाप् । कुन्दकुड्मल
ग्रदत–'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' (५।४।१४५) इति अग्रान्तपूर्वपदस्य
व्रीहिः समासान्तो वैभाषिको दतादेशः ।

हिन्दी—कुन्द की कली के अग्रभाग के समान (सफेद चमकीले सुन्दर
सूक्ष्म) दाँत वाले उन श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी सभामध्य को प्रकाशित क
वाले मन्द हास्यों से स्नान करायी गयी के समान शुद्धवर्ण (स्पष्टाक्षर होने
शुद्धकान्ति वाली) हो गयी ॥ ७ ॥

एवं कार्यविप्रतिषेधमुक्त्वा सम्प्रति तत्र स्वमतमावेदयिष्यन् पण्डितमानि
परिहरति—

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

अन्वयः—भवद्गिराम् अवसरप्रदानाय नः वचांसि (सन्ति) पूर्वरङ्ग
नाटकीयस्य वस्तुनः प्रसङ्गाय (भवति) ।

बालबोधिनी—भवद्गिरां=युष्मद्वाचाम् । अवसरप्रदानाय = अवकाश
दानाय, प्रसञ्जनाय । नः=अस्माकम्, मम, श्रीकृष्णस्येत्यर्थः । वचांसि=
वचनानि । सन्तीति शेषः । तथा हि—पूर्वरङ्गः=विघ्ननिवारककुशीलवकर्तृ
मङ्गलम् । नाटकीयस्य = अभिनेयस्य । वस्तुनः=कथायाः । प्रसङ्गाय =
प्रवर्तनायैव । भवतीति शेषः ।

उक्तं च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं नाटकं कवयो विदुः ॥ इति ।

पूर्वरङ्गस्य लक्षणं तु साहित्यदर्पणे एवमुक्तम्—

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

अत्र श्रीकृष्णवाक्यपूर्वरङ्गयोः प्रसञ्जकत्वरूप=सामान्यस्य (एकस्यैवार्थस्य
द्वयोर्वाक्ययोः भिन्नशब्दैः पृथक्-पृथक् निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । यदु
कुवलयानन्दे—वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता' इति ।

कोशः—'ब्राह्मी तु भारती भा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः ।

समासः—भवतः गिरः भवद्गिरः, तासाम्—भवद्गिराम्। अवसरति अस्मिन्निति अवसरः, अवसरस्य प्रदानं अवसरप्रदानम्, तस्मै—अवसरप्रदानाय (त० पु०)। पूर्वं रज्यते अस्मिन्निति पूर्वरङ्गः=नाट्यशाला, तत्स्थं कर्माऽपि पूर्वरङ्गः इति दशरूपके। नाटके भवं नाटकीयम् (तत्र वर्ण्यमित्यर्थः), तस्य नाटकीयस्य।

व्याकरणम्—नाटकीयस्य—नाटकशब्दात् 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) इति छप्रत्यये, तस्य 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्, (७।१।२) इतीयादेशे। प्रदानाय—प्र+दा+भावे ल्युट्। पूर्वरङ्ग—अत्र 'घञि च भाव-करणयोः' (६।४।२७) इति भावकरणरूपार्थस्याभावान्नलोपाभावः।

हिन्दी—(भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि) आप लोगों के वचनों को अवसर देने के लिए ही हमारे वचन हैं, क्योंकि पूर्वरङ्ग (नाटक के प्रारम्भ में किया हुआ मङ्गलाचरण) नाटकीय कथा की प्रवृत्ति के लिए होता है।

टिप्पणी—यहां श्रीकृष्णजी के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नाटक का प्रारम्भ करने के लिए पहले मङ्गलाचरण (देवस्तुति, गाना—बजाना आदि) किया जाता है, वस्तुतः वह नाटक का अङ्ग नहीं होता है। उसी प्रकार मैं भी अपना वचन सिद्धान्तरूप में नहीं कह रहा हूँ किन्तु मेरी बात को सुनकर आप लोगों के हृदय में क्या विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें सुनने के लिए ही मेरा यह वचन है ॥ ८ ॥

सम्प्रति श्रीकृष्णः स्वमतमाह—

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम्।
विनाऽप्यस्मदलं भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

अन्वयः—दिशां जित्वरैः भ्रातृभिः करदीकृतभूपालः तपसः सुतः अस्मद्विना अपि इज्यायै अलं भूष्णुः।

बालबोधिनी—दिशां=काष्ठानाम्। जित्वरैः=जयनशीलैः। भ्रातृभिः=भीमार्जुनादिभिः स्वानुजैः। करदीकृतभूपालः=वशीकृतराजमण्डलः। तपसः=धर्मस्य सुतः। सुतः=पुत्रः। धर्मात्मजो युधिष्ठिर इत्यर्थः। अस्मद्विनाऽपि=अस्मान् विहाय, अस्माभिर्विनापीत्यर्थः। इज्यायै=यागाय। अलं=पर्याप्तो। भूष्णुः=भवनशीलः भविता। अत एव जैत्रयात्रैव विधेया न तु यज्ञयात्रेति सारांशः।

कोशः—'दिगस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरिताश्च ताः' इत्यमरः। 'तपः' 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः। 'जेता जिष्णुश्च जित्वरः' इत्यमरः। 'तप-

श्चान्द्रायणादौ स्यात् धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः। 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः।

समासः—करं ददतीति करदाः, न करदाः अकरदाः, अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः करदीकृताः, करदीकृताः भूपाला येन यस्याऽसौ करदीकृत-भूपालः (ब० व्री०)। जेतुं शीलाः जित्वराः, तैः जित्वरैः।

व्याकरणम्—जित्वरैः—'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्, (३। २। १६३) इति क्वरप्। अस्मद्विना–'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२। ३। ३२) इत्यादिना तृतीयाविकल्पात् पञ्चमी। भूष्णुः भूधाता 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३। २। १३९) इति ग्स्नुप्रत्ययः। इज्यायै—यजेर्भावे क्यप्, वचिस्वपि यजादीनां किति' (६। १ १५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् 'नमः स्वस्ति—' (३। २।१३९) इत्यादिना चतुर्थी।

हिन्दी—दिशाओं को जीतने वाले भाइयों के द्वारा राजाओं को करदाता बनाने वाले (राजाओं को जीतकर उनसे कर लेने वाले) धर्मात्मज युधिष्ठिर हमारे विना भी यज्ञ (सम्पन्न) करने में समर्थ हैं (इसलिए यज्ञ में जाने की अपेक्षा शिशुपाल का वध करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ९ ॥

अतश्चैद्य एवाभियातव्य इत्येव प्रकारान्तरेणाह—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता—
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

अन्वयः—उत्तिष्ठमानः परः तु पथ्यम् इच्छता (पुंसा) नोपेक्ष्यः। हि वत्स्यन्तौ आमयः सः च शिष्टैः समौ आम्नातौ।

बालबोधिनी—उत्तिष्ठमानः=वर्धमानः। परः=शत्रुश्च। तु=किन्तु। पथ्यं=हितम्, आरोग्यं च। इच्छता=वाञ्छता। पुंसेति शेषः। नोपेक्ष्यः= नोपेक्षणीयः, हि = यतः। वत्स्यन्तौ = वृद्धिं गमिष्यन्तौ; वर्द्धिष्यमाणौ। आमयः=रोगः, व्याधिः। स च=शत्रुश्च। शिष्टैः=नीतिशास्त्रविशारदैः। समौ=तुल्यौ। आम्नातौ=आख्यातौ। उक्तमपि—

अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवत्।
अतस्तस्यानुपेक्ष्यत्वादुभयानुसृतिः कुतः ॥ इति।

भारविरप्याह—'अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः। उपमालङ्कारः।

कोशः—'रोगव्याधिगदामया' इत्यमरः।

समासः—पथोऽनपेतं पथ्यम्, तत्तथाभूतम्। उत्तिष्ठते इति उत्तिष्ठमानः।

व्याकरणम्—उत्तिष्ठमानः—उत्पूर्वात्स्थाधातोः 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम्, ततः शानच्। पथ्यम्—पथिन्+यत्। उपेक्ष्यः—उप+ईक्ष+यत्। आम्नातौ—आ+म्ना+क्तः। वर्त्स्यन्तौ—वृध्+लृट्—तस्थाने शतृ।

हिन्दी—पथ्य (अपने हित एवं स्वास्थ्य) को चाहने वाले मनुष्य को बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि बढ़ते हुए रोग एवं शत्रु को नीतिशास्त्र के विद्वानों ने समान (हानिकारक) बताया है॥ १०॥

स्वार्थसाधनाय ममैष यत्नो न, किन्तु लोकानुग्रहार्थमेवेत्याह—

न दूये सात्वतीसूनुः यन्मह्यमपराध्यति।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम्॥ ११॥

अन्वयः—सात्वतीसूनुः यत् मह्यमपराध्यति (तत्) न दूये, यत्तु लोकं दन्दह्यते अदः मां दुःखाकरोति।

बालबोधिनी—सात्वतीसूनुः = सात्वतीपुत्रः शिशुपालः। यत् = यतः, यस्मात् कारणात्। मह्यं=श्रीकृष्णाय। अपराध्यति=द्रुह्यति। 'ततः' इति शेषः। न दूये=न खिद्ये, न परितप्ये। '(किन्तु—) यत्तु=यतो हि। लोकं=भुवनम्, प्रजाजनम्। दन्दह्यते=गर्हितं दहति, निष्कारणं पीडयति। अदः=इदं लोकदहनम्। 'अतः' इति पाठान्तरे अस्मात्कारणादित्यर्थः। मां=श्रीकृष्णम्। दुःखाकरोति=पीडयति, दुःखमनुभावयति।

कोशः—'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः' इत्यमरः। '"लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः। पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः।

समासः—सत्वतोऽपत्यं स्त्री सात्वती, सात्वत्याः सूनुः सात्वतीसूनुः। गर्हितं दहति दन्दह्यते।

व्याकरणम्—मह्यम्—'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' (१।४।३७) इत्यनेन सम्प्रदानाच्चतुर्थी। दन्दह्यते—दहधातोः 'लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम्' (३।१।२४) इति यङि 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' (७।४।८६) इत्यभ्यासस्य नुगागमः। अपराध्यति—अप+राध्+तिप्+दिवादिभ्यः श्यन्। दूये—दूङो दैवादिकात् कर्तरि लट् तिप्। दुःखाकरोति—'दुःखात्प्रातिलोम्ये' (५।४।६४) इति डाच् प्रत्ययः।

हिन्दी—शिशुपाल जो मुझ से द्वेष करता है इस कारण से मैं दुःखी नहीं

होता हूँ। (परन्तु वह–) जो संसार को अकारण बुरी तरह से सताता है यही (लोकपीडन) मुझे दुःखित करता है ॥ ११ ॥

स्वमतमुपसंहरन् परमतं शुश्रूषुः पृच्छति—

मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग ? वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

अन्वयः—तावत् मम इदं मतम् अङ्ग ? वामपि श्रूयताम्, ज्ञातसारः अपि एकः कार्यवस्तुनि संदिग्धे खलु ।

बालबोधिनी—तावत्=तावत् कालपर्यन्तम्, अथवा—तावदिति वाक्यालङ्कारे । मम=श्रीकृष्णस्य । इदं=अदः, एतत् । क्वचिद् 'अदः' इति पाठान्तरम्, तत्रार्थे न कोऽपि विशेषः । मतं=अभिलाषः, अभिप्रायः, सम्मतिः। अङ्ग ? भोः, अयि मान्यौ ? आमन्त्रणेऽव्ययमिदम् । वामपि=युवयोरपि। मतमिति ? किमस्मदीयेनेति; तत्राह—ज्ञातसारोऽपि=विदितार्थोऽपि ।'ज्ञातसारः' एकाकी । कार्यवस्तुनि=कर्त्तव्यार्थे । सन्दिग्धे=संशेते, संशयं कुरुते । खलु= निश्चयेऽव्ययमिदम्; निश्चितमेतदित्यर्थः । उक्तं च—

सुविमृष्टे स्वयं सम्यक् सुहृद्भिः सुपरीक्षिते ।
नैवारम्भे विपन्नेऽपि वाच्यतां यान्ति सूरयः ॥
कार्यमालोचितापायं मतिमद्भिर्विवेचितम् ।
न केवलं हि सम्पत्तौ विपत्तावपि शोभते ॥ इति ॥

अत्र पूर्वार्द्धस्य विशेषार्थस्योत्तरार्धेन सामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

कोशः—'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । सम्बोधनार्थकाः स्युः प्याट् पाडङ्ग है हे भोः' इत्यमरः । कार्यं च तद्वस्तु च, कार्यवस्तु तस्मिन्—कार्यवस्तुनि ।

व्याकरणम्—श्रूयताम्—श्रु+लोट्+त । वाम् 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (८।१।२०) इति वामादेशः । सन्दिग्धे—सम्+दिह+लोट्+त ।

हिन्दी—मेरी तो यह राय (सम्मति) है । हे मान्यवरो ? आप दोनों का

राय भी मुझे सुननी (आवश्यक) है, क्योंकि सारभूत तत्त्वार्थ को जानने वाला भी अकेला व्यक्ति कर्तव्य कार्य में सन्दिग्ध ही रहता है ॥ १२ ॥

अर्थान्तरन्यासेन श्रीकृष्णस्य मौनं दर्शयति—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥

अन्वयः—माधवः यावदर्थपदां वाचम् एवम् आदाय विरराम, महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः भवन्ति ।

बालबोधिनी—माधवः=लक्ष्मीपतिः, श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यावदर्थपदां=वाक्यसमपदाम्, अभिधेयसम्मिताक्षराम्, निरर्थकपदरहितामित्यर्थः । वाचं=वाणीम् । एवं=इत्थम्=आदाय=गृहीत्वा, उक्त्वेत्यर्थः । विरराम=तूष्णीं बभूव, मौनं भेजे । तथाहि—महीयांसः=महात्मानः, उत्तमाः । प्रकृत्या=स्वभावेन । मितभाषिण := परिमितभाषिणः । भवन्तीति शेषः । निरर्थकं कदाचिदपि न जल्पन्तीति भावः । अत्रापि सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

कोशः—'विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः । दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः' इत्यमरः । 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः' इति विश्वः । 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः ।

समासः—मायाः=लक्ष्म्याः, धव=पतिः, माधवः (त० पु०) । यावान् अर्थः यावदर्थम्, यावदर्थं पदानि यस्यां यस्याः वा सा यावदर्थपदा, याम्—यावदर्थपदाम् । अतिशयेत महान्तो महीयांसः । मितं भाषितुं शीलं येषां ते मितभाषिणः । प्रकृष्टा कृतिः (रचना) यस्याः सा प्रकृतिः ।

व्याकरणम्—आदाय—आ + दा + क्त्वा-ल्यप् । विरराम—विपूर्वाद् रमुधातोः लिटि कृते 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१।३।८३) इति परस्मैपदे तिपि णलि रूपम् । महीयांसः—महत्+ईयसुन् । मितभाषिणः—मित + भाष + ताच्छील्ये णिनिः ।

हिन्दी—इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् अर्थानुकूल वचन कहकर चुप हो गये, क्योंकि महापुरुष स्वभाव से हो थोड़ा बोलने वाले होते हैं ॥ १३ ॥

अथाष्टभिः (१४–२१) कुलकेन बलरामं वर्णयन् तद्वाक्यमवतारयति—

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ॥ १४ ॥

अन्वय:—ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ओष्ठेन (—उपलक्षितः) रामः (जगाद)।

बालबोधिनी—ततः=तदनन्तरम्, श्रीकृष्णवचनसमाप्त्यनन्तरम्। सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा = शत्रुकृतापकारस्मृतिसमुत्पन्नपश्चात्तापस्फुरता, रिपुकृतापराधस्मृतिसमुद्भूतकोपकम्पमानेन। रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना=कान्तोष्ठबिम्बचुम्बनवित्तेन। ओष्ठेन=ओष्ठयुगलेन (—उपलक्षितः)। रामः=बलरामः। जगादेत्युत्तरेणान्वयः, उवाचेत्यर्थः। अनेन बलरामस्य समरसुतयोः समरसत्वमुक्तम्। अत्र ओष्ठो विम्बमिवेत्युपमालङ्कारः। तथा रकारमकारवकारचकारनकाराणामावृत्यानुप्रासः। अनयोश्च नैरपेक्ष्येणावस्थानात् तिलतण्डुलन्यायात् संसृष्टिः।

कोशः—'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। 'भवदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयोः' इति विश्वः। 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी' इत्यमरः।

समासः—सपत्नस्य अपनयः सपत्नापनयः, तस्य स्मरणं सपत्नापनयस्मरणम्' तेन योऽनुशयः सपत्नापनयस्मरणानुशयः, तेन स्फुरतीति सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुः, तेन सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा (तृ० पु०)। ओष्ठौ ओष्ठो वा बिम्बमिव ओष्ठबिम्बम्, रामायाः ओष्ठबिम्बम् रामोष्ठबिम्बम् तस्य यच्चुम्बनं तेन वित्तः रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुः, तेन रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना (तृ० पु०)।

व्याकरणम्—स्फुरा—स्फुर + क्विप् रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना—'तन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (५।२।२६) इति चुञ्चुप् प्रत्ययः।

हिन्दी—इस (श्रीकृष्ण के वचन के समाप्त हो जाने) के बाद शत्रु के द्वारा किये हुए अपराध के स्मरण से उत्पन्न हुए क्रोध से फड़कने वाले (तथा) रेवती के ओष्ठबिम्ब के चुम्बन में प्रसिद्ध होठों से शोभित बलरामजी बोले)॥ १४ ॥

किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम्।
प्रापयन् पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम्॥ १५ ॥

अन्वय:—विवक्षितां तत्क्षणप्रतिसंहृताम् अर्थविदः पवनव्याधेः गिरम् उत्तरपक्षतां प्रापयन् (रामो जगाद)।

बालबोधिनी—विवक्षिताम्=वृद्धत्वाभिमानेन प्रथमं वक्तुमिष्टाम् । तत्क्षण-प्रतिसंहृतां=विवक्षाक्षणे एव बलरामानुरोधादुपरुद्धाम् । तत्क्षणमिति पाठे तत्कालमेवेत्यर्थः । अर्थविदः=कार्यज्ञस्य । पवनव्याधेः=उद्धवस्य । गिरम्=वाचम् । उत्तरपक्षताम् = सिद्धान्तपक्षताम् । प्रापयन् = गमयन् नयन् । (—रामो जगाद) । अनेन बलरामस्य व्यग्रतोक्ता ।

कोशः—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु, इत्यमरः । 'रोगव्याधिगदामयाः, इत्यमरः ।

समासः—तस्याः क्षणः तत्क्षणः, अथवा— स एव क्षणः तत्क्षणः, तत्क्षणे प्रतिसंहृता तत्क्षणप्रतिसंहृता' ताम् –तत्क्षणप्रतिसंहृताम् । अर्थं वेत्तीति अर्थवित्, तस्य अर्थविदः । पवनेन पवनस्य वा व्याधिर्यस्य सः तस्य पवनव्याधेः (त० पु) । उत्तरश्च असौ पक्षश्च उत्तरपक्षः, तस्य भावस्ताम्—उत्तरपक्षताम् ।

व्याकरणम्—विवक्षिताम्—वि+वच्+सन् कर्मणि क्तः । प्रापयन्—प्र+आप+णिच+शतृ+नुम्

हिन्दी—कहने के लिए अभिलषित (किन्तु बलरामजी को बोलते हुए देखकर) तत्काल ही प्रतिरुद्ध (रोकी गई) कार्यपटु उद्धवजी की वाणी को सिद्धान्तरूप में स्थापित करते हुए (बलरामजी बोले) ॥ १५ ॥

पुनः किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

घूर्णयन् मदिरास्वादमदपाटलितद्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ॥ १६ ॥

अन्वयः—मदिरास्वादमदपाटलितद्युती रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ घूर्णयन् (रामो जगाद) ।

बालबोधिनी—मदिरास्वादमदपाटलितद्युती = मद्यपानजनितक्षीबताऽऽरक्तीकृतकान्ती । रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे = रेवतीनामस्वभार्यामुखोच्छिष्टचर्बितताम्बूलादिसम्पर्कपवित्रितपुटे । क्वचिद् 'वदन' इत्यस्य स्थाने दशनेति पाठस्तत्र दन्तेत्यर्थः । दृशौ=नयने । घूर्णयन्=भ्रामयन् (—रामो जगाद) । अत्रोच्छिष्टपदार्थस्य पावित्र्यजनकत्वेन प्रथमं विरोध प्रतीयते किन्तु रतिकाले कान्तामुखस्य शुद्धत्वान्न स वास्तविक इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । उक्तं च काव्यप्रकाशे—'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन । यद्वचः' इति । रतिकाले कामिनीनां मृगयायां च शुनां मुखं पवित्रं भवति तथा चोक्तम्—

'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम् ।' इति ।

अन्यच्च—गवां पश्चाद् द्विजस्याङ्घ्री योगिनां हृत्कवेर्वचः।
परं शुचितमं विद्यान्मुखं स्त्रीवह्निवाजिनाम् ।। इति ।।

कोशः—'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः । वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमर :। शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः ।

समासः—आस्वादनम् = आस्वादः, मदिरायाः आस्वादः मदिरास्वादः तेन यः मदः मदिरास्वादमदः तेन पाटलिता द्युतिर्ययोस्ते तथाभूते मदिरास्वादमदपाटलितद्युती (त० पु० गर्भं ब० व्री०)। रेवत्याः वदनं रेवतीवदनम्; तस्मिन् यदुच्छिष्टं तेन परिपूते पुटे ययोस्ते रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे (त० पु० गर्भं ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—घूर्णयन्—घूर्ण + णिच् + कर्तरि शतृ ।

हिन्दी—मद्यपान करने से उत्पन्न नशे से गुलाबी वर्ण वाले तथा रेवती के जूठे (मद्यपानादि) से पवित्र कोरों वाले दोनों नेत्रों को घुमाते हुए (बलरामजी बोले) ।। १६ ।।

अपरं किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् ।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ।। १७ ।।

अन्वयः—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् वनमालाम् अभिमानोष्णैः मुखानिलैः म्लापयन् (रामो जगाद) ।

बालबोधिनी—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् = आलिङ्गनोत्सुक, रमणीकुचकाठिन्योपद्रष्ट्रीम्, गाढालिङ्गनप्रवणप्रमदाजनस्तनैः नित्यं निर्दयं पीड्यमानमिति भावः । वनमालां=आपादलम्बिनीं वन्यपत्रपुष्पनिर्मितां मालाम् । अभिमानोष्णैः=अहङ्कारसन्तप्तैः । मुखानिलैः = निःश्वासवायुभिः । म्लापयन्=म्लानां कुर्वन्, म्लापयन् (रामो जगाद) । वनमालायाः लक्षणमाह पुरुषोत्तमः—'आपादलम्बिनी माला वनमालेति कथ्यते' इति । वाचस्पतौ तु—

आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला ।
मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता ।। इति ।

अत्राम्लानत्वेऽपि म्लानत्वसम्बन्धकथनादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

कोशः—'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः। प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा॥ सुन्दरी रमणी रमा' इत्यमरः।

समासः— आश्लेषे लोलुपा आश्लेषलोलुपा सा चाऽसौ वधूश्च आश्लेषलोलुपवधूः। तस्याः यौ स्तनौ तयोः यत् कार्कश्यं तस्य साक्षिणी ताम्—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् (त० पु०)। वनस्य माला वनमाला ताम्=वनमालाम्। अभिमानेन उष्णः अभिमानोष्णः, तैः अभिमानोष्णैः। मुखस्य अनिला मुखानिलाः, तैः मुखानिलैः।

व्याकरणम्—साक्षिणीम्—साक्षाच्छब्दात् 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१) इतीनि प्रत्ययः। म्लापयन्—म्लायतेः ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः, 'आदे च उपदेशेऽशिति' (३।१।४५) इत्यात्वे पुगागमः।

हिन्दी—आलिङ्गन करने के लिए लालायित (रेवती नाम वाली अपनी) प्रिया के स्तनों की कठोरता को जानने वाली वनमाला को अभिमान से उष्ण निःश्वास पवनों से म्लान करते हुए (बलरामजी बोले)।

टिप्पणी—पैर तक लटकती हुई एक विशेष प्रकार की माला को वनमाला कहते हैं (लक्षण संस्कृत टीका में उद्धृत है)। उस वनमाला को पहने हुए बलरामजी ने आलिङ्गन के लिए उत्सुक अपनी प्रिया रेवती का (रतिकाल में) आलिङ्गन किया, जिससे वनमाला के फूल मर्दित हो गये। क्योंकि रेवती के स्तन कठोर थे अतः उन स्तनों की कठोरता को जानने वाली वह वनमाला थी॥ १७॥

अपरं किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

दधत्सन्ध्यारुणव्योम स्फुरत्तारानुकारिणीः।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः॥ १८॥

अन्वयः—सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः, द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः दधत् (—रामो जगाद)।

बालबोधिनी—सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः = सायङ्कालीनरक्ताकाशप्रकाश्यमाननक्षत्रतुल्याः। द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः = शत्रुकृतापकारस्मरणलोहिताङ्गसंसक्ताः। स्वेदविप्रुषः = धर्माम्बुकणान्। दधत्=धारयन्। (रामो जगाद)। अत्रोपमालङ्कारः।

कोशः—'सायं सन्ध्या पितृप्रसूः' इत्यमरः। नक्षत्रं ऋक्षं भं तारा तार-

काप्युडु वा स्त्रियाम्' इत्यमरः। 'द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। पृषन्ति पृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—सन्ध्यायां अरुणं सन्ध्यारुणं, संध्यारुणं च तद् व्योम सन्ध्यारुणव्योम,, तत्र स्फुरन्त्यश्च ताः ताराश्च सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्ताराः, ताः अनुकुर्वन्तीति ताः सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः। द्विषतां द्वेषः द्विषद्द्वेषः तेन रक्तं द्विषद्द्वेषोपरक्तम्, द्विषद्द्वेषोपरक्तं च तदङ्गं च द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गं तत्र सङ्गिन्यः ताः द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः। स्वेदस्य विप्रुषः स्वेदविप्रुषः ताः स्वेदविप्रुषः।

व्याकरणम्—तारानुकारिणीः-तारा+अनु+कृ+णिनिः+ङीप्। अङ्गसङ्गिनीं—अङ्ग+सङ्ग+णिनिः+ङीप्। दधत्—धा कर्तरि+शतृ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः।

हिन्दी—सायङ्कालीन लाल रङ्ग वाले आकाश में नक्षत्रों का अनुकरण करने वाली, शत्रु के विषय में उत्पन्न क्रोध से रक्तवर्ण वाले, शरीर मे लगी हुई पसीने की बूँदों को धारण करते हुए (वलरामजी) बोले ॥ १८ ॥

अन्यत्किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा कृष्णोत्तरासङ्गरुचं चौतपल्लवीं विदधत् (=रामो जगाद)।

बालबोधिनी—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा=देदीप्यमानकुण्डलस्यूतमाणिक्यशकलकान्त्या। कृष्णोत्तरासङ्गरुचं=नीलोत्तरीयकान्तिम्। चौतपल्लवीं आम्रपल्लववद्धूम्राम्। विदधत्=कुर्वन्। कृष्णलोहितवर्णसम्पर्केण धूम्रवर्णोत्पत्तिरिति भावः। चौतपल्लवीमित्यस्य स्थाने चूतपल्लवीमिति पाठे पीतामित्यर्थः नीलवर्णमध्ये पीतत्वं प्रापयन्निति भावः। आभीरदेशे नीलपीतं वस्त्रं चूतपल्लवं भण्यते अत्रान्यस्य रुचं कथमन्यः प्राप्नुयादिति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानान्निदर्शनाऽलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'निदर्शना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' इति।

कोशः—'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः। रोचिः शोचिरुभे क्लीबे' इत्यमरः। द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा संव्यानमुत्तरीयं च इत्यमरः। 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः।

समासः—कुण्डलयोः प्रोतानि कुण्डलप्रोतानि, पद्मरागस्य दलानि पद्मरागदलानि, कुण्डलप्रोतानि च तानि पद्मरागदलानि च कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि, प्रोल्लसन्ति च तानि कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि च प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलानि, तेषां त्विट् तया—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा । उत्तरे ऊर्ध्वभागे आसज्जते । इति उत्तरासङ्गः । कृष्णश्चासौ उत्तरासङ्गश्च कृष्णोत्तरासङ्गः, तस्य रुक् ताम्—कृष्णोत्तरासङ्गरुचम् । चूतपल्लवस्य इयं चौतपल्लवी ताम् चौतपल्लवीम् ।

व्याकरणम्—चौतपल्लवीम्—चूतपल्लव + अण् + ङीप् । विदधत्—वि + धा + शतृ ।

हिन्दी—अत्यन्त चमकते हुए कुण्डलों में जड़े हुए पद्मराग मणियों के टुकड़ों की लाल कान्ति से (ओढ़े हुए अपने) काले दुपट्टे की कान्ति को आम की कोपल जैसी (कान्ति के समान) करते हुए बलरामजी बोले ॥ १९ ॥

अपरं किं कुर्वन् रामो जगादेत्याह—

ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥

अन्वयः—ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया मदिरया कृतानुव्याधं मुखामोदम् उद्वमन् (रामो जगाद) ।

बालबोधिनी—ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया = रेवतीमुखान्तःस्थितिलब्धसौरभया । मदिरया=मद्येन, सुरया कृतानुव्याधं = विहितसंसर्गम् । मुखामोदं=स्वमुखसौरभम् । उद्वन् = उद्गिरन्—(रामो जगाद) । अत्र तद्गुणालङ्कारः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः' ।

कोशः—'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैरधिवासनमुच्यते' इत्यभिधानम् । 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः ।

समासः—ककुद्मिनः कन्या ककुद्मिकन्या, तस्याः वक्त्रम्-ककुद्मि-कन्यावक्त्रम्, तस्य अन्तः, ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तः, तत्र वासेन लब्धोऽधिवासो यया सा तया ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया । कृतः अनुव्याधो येन स तम्-कृतानुव्याधम् । आ समन्ताद् मोदन्ते जना अनेनेति आमोदः, मुखस्य आमोदः मुखामोदः, तम्—मुखामोदम् ।

व्याकरणम्—उद्वमन्=उद्—वम् शतृ ।

हिन्दी—रेवती के मुख में रहने से सुगन्धित हुई मदिरा से सम्पर्क करने वाली अपने मुख की सुगन्धि को उगलते हुए बलरामजी बोले।

टिप्पणी—ककुद्मी कुशस्थली का राजा था। उनकी कन्या का नाम रेवती था। वह अद्वितीय सुन्दरी थी। जब वह विवाह के योग्य हुई तो उसके पिता उसके योग्य वर को इस भूमण्डल पर न पा सके। अतः वे अपनी कन्या को साथ लेकर ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी के पास पहुँचकर बोले कि क्या मेरी इस कन्या के योग्य कोई वर इस भूमण्डल पर बनाया है? तब ब्रह्मा ने बताया कि तुम्हें भूलोक से यहाँ आने में कई युग बीत गये हैं और वापस भूलोक पहुँचने तक फिर कितने हीं युग और बीत जायेंगे। (हमारे चार हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है) तुम्हारे भूलोक पर पहुँचने तक द्वापर युग रहेगा। उस समय द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण रहेंगे (इनके बड़े भाई बलराम) के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। तब ककुद्मी ने भूलोक में आकर बलरामजी के साथ उस अपनी कन्या रेवती का विवाह किया। यह रेवती पद्मिनी संज्ञक नायिका थी। उसने जिस मदिरा का पान किया वह मदिरा उसके मुख की सुगन्धि से सुगन्धित हो गई थी। उस उच्छिष्ट मदिरा का बलरामजी ने पान किया जिससे उनका मुख भी उससे सुगन्धित हो गया॥ २०॥

अपरं किं कुर्वन्नित्याह—

जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः॥ २१॥

अन्वयः—वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः मधुलिहः उदग्रदशनांशुभिः श्वैत्यं नयन् जगाद।

बालबोधिनी—वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः=मुखव्याजकमलप्रान्तसञ्चारिणः। मधुलिहः=मधुपान्, भ्रमरान्। उदग्रदशनांशुभिः=उन्नतदन्तकिरणैः। क्वचित् उदग्रदशनांशुभिरिति पाठस्तत्र उज्ज्वलदन्तकिरणैरित्यर्थः। श्वैत्यं=शुक्लत्वम्। नयन्=प्रापयन् (रामः—) जगाद=उवाच। अत्र तद्गुणोत्प्रेक्षासंशयापह्नुति-विरोधानां साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः। कुलकम्।

कोशः—'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्' इत्यमरः मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः' इत्यमरः। 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः।

समासः—वदनमेव छद्म यस्य तत् वदनच्छद्म, वदनच्छद्म च तत् पद्मं च वदनच्छद्मपद्मं, तस्य पर्यन्ते पतन्तीति तच्छीलास्तान् तथोक्तान् वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः (ब० व्री० गर्भ त० पु०)। मधु लिहन्तीति मधुलिहः, तान् मधुलिहः। दशनानाम् अंशवः दशनांशवः, उदग्राश्च ते दशनांशवः उदग्रदशनांशवः, तैः उदग्रदशनांशुभिः।

व्याकरणम्—श्वैत्यम्—गुणवचनत्वात् ष्यञ्। पर्यन्तपातिनः–पर्यन्त+पत्+णिनिः। नयन्–नी+कर्तरि शतृ।

हिन्दी—मुखरूपी कमल के पास घूमते हुए भौंरो को (अपनी उज्ज्वल एवं बाहर निकली हुई) दन्त किरणों से श्वेत करते हुए बलरामजी बोले ॥ २१ ॥

बलरामः किमुवाचेत्याह—

यद् वासुदेवेनाऽदीनमनादीनवमीरितम्।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—वासुदेवेन अदीनम् अनादीनवम् यत् ईरितम्, तस्य वचसः सपदि क्रिया केवलम् उत्तरम्।

बालबोधिनी—वासुदेवेन=कृष्णेन। अदीनम्=अकातरम्। ओजस्वि। अत एव—अनादीनवम्=निर्दोषम्। यत्='उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्य पथ्यमिच्छता' इत्यादि यद्वचः। ईरितं=कथितम्। तस्य वचसः=पूर्वोक्तवाक्यस्य। सपदि=सद्यः। क्रिया=अनुष्ठानमेव। केवलं=एकम्। उत्तरं=समाधानम्। नान्यदित्यर्थः।

कोशः—'वाच्यवद् दुर्गते भीते दीनम्' इति मेदिनी। 'दोष आदीनवो मतः, इत्यमरः। 'सद्यः सपदि तत्क्षणे' इत्यमरः।

समासः—न दीनम् अदीनम् (नञ् त० पु०)। आदीनं यथा स्यात्तथा वाति=सर्वतो वहतीति आदीनवः (दोषः), नास्ति आदीनवो यस्य यस्मिन् वा तत्–अनादीनवम्=दोषरहितमित्यर्थः।

व्याकरणम्—अदीनम्+नञ्+दीङ्+क्तः। आदीनवम्–आ+दीङ्क्षये+क्तः 'ओदितश्च' (८।२।४५) इति नत्वम्।

हिन्दी—श्रीकृष्ण ने दीनता से रहित (ओजस्वि) एवं निर्दोष जिस वचन को कहा है, तत्काल कार्यरूप में परिणत करना ही उस वचन का उत्तर है (क्योंकि कृष्ण जी ने सिद्धान्तभूत वचन कहा है) ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णवचनस्यानुलङ्घनीयत्वं दृष्टान्तेन समर्थयति—

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—लघु अपि एतत् वचः भूयस्या वाचा न अतिशय्यते, इन्धनौघधक् अपि अग्निः त्विषा पूषणं न अत्येति ।

बालबोधिनी=लघु अपि=संक्षिप्तमपि । एतद् वचः=श्रीकृष्णोक्तं वचः भूयस्या=सविस्तरया, विपुलया । वाचा=अस्मदादिगिरा । न अतिशय्यते=न नोल्लङ्घयितुं शक्यते, न तिरस्कर्तुं शक्यते । गुर्वर्थत्वादिति भावः । तथा हि इन्धनौघधक् अपि=काष्ठराशिदाहकोऽपि । अग्निः=वह्निः । त्विषा=कान्त्या प्रभया, तेजसा । पूषणं=सूर्यम् । न अत्येति=नातिक्रामति, न पराभवितुं शक्नोति । अत्र समानधर्मबिम्बप्रतिबिम्बभावेन दृष्टान्तनामकोऽलङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे–'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।' इति ।

कोशः—'व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः । कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः । विकर्तनार्कमार्तण्डमिहिरारुणपूषणः ।' इत्यमरः ।

समासः—इन्धनानामोघःइन्धनौघः, तं दहतीति इन्धनौघधक् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—ओघधक्–ओघ+दह+क्विप् ततो घत्वधत्वभष्भावाः। अतिशय्यते–अति+शीङ्+कर्मणि लट्+यक्+त । अत्येति–अति+इण् लट्–तिप् ।

हिन्दी—स्वल्प (थोड़े अक्षरों वाला) भी यह (कृष्ण के द्वारा बोला गया) वचन लम्बी चौड़ी (हम लोगों की) वाणी के द्वारा लाँघा नहीं जा सकता । काष्ठ के ढेर को जलाने वाला भी अग्नि तेज से सूर्य को नही लाँघता है ॥ २३ ॥

यदि हरिवचनं कस्यापि वाचा नातिशय्यते तदा तु तवाऽपि वचनं निरर्थकमिति मनसि निधाय ब्रूते सीरपाणि :—

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

अन्वयः—अतः सुविस्तरतरा मे वाचः संक्षिप्तस्य अपि अर्थगरीयसः अस्यैव वाक्यस्य भाष्यभूता भवन्तु ।

बालबोधिनी—अतः=हरिवचनस्याऽनतिशयनीयतयैव, हरिवचसो युक्तियुक्ततयैव । सुविस्तरतराः = नितरां विस्तृताः मे = बलरामस्य । वाचः = वक्ष्यमाणानि वचनानि संक्षिप्तस्य=लघुनः,=परिमिताक्षरस्य, अपि । अर्थगरीयसः = महार्थस्य, सूत्रसदृशस्येति भावः । अस्यैव = वासुदेवोक्तस्यैव । वाक्यस्य=वचनस्य । भाष्यभूता=विवरणरूपाः' व्याख्यानस्थानीयाः भवन्तु= सन्तु । अनिवृत्तं शास्त्रमबुद्ध्वा सर्वो दूषयतीति हेतोरहं हरिवचनविशेषप्रकाशनायैव किञ्चिद्वच्मि । अत्रोपमालङ्कारः ।

कोशः—'विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । 'व्याहार उक्तिर्लपनं भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः । 'क्षमादो जन्तौ भूतं क्लीबं सुसमेऽतीते चिरे त्रिषु' इति वैजयन्ती ।

समासः—सुष्ठु विस्तरः यासां ताः सुविस्तराः, अतिशयेन सुविस्तराः सुविस्तरतराः । अतिशयेन गुरुः गरीयः, अर्थेन गरीयः अर्थगरीयः तस्य अर्थगरीयसः । भाष्येण तुल्याः भाष्यभूताः ।

व्याकरणम्—संक्षिप्तस्य—सं+क्षिप्+क्तः सुविस्तरतराः—सु+विस्तृ+अप् ततोऽतिशायने तरप । अर्थगरीयसः—अर्थगुरु ईयसुन् गुरोर्गरादेशः भवन्तु भू+लोट्—झि ।

हिन्दी—अतः सुविस्तृत मेरे वचन संक्षिप्त (होने पर) भी महान् अर्थ वाले इसी वाक्य के व्याख्यानरूप हों ।

टिप्पणी—'संक्षिप्तस्यार्थगरीयस वाक्यस्य' इस वाक्यांश के द्वारा कवि ने बलराम के द्वारा श्रीकृष्ण के वचन को सूत्ररूप बतलाया है तथा इसके बाद आगे बलराम की वाणी को भाष्यरूप कहा है । सूत्र का लक्षण इस प्रकार है—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।। इति ।

अर्थात् थोड़े अक्षरों वाला, सब प्रकार के सन्देह से रहित, गुरु अर्थ वाला, अव्याप्ति आदि तीन दोषों से रहित वाक्य ही सूत्र कहलाता, ऐसा सूत्रकार मानते हैं । भाष्य का लक्षण इस प्रकार है—

सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

अर्थात् सूत्र में स्थित पदों को लेकर सूत्रानुसारी वाक्यों द्वारा आ उक्तियों से उसका जो विस्तार किया जाता है उसे भाष्यवेत्ता भा कहते हैं ।। २४ ।।

इत्थं शिशुपालं प्रति याने निश्चिते सति तत्रोद्धवं प्रतिवन्धकं मत्वा त्रि तस्य प्रत्याख्यानं करोति—

विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—कृतिनां=गिरः (कर्त्र्यः) विरोधिवचसः वागीशानपि मूक कुर्वते अनुलोमार्थान् जडान् अपि प्रवाचः कुर्वते ।

बालबोधिनी—कृतिनां = कुशलानाम्, वाक्पटूनाम् । गिरः=वाच विरोधिवचसः=विरुद्धवचनान्, निश्चितार्थनिषेधकान् । वागीशान्=वाक्प नपि, भवादृशानतिप्रवीणानिति भावः । मूकान् = निर्वाचः, वचनहीन कुर्वते=विदधति । अनुलोमार्थान्=अनुकूलवादिनः, स्वानुयायिनः । ज नपि=मन्दमतीनपि । मादृशान् मूर्खानपीति भावः । प्रवाचः=प्रगल्भवा प्रकृष्टवाणीन् । कुर्वते=विदधति । अतो मम गिरः प्रवाच्या इति भावः अत्र वाक्पतीनां मूकीकरणाज्जडानां च प्रवाक्त्वकरणाच्च अशक्यकरणवस्तु विशेषनामकोऽलङ्कारः । स चासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापि इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'अवाचि मूकः' इत्यमरः । 'वागीशो वाक्पतिः समौ' इत्यमरः 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः ।

समासः—विरोधि वचो येषां ते विरोधिवचसः, तान् विरोधिवचसः वाचामीशाः वागीशाः तान् वागीशान् । अनुलोमः अर्थः येषां तान् अनुलोमार्थान् प्रकृष्टा वाक् येषां तान् प्रवाचः ।

व्याकरणम्—कृति—कृत + इनिः । कुर्वते—कृ + लट् + झ ।

हिन्दी—कुशल (नीतिनिपुण एवं कार्यज्ञ) व्यक्तियों के वचन वि बोलने वाले वागीशों (बृहस्पति के तुल्य विद्वानों) को भी मूक (निरुत्तर बना देते हैं और अनुकूल बोलने वाले मूर्खों को भी प्रवक्ता (वाग्मी) ब देते हैं ।। २५ ।।

नन्वात्महितेच्छुना स्वामिना 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' इति न्यायेन शास्त्रज्ञव प्रतिकूलमपि ग्राह्यमेवेत्याशङ्क्याह—

षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—दुर्मेधसः अपि ग्रन्थान् अधीत्य गुणाः षट् शक्तयः तिस्रः, सिद्धयः तिस्रः, उदयाः त्रयः इति व्याकर्तुम् अलम् ।

बालबोधिनी—दुर्मेधसोऽपि = मन्दबुद्धयोऽपि, जडधियोऽपि । ग्रन्थान्= औशनसबार्हस्पत्यादिनीतिशास्त्राणि । अधीत्य = पठित्वा । गुणाः = सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः । षट् = षट्संख्याकाः । शक्तयः= प्रभुत्वमन्त्रोत्साहाख्याः । तिस्रः = तिस्र एव । सिद्धयः = प्रभावमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसाध्याः पुरुषार्थलाभात्मिकाः, प्रभुत्वसिद्धिमन्त्रसिद्ध्युत्साहसिद्धिरूपाः । त्रयः =त्रय एव । इति=इत्थम् । व्याकर्तुं = व्याख्यातुम् । अलं=समर्थाः । तत्रारिविजिगीष्वोर्व्यवस्थाकरणमैक्यं सन्धिः । विरोधो विग्रहः । विजिगीषोररिं प्रति यात्रा यानम् । तयोर्मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानमासनम् । एकेन सह सन्ध्याऽपरेण सह विग्रहकरणं द्वैधीभावः । अथवा—दुर्बलप्रबलयोर्वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः । अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं संश्रयः । कोशदुर्गदण्डोत्थं तेजः प्रभावः (प्रभुशक्तिः) कोशो भाण्डागारः, 'खजाना' इति भाषायाम् । दुर्गः प्राकारः । चतुरङ्गबलं दण्डः । कर्त्तव्यार्थेषु स्थेयान्प्रयत्न उत्साहः । षड्गुणचिन्तनं मन्त्रः । अन्यत् स्पष्टम् ।

कोशः—'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः षड्गुणाः' इत्यमरः । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः । 'क्षयः स्थनाश्च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्' इत्यमरः ।

समासः—दुष्टा मेधा येषां ते दुर्मेधसः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—दुर्मेधशब्दात् 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' (५।४।१२२) इति समासान्तोऽसिच् प्रत्ययः । सिद्धयः—सिध+क्तिन् । उदयाः—उत्+इ+अच् । अधीत्य—अधि+इ+क्त्वा—ल्यप् । व्याकर्तुम्—वि+आ+कृ+तुमुन् ।

हिन्दी—दुर्बुद्धि लोग भी (शुक्रनीति आदि) ग्रन्थों को पढ़कर—गुण छः होते है, शक्तियाँ तीन होती हैं, सिद्धियाँ (शक्तियों से लाभ) भी तीन होती हैं तथा उदय भी तीन होते हैं—इस प्रकार व्याख्या करने में समर्थ हो सकते हैं (परन्तु राजनीति के गूढ रहस्य को समझना और कहना अत्यन्त कठिन है) ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र को पढ़कर प्रतिभाशून्य मूर्ख लोग भी गुण, शक्ति, सिद्धि एवं उदय आदि के भेद तथा लक्षणादि कह सकते हैं। परन्तु किस अवसर पर क्या करना चाहिए, यह तो कार्यकुशल राजनीतिशास्त्र के रहस्य को समझने वाले श्री कृष्ण ही जान सकते हैं, उद्धव आदि इस रहस्य को नहीं समझ सकते हैं।

गुण—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय ये छः गुण कहे जाते हैं। (१) सन्धि—शत्रु को अपने से अधिक पराक्रमी समझकर या किसी अन्य कारण से किसी विशेष शर्त के साथ मेल कर लेना सन्धि कहलाता है। (२) विग्रह—शत्रु को अपने बराबर या हीन बल वाला जानकर उसके विरुद्ध कोई ऐसा कारण उपस्थित करना जिससे वह लड़ने को तैयार हो जाय, विग्रह या विरोध कहलाता है। (३) यान—शत्रु पर चढ़ाई करना यान कहलाता है, अथवा शत्रु को प्रबल समझकर अपने स्थान से हट जाना भी यान कहलाता हैं। (४) आसन—शत्रु की शक्ति का ज्ञान न हो तो परस्पर अवरुद्ध शक्ति वालों का समय की प्रतीक्षा करते हुए चुप बैठ जाना आसन कहलाता है (५) द्वैधीभाव—जब दो शत्रु एक साथ लड़ने के लिए तैयार हों तो एक के साथ सन्धि करके दूसरे से लड़ाई करना द्वैधीभाव कहलाता हैं। अथवा—एक ही शत्रु से पहले सन्धि करके पुनः शक्तिसंचय करने के बाद विग्रह करना द्वैधीभाव कहलाता है। वास्तव में तो शत्रु राजा के मन्त्री तथा मित्र राजाओं में किसी प्रकार दोष लगाकर उन्हें शत्रु राजा से अलग कर देना तथा उनमें परस्पर फूट डाल देना द्वैधीभाव कहलाता है। (६) संश्रय—बलवान् शत्रु से पीड़ित होने पर किसी बलवान् राजा की शरण लेना संश्रय कहलाता है।

शक्तियाँ—शक्तियाँ तीन होती हैं—प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति उत्साह शक्ति। (१) प्रभुशक्ति—प्रभुशक्ति का अर्थ है प्रभावशाली होना। जिसके अक्षय खजाना है, विशाल सेना है एवं दृढ किला तथा युद्ध के अनेक साधन शस्त्रादि है वह प्रभुशक्तिसम्पन्न कहलाता है। इस प्रकार के राजा के प्रभाव से ही शत्रु दबे रहते हैं (२) मन्त्रशक्ति—इसी को बुद्धि शक्ति भी कहते हैं। सन्धि, विग्रह आदि गुणों का कहाँ एवं किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, इन बातों का ज्ञान होना एवं उसी के अनुसार कार्य करना मन्त्रशक्ति कही जाती है। पञ्चतन्त्र की सिंह एवं शशककी कथा इसी का उदाहरण है। (३) उत्साह शक्ति—पराक्रम

का आधिक्य एवं कर्त्तव्य कार्यों के करने में सुदृढ़ प्रयत्न (करना) उत्साह शक्ति कहलाती है श्री रामचन्द्र जी के पास विशेष रूप से मन्त्र शक्ति ही थी, जिसके कारण वे त्रिलोक विजयी रावण को भी जीतने में समर्थ हुए। सिद्धि—उपर्युक्त तीन शक्तियों का अपने-अपने लक्ष्य में सफल हो जाना सिद्धि कहलाता है। अथवा यों कहिये कि सिद्धियां, शक्तियों के लाभ (फल) हैं। अतः ये सिद्धियाँ भी तीन होती हैं—प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साह सिद्धि। उदय—उदय शब्द यहां दशा का वाचक है। उदय भी तीन हैं—वृद्धि, क्षय, स्थान। जिस स्थिति में पतनोन्मुख होना क्षय कहलाता है। तथा ज्यों का त्यों बना रहना अर्थात् पूर्वस्थिति में ही बना रहना स्थान कहलाता है ॥ २६ ॥

नीतिशास्त्ररटनेन किं प्रयोजनम्, सर्वथा कार्यतत्वमेवावगन्तव्यमित्येतद् दर्शयितुमाह—

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्मिनः वाग्जालं निमित्ताद् अपराद्धेषोः धानुष्कस्य वल्गितम् इव वृथा।

बालबोधिनी—अनिर्लोडितकार्यस्य = अनवलोकितकार्यस्य, अपर्यालोचित-कृत्यस्य, कार्याकार्यमजानत इत्यर्थः। अनिर्लोडितकार्यस्येति पाठेऽपि स एवार्थः। वाग्मिनः=वावदूकस्य, वाचालस्य। वाग्जालं=वागाडम्बरः, भारतीप्रपञ्चः। निमित्तात्=लक्ष्यात्। अपराद्धेषोः=च्युतसायकस्य, स्खलितशरस्य। धानुष्कस्य=धन्विनः, धनुर्धरस्य। वल्गितमिव=वल्गिनिकेव, आत्मश्लाघेव। वृथा=निरर्थकमेव। कार्यज्ञस्यैव वचनं गृहीतव्यं न तु वाचालस्येति भावः।

कोशः—'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः। 'वेध्यं लक्ष्यं निमित्तं च शरव्यं च समं विदुः' इति यादवः। अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्य-श्च्युतसायकः इत्यमरः। 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः।

समासः—न निर्लोडितम् अनिर्लोडितम्, अनिर्लोडितं कार्यं येनाऽसौ अनिर्लोडितकार्यः, तस्य—अनिर्लोडितकार्यस्य। वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी, तस्य-वाग्मिनः। वाचां जालं वाग्जालम् अपराद्ध इषुर्यस्य सः अपराद्धेषुः तस्य अपरा-द्धेषोः (ब० ब्री०)। धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः तस्य धानुष्कस्य।

व्याकरणम्—वाग्मी—वाच् + ग्मिनिः वाचो ग्मिनिः' (५।२।१२४) इति।

धानुष्कः--धनुशब्दात् 'प्रहरणम्' (४।४।५७) इति धनुषष्ठक् 'इसुसुक्तान्तात्कः' (७।३।५१) इति कः । वल्गितम्—वल्ग + क्तः ।

हिन्दी—कार्य का विचार पूर्वक विवेचन न करने वाला अर्थात् कर्त्तव्या-कर्त्तव्य को न समझने वाले वाग्मी (बहुत बोलने वाले विद्वान्) का वचन-समूह लक्ष्य से भ्रष्ट बाण वाले धनुर्धारी की आत्मप्रशंसा के समान व्यर्थ होता है (यहां भी बलराम जी उद्धव के वक्ष्यमाण वचन को न ग्रहण करने का संकेत कर रहे हैं) ॥ २७ ॥

षाड्गुण्यादिपाठमात्रं न मन्त्र इत्युक्त्वा सम्प्रति स्वयं मन्त्रस्वरूपमाह—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नाऽस्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—सर्वकार्यशरीरेषु अङ्गस्कन्धपञ्चकं मुक्त्वा सौगतानाम् आत्मा इव महीभृताम् अन्यः मन्त्रः न अस्ति ।

बालबोधिनी—सर्वकार्यशरीरेषु=सर्वेषु शरीरेषु इव सर्वेषु सन्धिविग्रहादिषु कार्येषु । अङ्गस्कन्धपञ्चकम् = रूपादिस्कन्धपञ्चकमिव सहायाद्यङ्गपञ्चकम् । मुक्त्वा=परित्यज्य, त्यक्त्वा । सौगतानां=बौद्धानाम् । अन्यः=स्कन्धपञ्च-कातिरिक्तः । आत्मा=क्षेत्रज्ञः, इव । महीभृतां=राज्ञाम् । अन्यः=अङ्गपञ्च-कातिरिक्तः । मन्त्रः—मन्त्रपदवाच्यः । नाऽस्ति=न विद्यते, कर्मणामारम्भोपाय पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विपत्तिप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि उक्तं च कामन्दकेन—

सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयोः ।
विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥ इति ॥

रूप-वेदना विज्ञान-संज्ञा-संस्कारा पञ्चस्कन्धा । तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः, तज्ज्ञानप्रपञ्चो वेदना-स्कन्धः, आलयविज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः. नामप्रपञ्चः संज्ञास्कन्धः । वासना-प्रपञ्चः संस्कारस्कन्धः । एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञान-सन्तान एवात्मेति बौद्धाः । यथा बौद्धानां सर्वेषु शरीरेषु स्कन्धपञ्चकं मुक्त्वान्य आत्मा नाऽस्ति तथा राज्ञामङ्गपञ्चक मुक्त्वाऽन्यो मन्त्री नास्तीत्युपमालङ्कारः ।

कोशः—'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः ।

समासः—सर्वाणि च तानि कार्याणि च सर्वकार्याणि च सर्वकार्याणि, सर्व-कार्याणि शरीराणीव सर्वकार्यशरीराणि,तेषु सर्वकार्यशरीरेषु—इति राजनीति पक्षे विग्रहः । सौगतसिद्धान्तपक्षे सर्वकार्याणीव सर्वशरीराणि तेषु सर्वकार्यशरीरेषु

इति विग्रहः कार्यः। पञ्च एव पञ्चकम्, अङ्गानि स्कन्धा इव अङ्गस्कन्धाः, इति राजनीतिपक्षे। अन्यत्र—अङ्गानीव स्कन्धाः अङ्गस्कन्धाः, तेषां पञ्चकम्—अङ्गस्कन्धपञ्चकम् (उपमितसमासः)। सुगतो, भक्तिः = भजनीयः, येषां ते सौगताः।

व्याकरणम्—सौगतानाम्—सुगतो भक्तिः (पूजापात्रम्) येषां तेषामिति विग्रहे—'भक्तिः' (४।३।९५) इत्यण् प्रत्ययः। आत्मा—अत+मनिन्। मन्त्रः-मन्त्र+अच्+इदित्वान्नुम्। अस्ति—अस्+लट्+तिप्।

हिन्दी—जैसे बौद्धों के मत में सभी शरीरों में रूपादि पाँच स्कन्धों को छोड़कर अन्य कोई आत्मा (नाम का पदार्थ) नहीं है (परन्तु रूपादि पांच स्कन्ध ही आत्मा हैं) उसी तरह से (राजाओं के कर्त्तव्य-रूप-सन्ध्यादि) समस्त कार्यों में सहायादि पाँच अङ्गों के अतिरिक्त कोई दूसरा मन्त्र नहीं है (किन्तु सहायादि पाँच अङ्ग ही मन्त्र हैं)।

टिप्पणी—बौद्ध दार्शनिकों के चार सम्प्रदाय हैं—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक—सर्वास्तित्ववादी तथा योगाचार विज्ञानवादी, और माध्यमिक शून्यवादी हैं। यद्यपि ये चारों विज्ञान को आत्मा मानते हैं परन्तु सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक वाह्य पदार्थों का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन दोनों में भी सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि प्रत्यक्ष, प्रतीति अर्थात् अन्तरनुभवका होता है और बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है ; परन्तु वैभाषिकों का कहना है कि बाह्य पदार्थों का भी प्रत्यक्ष ही होता हैं, अनुमान नहीं। क्योंकि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट रूप से सभी को अनुभूत होता है। इन्हीं वैभाषिकों का मत है कि रूप, वेदना, विज्ञान संज्ञा तथा संस्कार ये पाँच स्कन्ध ही शरीर में आत्मरूप हैं। इनसे भिन्न शरीर में कोई अन्य आत्मा नहीं है। (१) इनमें संसार के समस्त पदार्थों का आकार रूपस्कन्ध है। (२) पदार्थों की जानकारी होना या सुख, दुःखादि का अनुभव, वेदनास्कन्ध है। (३) अध्ययनादि से उत्पन्न ज्ञान को न भूलना अर्थात् ज्ञान का निरन्तर प्रवाह ही विज्ञान स्कन्ध है। इसमें 'अहम्' आकारक आलयविज्ञान तथा इन्द्रियजन्य रूपादि-विषयक ज्ञान का प्रवाह सम्मिलित है। (४) 'अयं गौः' 'अयमश्वः' इत्यादि रूप से पदार्थों की नामात्मक प्रतीति ही संज्ञास्कन्ध है। (५) चित्त में जमी

हुई वासना या शास्त्रादि शरीराभूषण संस्कार स्कन्ध है। इस प्रकार पाँच स्कं
से परिवर्तित होता हुआ ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है।

जिस प्रकार बौद्ध मत में स्कन्ध पञ्चक ही आत्मा है और इसी पर जग
के सारे व्यवहार चलते हैं, उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र में भी अङ्गपञ्चक
मन्त्र (निर्णीत विचार हैं। यही राजनीति का सर्वस्व हैं। कामन्दक के अनुसा
अङ्गपञ्चक इस प्रकार हैं—(१) सहाय—कार्यों के आरम्भ करने का उपाय
(२) साधन—कार्य की सिद्धि में उपयोगी अक्षय कोष एवं विशाल सेन
आदि का संग्रह। (३) देश तथा काल का परिस्थिति के अनुसार यथायो
विभाजन। (४) आने वाली विपत्तियों को दूर करने का उपाय। (५) का
की सिद्धि।

यहाँ बलराम के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि राजाओं के सहाया
पाँच अङ्ग ठीक हैं तो उनके सन्धिविग्रह आदि समस्त कार्य अनायास सिद्ध
जाते हैं। अतः ऐसी अवस्था में उन्हें मन्त्रणा करने की कोई आवश्यकता नहीं
रहती है। इस समय हमारे सहायादि पाँच अङ्ग ठीक ठीक व्यवस्थित हैं अत
एव हमारी विजय अवश्य होगी। इसलिए मन्त्रणा करने की कोई आवश्यकता
नहीं है। अब हम लोगों को शीघ्र ही शिशुपाल पर आक्रमण करना
चाहिए ॥ २८ ॥

अथ मन्त्रितार्थक्रियाविलम्बे दोषं वदति—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

अन्वयः—संवृतैः सर्वाङ्गैः (—उपलक्षितोऽपि) मन्त्रः अधीरः योधः इ
परेभ्यःभेदशङ्कया चिरं स्थातुं न सहते।

बालबोधिनी—संवृतैः=संगुप्तैः, सुरक्षितैः। क्वचित् कल्पितैरिति पाठ
स्तत्र सन्नद्धैरित्यर्थः सर्वाङ्गैः = सहायादिभिः। अन्यत्र—उरःस्थलादिभि
सबलैरङ्गैः। उपलक्षितोऽपीति शेषः। सर्वाङ्गसंवृतोऽपीत्यर्थः। मन्त्रः=विचारः
अधीरः=भीरुः। योध इव=भट इव। परेभ्यः=अन्येभ्यः, अन्यत्र=शत्रुभ्यः
भेदशङ्कया=विदारणशङ्कया, तृतीयजनकर्णगामित्वभयेन, अन्यावगमन शङ्कया
च। चिरं=बहुकालम्। स्थातुं=वर्तितुम्। न सहते=न क्षमते,
समर्थः।

कोशः—'मन्त्रो वेदविशेषे स्याद् देवादीनां च साधने। गुह्यवादेऽपि

पुमान्' इति मेदिनी। 'भटा योधाश्च योद्धारः' इत्यमरः। अधीरे कातरः' इत्यमरः। 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती।

समासः—सर्वाणि च तानि अङ्गानि सर्वाङ्गानि तैः सर्वाङ्गैः। भेदस्य शङ्का भेदशङ्का तया भेदशङ्कया (ष० त०)। युध्यते इति योधः। न धीरः अधीरः (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—योधः—युध + अच्। संवृतैः—सं + वृत + क्तः। स्थातुम्—स्थाधातोः 'शकधृष—' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः। सहते—सह + लट्–त।

हिन्दी—जिस प्रकार डरपोक योधा, छाती-हाथ-पैर आदि सम्पूर्ण अङ्गों के सुरक्षित रहने पर भी शत्रुओं से मारे जाने के भय से (युद्ध में) बहुत समय तक नहीं ठहर सकता है, उसी प्रकार सहायादि सम्पूर्ण अङ्गों से सुरक्षित भी मन्त्र (गुप्त विचार) शत्रुओं (गुप्तचरों आदि) के द्वारा रहस्य खुलने के भय से बहुत समय तक सुरक्षित नहीं रह सकता।

टिप्पणी—बलरामजी के कहने का तात्पर्य यह है कि हम लोग शिशुपाल को मारने का विचार कर चुके हैं, इसलिए हमें देरी नहीं करनी चाहिए। अन्यथा विलम्ब करने पर मन्त्र का रहस्य खुलने से कार्य में विघ्न पड़ सकता है॥ २९॥

नीतिसर्वस्वपर्यालोचनयाऽपि न बिलम्बः कार्यं इति विचार्याह—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते॥ ३०॥

अन्वयः—आत्मोदयः परज्यानिः इति द्वयम् इयती नीतिः। तत् ऊरीकृत्य कृतिभिः वाचस्पत्यं प्रतायते।

बालबोधिनी—आत्मोदयः=स्वाभ्युदयः, निजवृद्धिः। परज्यानिः=शत्रुहानिः, शत्रुविनाशः। इति द्वयं=इदं द्वयमेव। इयती=एतावती। नीतिः=नीतिसारः, राजनीतेस्तत्वमित्यर्थः। तत्=स्वोदयः परहानिश्चेत्येतद् द्वयम्। ऊरीकृत्य = स्वीकृत्य। कृतिभिः = कुशलैः। वाचस्पत्यं = वाग्मित्वम्। प्रतायते = विस्तार्यते। तस्मात् स्वाभ्युन्नतिमिच्छद्भिः शीघ्रमेव शत्रुर्विनाशनीय इति भावः।

कोशः—ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्' इत्यमरः। 'बृहस्पतिः

सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः । जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः इत्यमरः ।

समासः—आत्मनः उदयः (ष० त०) परस्य ज्यानिः । इदं परिमाणं अस्याः इति इयती । द्वौ अवयवौ अस्येति द्वयम् । वाचस्पतेर्भावः कर्म वा वाचस्पत्यम् ।

व्याकरणम्—परज्यानिः—'वीज्याज्वरिभ्योः निः' (उणादि ४८८) इति निः प्रत्ययः । इयती=इदं शब्दात् 'किमिदंभ्यां वो घः' इति वतुपो वस्य घः, 'उगितश्च' इति ङीप् । ऊरीकृत्य—ऊरी+कृ+क्त्वा—ल्यप् । नीतिः—नी+क्तिन् । प्रतायते—प्र+तन+लट्+त 'तनोतेर्यकि' (६ । ४ । ४४) इति विकल्पेनात्वम् ।

हिन्दी—अपनी उन्नति तथा शत्रु की हानि (के अवसर पर ही युद्ध करना चाहिए) बस इतनी ही राजनीति है । इसी को स्वीकार कर कुशल पुरुष वाग्मिता का विस्तार करते (अतिशय बोलने वाले बन जाते) हैं । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अपनी उन्नति तथा शत्रु की हानि (जिस प्रकार भी हो सके ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए) बस इतनी ही राजनीति है । इसी के आधार पर राजनीति पटु विद्वान् लोग (नीति-विस्तारषाड्गुण्य कल्पना करते हुए अपने (वाक्चातुर्य को फैलाते हैं ।)

टिप्पणी—यहाँ बलराम जी के कहने का तात्पर्य यह है कि शिशुपाल पर चढ़ाई करने से ही हमारी उन्नति तथा शत्रु का विनाश हो सकता है, अतः हमें शीघ्र ही शिशुपाल पर चढ़ाई कर देनी चाहिए ।। ३० ।।

लब्धोदयस्य परविनाशेन किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—

तृप्तियोगः परेणाऽपि महिम्ना न महीयसाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ।। ३१ ।।

अन्वयः—महीयसां परेणाऽपि महिम्ना तृप्तियोगः न पूर्णः चन्द्रोदयाकाङ्क्षी महार्णवः अत्र दृष्टान्तः ।

बालबोधिनी—महीयसां = महात्मनाम् । क्वचिन्महात्मनामित्येव पाठः । परेणाऽपि = प्रभूतेनाऽपि, उत्कृष्टेनाऽपि । महिम्ना = ऐश्वर्येण तृप्तियोगः = सन्तोषप्राप्तिः । न = नैव भवति । अत्र = तृप्त्यभावे । पूर्णः = सम्पूर्णः । महार्णवः=महोदधिः । दृष्टान्तः=निदर्शनम्, उदाहरणम्, उपमानमिति भावः । अस्तीति शेषः । राज्ञा स्ववृद्धौ सन्तोषो न विधेयः उक्तं च—

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः ।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ॥

उपमालङ्कारः ।

कोशः—'परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीबन्तु केवले' इति मेदिनी । समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः । उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः ।

समासः—अतिशयेन महान्तो महीयांसः, तेषां महीयसाम् । महतो भावः महिमा, तेन महिम्ना । तृप्तेः योगः तृप्तियोगः । चन्द्रस्य उदयः चन्द्रोदयः चन्द्रोदयमाकाङ्क्षते तच्छीलः चन्द्रोदयाकाङ्क्षी । अर्णांनि जलानि सन्ति यस्मिन् स अर्णवः, महांश्चाऽसौ अर्णवश्च महार्णवः । दृष्टः अन्तः=निश्चयः यस्मिन् सः दृष्टान्तः ।

व्याकरणम्—महीयसाम्—महत्+ईयसुन् । महिम्ना—महत्+इमनिच् । आकाङ्क्षी—आ+काङ्क्ष+णिनिः । अर्णवः—अर्ण+वः 'अर्णसोलोपश्च' इति सलोपः ।

हिन्दी—(समृद्धिशाली व्यक्ति को दूसरे के विनाश से क्या प्रयोजन है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—) अत्यन्त समृद्धिशाली महान् व्यक्तियों को प्रचुर धन सम्पत्ति से भी सन्तोष नहीं होता है । इस विषय में चन्द्रमा के उदय को चाहने वाला परिपूर्ण महान् समुद्र ही दृष्टान्त है ॥ ३१ ॥

किञ्च सन्तुष्टस्योदयमेव न भवतीति दर्शयितुमाह—

सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यः स्वल्पयाऽपि सम्पदा सुस्थिरंमन्यः भवति, तस्य तां कृतकृत्यः विधिः न वर्द्धयति (इति मन्ये) ।

बालबोधिनी—यः=यो जनः । स्वल्पयाऽपि=स्तोकयाऽपि । सम्पदा=विभूत्या, ऐश्वर्येण । सुस्थिरंमन्यः=स्वस्थमानी, कृतकृत्यमानी । सुस्थितंमन्यः' इति पाठे सुस्थितं=सुखिनमात्मानं मन्यते यः सः इत्यर्थः कार्यः । भवति=जायते, सम्पद्यते । तस्य=अल्पसन्तुष्टस्य पुंसः । तां=स्वल्पां सम्पत्तिम् । कृतकृत्यः=तावतैव कृतार्थः । विधिः=दैवम् । न वर्द्धयति=न एधयति, बहुलां न करोति । इत्येवमिति शेषः । मन्ये=कल्पयामि, विचारयामि । विधिना हि

सर्वस्येच्छा पूरणीया। यश्च सन्तोषेणाधिकं न कामयते तस्याधिकदानेन दैवः क्लेशं नानुभवति, उपकाराभावात्।

कोशः—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः।

समासः—सुस्थिरम् आत्मानं मन्यते इति सुस्थिरंमन्यः। कृतं कृत्यं येनासौ कृतकृत्यः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—सुस्थिरंमन्यः—सुस्थिर + मन् 'आत्ममाने खश्च' (३।२।८३) इति खश्, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) इति मुमागमः। मन्ये—मन् + लट् + इट्। वर्धयति—वृध् + णिच् + लट् + तिप्।

हिन्दी—जो व्यक्ति थोड़ी सी सम्पत्ति से अपने को कृतकृत्य मान लेता है, कृतार्थ हुए ब्रह्मा (दैव) भी उस पुरुष की उस सम्पत्ति को नहीं बढ़ाते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। "असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः।" ऐसा नीतिशास्त्र कहता है ॥ ३२ ॥

शत्रोः समूलोन्मूलने श्रेय इत्याह—

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मानिनः परान् समूलघातम् अघ्नन्तः न उद्यन्ति। तत्र प्रध्वंसितान्धतमसः रविः उदाहरणम्।

बालबोधिनी—मानिनः=अभिमानिनः। परान्=शत्रून्। समूलघातम् अघ्नन्तः=समूलमनुत्सारयन्तः, आमूलादविनाशयन्तः। अत्र घातशब्दार्थो न विद्यते। 'समूलमघ्नन्तः' इत्ययमेवात्रार्थः। नोद्यन्ति=उदयं न कुर्वते, उदयं न लभन्ते। किन्तु हत्वैवोद्यन्तीत्यर्थः। शत्रुक्षयः सम्पदां कारणमिति भावः। तत्र=हत्वैवोदये। प्रध्वंसितान्धतमसः=उदयात् पूर्वमेव क्षपिततमस्काण्डः उन्मूलितगाढान्धकारः। रविः=सूर्यः। उदाहरणम्=दृष्टान्तः, उपमानम्। अत्रोपमालङ्कारः।

कोशः—'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' इत्यमरः। 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः।

समासः—मूलेन सह समूलम्, समूलं हत्वेति समूलघातम्। न घ्नन्त इति अघ्नन्तः। मानोऽस्ति येषां ते मानिनः। अन्धयतीति अन्धम्, अन्धं तमः इति अन्धतमसम्, प्रध्वंसितम् अन्धतमसं येनासौ प्रध्वंसितान्धतमसः। उदाह्रियते अनेनार्थयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्।

व्याकरणम्—समूलघातम्—समूल+हन् 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (३।४।३६) इति णमुल प्रत्ययः 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (३।४।४६) इति हन्तेरनुप्रयोगः । अन्धतमसः—अन्धतमस्—'अवसमन्धेभ्यः तमसः' (५।४।७९) इत्यच् प्रत्ययः । उद्यन्ति—उद्+इ+लट्–झि । उदाहरणम्–उद्+आ+हृ—करणे ल्युट् ।

हिन्दी—स्वाभिमानी व्यक्ति शत्रुओं को समूल नष्ट किये बिना उदित नहीं होते हैं, इस विषय में (उदय होने से पहले रात्रि के) गाढान्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य उदाहरण है ॥ ३३ ॥

सपत्नीच्छेदमन्तरेण प्रतिष्ठाऽपि दुर्लभेत्याह—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा ।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—विपक्षम् अखिलीकृत्य प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु । उदकं धूलिं पङ्कताम् अनीत्वा न अवतिष्ठते ।

बालबोधिनी—विपक्षं=शत्रुम् । अखिलीकृत्य=उत्सन्नमकृत्वा, अनुन्मूल्येत्यर्थः । प्रतिष्ठा=अवस्थितिः, समादरः । दुर्लभा=दुष्प्रापा । खलु=निश्चयेन । उदकं=जलम् । धूलिं=रजः । पङ्कतां=कर्दमताम् । अनीत्वा=अप्राप्य, अगमयित्वा, अतिरस्कृत्येत्यर्थः । नावतिष्ठते=न तिष्ठति । किन्तु धूलिं पङ्कतां नीत्वैवोदकमवतिष्ठते इति भावः । अत्र पूर्वार्धोत्तरार्धयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावाद् दृष्टान्तालङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' इति ।

कोशः—'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रज इत्यमरः । 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः ।

समासः—विरुद्धः पक्षः यस्य सः विपक्षः (शत्रु), तम्–विपक्षम् । न खिलम् अखिलम्, अखिलं खिलं सम्पद्यमानं कृत्वा इति खिलीकृत्य; न खिलीकृत्य अखिलीकृत्य । दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभा । पङ्कस्य भावः पङ्कता, ताम्–पङ्कताम् ।

व्याकरणम्—अखिलीकृत्य—अखिल+च्विः कृ+क्त्वा–ल्यप् । प्रतिष्ठा—प्रति+स्था+भिदादित्वादङ् । अनीत्वा—न+नी+क्त्वा–नञ्पूर्वकत्वाल्ल्यप् न । अवतिष्ठते—अव+स्था+लट्–त 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२), इति आत्मनेपदम् ।

हिन्दी—(शत्रु का नाश किये बिना प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती। यह कहते हैं—) शत्रु को समूल नष्ट किये बिना प्रतिष्ठा मिलना कठिन। क्योंकि धूलि को कीचड़ बनाये बिना जल (भूमि पर) नहीं ठहरता है ॥३४॥

शिशुपालोऽयमेकाकी नः किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—

म्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत् कुतः सुखम् ।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—एकः अपि रिपुः यावत् म्रियते तावत् सुखं कुतः, हि सैंहिकेयः असुरद्रुहां पुरः सोमं क्लिश्नाति ।

बालबोधिनी—एकोऽपि = एकाकी एव । रिपुः = शत्रुः । यावत् = यावत्कालम् । म्रियते = प्राणान् धारयति, अवतिष्ठते, जीवतीति भावः । तावत् = तदवधि, तावत्कालपर्यन्तम् । सुखं = श्रेयः, शर्म । कुतः = कस्माद् भवे... नैव भवेदित्यर्थः । हि = यतः । सैंहिकेयः = राहुः । असुरद्रुहां = देवानाम् पुरः = अग्रतः । सोमं = चन्द्रम् । क्लिश्नाति = पीडयति । सोममित्युपलक्षण... रविमपीति भावः । तस्मादेकोऽपि रिपुरुच्छेत्तव्य एव । 'अग्नेः शेषमृणाच्छे... शत्रोः शेषं न शेषयेत्' इति भावः । अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्र... मार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते इति विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपो... र्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

कोशः—'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेष... दुर्हृदः' इत्यमरः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः ।

समासः—सिंहिकाया अपत्यं पुमान् सैंहिकेयः । असुरेभ्यो द्रुह्यन्तीति असु... द्रुहस्तेषाम् = असुरद्रुहाम् ।

व्याकरणम्—सैंहिकेयः—सिंहिकाशब्दात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२... इति ढक्, तस्य एयादेश । असुरद्रुहाम् असुर + द्रुह क्विप् । म्रियते मृ... लट् + त 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) इति रिङादेशः । क्लिश्नाति क्लिश्... ना + लट्—तिप् ।

हिन्दी—(एक शत्रु का रहना भी हानिकारक है यह बलरामजी कहते हैं—) जब तक एक भी शत्रु (जीवित) रहता है तब तक सुख कहाँ से हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता है) क्योंकि देवताओं के सामने ही राहु चन्द्रमा को (तथा सूर्य को भी) कष्ट देता है ॥ ३५ ॥

ननु क्षुद्रोऽयं शिशुपालः किं नः करिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य बलवत्तां वक्तुं मित्रामित्रबलाबलविवेकं तावत् करोति—

सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः।
स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कृत्रिमः सखा शत्रुश्च गरीयान्। हि तौ कार्यतः (जातौ)। सहजप्राकृतौ अपि अमित्रौ मित्रे च स्याताम्।

बालबोधिनी—कृत्रिमः=क्रियया (यथायथमुपकारेणापकारेण च) निर्वृत्तः। सखा=मित्रम्। शत्रुश्च=रिपुश्च। गरीयान्=श्रेष्ठः, प्रधान इत्यर्थः। तयोर्मित्रामित्रभावस्यानपायित्वात्। हि=यतः। तौ कृत्रिमः सखा, कृत्रिमः शत्रुश्च। कार्यतः=उपकारापकाररूपकार्यवशात्। निर्वृत्ताविति शेषः उपकारापकाररूपकार्योपाधेर्यावज्जवमनपायित्वादेव तयोर्मित्रामित्रभावस्यानपायित्वम्। सहजप्राकृतावपि=सहजप्रकृतिसिद्धौ तु। सह जातः सहजः, एकशरीरावयवत्वात्। तत्र सहजं मित्रं मातृष्वसेय–पितृष्वसेयादि। सहजशत्रुस्तु पितृव्यतत्पुत्रादिः। प्रकृत्या सिद्धः प्राकृतः पूर्वोक्तसहजकृत्रिमलक्षणभिन्न इत्यर्थः। तत्र प्राकृतं मित्रं शत्रुविषयानन्तरं पितृपरम्परागतं वा। प्राकृतश्शत्रुश्च स्वविषयानन्तरः। एतावुभौ तु। अमित्रौ=कदाचित्कार्यवशात् शत्रू। मित्रे च=कदाचिद् कार्यवशात् सखायौ च। स्याताम्=भवतः। कृत्रिमः शत्रुः शत्रुरेव मित्रं च मित्रमेवेति कृत्रिमावेव मित्रामित्रौ गरीयांसौ, न च सहजौ नाऽपि प्राकृताविति भावः। अपरे तु—एतयोः सहजप्राकृतकृत्रिममित्रामित्रयोर्मध्यात् सखा मित्रं शत्रुश्च कृत्रिमो गरीयान्, कृत्रिमः प्रधान इत्यर्थः। हि=यस्मात् कारणात्। तौ=कृत्रिमौ मित्रामित्रौ। कार्यतः=कार्यवशात्, अमित्रौ मित्रे च स्याताम्। न केवलं तौ कृत्रिमौ मित्रामित्रौ, अपरं सहजप्राकृतावपि मित्रामित्रौ कार्यवशादमित्रौ मित्रे च स्याताम्। अत एव कृत्रिमावेव मित्रामित्रौ प्रधानौ। तथा च भगवान् पाराशर्यः—

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते।
कार्ययोगाद्विजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
मित्रं च शत्रुतामेति कदाचित्कालपर्यये।
शत्रुश्च मित्रतां याति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥
अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चाऽपि प्रदुह्यति।
सामर्थ्ययोगात्कार्याणामनित्या हि सदा गतिः ॥

इति कृत्रिमत्वमेव प्रधानं नाऽन्यत्। लोके चैतदुक्तमपि दृश्यते शत्रु उपकारयोगान्मित्रीभवति। मित्रमप्यपकारसम्बन्धादमित्री भवति। तत्रैयोग मित्रामित्रयोस्त्रिधा बलाबलत्वं चोक्तमनित्यता च रागद्वेषयोः।

कोशः—'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशा वशत्रवः। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' इत्यमरः।

समासः—क्रियया निर्वृत्तः कृत्रिमः। अतिशयेन गुरुः गरीयान्। सह जा सहजः- प्रकृत्या सिद्धः प्राकृतः, सहजश्च प्राकृतश्च सहजप्राकृतौ (द्वन्द्वः) न मित्रं अमित्रः तौ अमित्रौ (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—गरीयान्—गुरु + ईयसुन् 'प्रियस्थिर—' (६ । ४ । १५७) इति गुरोर्गरादेशः। कृत्रिमः—कृधातोः 'ड्वितः क्त्रिः' (३ । ३ । ८८) इति क्त्रिः प्रत्ययः, 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति वार्तिकेन मप्। स्याताम्—अस + लिङ्-योगे तस्=ताम्।

हिन्दी—कृत्रिम मित्र तथा कृत्रिम शत्रु प्रधान होते हैं, क्योंकि वे कार्य वश होते हैं। सहज और प्राकृत भी शत्रु और मित्र होते हैं (परन्तु उनका उतना महत्व नहीं होता है जितना कि कृत्रिम शत्रु एवं मित्र का होता है)। अथवा सहज तथा प्राकृत मित्र एवं शत्रु भी कार्यवश शत्रु एवं मित्र हो जाते हैं।

टिप्पणी—मित्र तथा शत्रु तीन-तीन प्रकारके होते हैं—सहज, प्राकृत तथा कृत्रिम। इनमें से सहज मित्र—मामा—मौसी तथा फूआ (बूआ, फूफी) के पुत्र होते हैं। सहज शत्रु—चाचा—ताऊ तथा उनके पुत्र होते हैं। शत्रु के सीमा के पास का राजा प्राकृत मित्र कहलाता है। अपने देश या राज्य की सीमा से सटी हुई सीमा वाला (पड़ोसी) राजा आदि प्राकृत शत्रु हैं। साम दान आदि उपकारों से आकृष्ट राजा आदि कृत्रिम मित्र होता है। हानि करने वाला अथवा जिसकी हानि की गयी हो वह कृत्रिम शत्रु होता है। इन सबों में कृत्रिम (कार्यवश होने वाले) मित्र या शत्रु ही प्रधान हैं, क्योंकि कार्यवश (भलाई या बुराई करने से वे क्रमशः मित्र एवं शत्रु बने हैं। इतना ही नहीं जो सहज एवं प्राकृत मित्र एवं शत्रु हैं वे कार्यवश बुराई या भलाई करने से शत्रु एवं मित्र बन जाते हैं। अतः सहज, प्राकृत एवं कृत्रिम तीनों प्रकार के मित्र एवं शत्रुओं में कृत्रिम ही मित्र तथा शत्रु प्रधान होते हैं। शिशुपाल हमारा कृत्रिम शत्रु है, अतः हमें उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए॥ ३६॥

ननु चैद्यस्यास्मत्पैतृष्वसेयत्वेन सहजमित्रत्वात्सन्धानार्हत्वम्, न त्वभियानयोग्यत्वमित्यत आह—

उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—उपकर्त्रा अरिणा (अपि) सन्धिः (कार्यः) अपकारिणा मित्रेण (अपि सन्धिः) न (कार्यः)। हि उपकारापकारौ एतयोः लक्षणं लक्ष्यम् ।

बालबोधिनी—उपकर्त्रा=उपकारिणा । अरिणा=शत्रुणा, (अपि)। सहजेन प्राकृतेन चेति शेषः । सन्धिः=सन्धानम् । कार्यं इति शेषः । बलवत्या कृत्रिममित्रतयाऽरित्वस्य तत्र बाधान्मैत्री समुचितेति भावः । अपकारिणा=अपकारकेण, द्रोहकारिणा मित्रेण=सुहृदाऽपि । सहजेन प्राकृतेन वेति भावः । सन्धिः=मेलनम्, मैत्री । न=नैव कार्यः, कृत्रिमशत्रुताया बलवत्वात्तत्र मैत्री न योग्येत्यर्थः । उक्तं च—

यस्त्वमित्रेण सन्धत्ते मित्रेण च विरुध्यते ।
अर्थयुक्तिं समालोच्य स महद्विन्दते फलम् ॥ इति ।

हि=यतः । उपकारापकारौ=उपक्रियापक्रिये (एव) एतयोः=मित्रामित्रयोः । लक्षणं=स्वरूपम्, चिह्नम् । लक्ष्यम्=द्रष्टव्यम् । उपकारकमेव मित्रम् अपकारकश्च शत्रुरिति भावः ।

कोशः—रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः ।

समासः—उपकरोति इति उपकर्ता, तेन उपकर्त्रा । उपक्रियते । इत्युपकारः अपक्रियते इत्यपकारः, उपकारश्च अपकारश्च उपकारापकारौ (द्वन्द्वः) । लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम् ।

व्याकरणम्—उपकारापकारौ–उप—कृ+घञ्, अप+कृ+घञ् । उपकर्त्रा–उप+कृ+तृच् । अपकारिणा—अप+कृ+णिनिः । लक्षणम्—लक्ष+ल्युट । लक्ष्यम्—लक्ष+ण्यत् ।

हिन्दी—उपकार करने वाले शत्रु के भी साथ सन्धि कर लेनी चाहिए, (परन्तु) अपकार (बुराई, हानि) करने वाले मित्र के साथ भी सन्धि (मेल) नहीं करना चाहिए । उपकार तथा अपकार को ही क्रमशः इन दोनों मित्र तथा शत्रु का स्वरूप (लक्षणम्) समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वमाह—

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ?
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हरे ! रुक्मिणीं हरता चैद्यः त्वया विप्रकृतः (तथाहि-) बद्धमूलस्य वैरतरोः स्त्रियः महत् मूलं हि।

बालबोधिनी—हरे ! हे कृष्ण ! रुक्मिणीं=भीष्मककन्याम्, रुक्मीस्वसारम्, हरता=अपहरता; राक्षसधर्मेणोद्वहता। 'राक्षसो युद्धहरणात्' इति याज्ञवल्क्यः (आचाराध्याये ३। ६१)। गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ इति मनुः (३२। ६)। त्वया=भवता, श्रीकृष्णेन। चैद्यः=चेदिदेशाधिपः शिशुपालः। विप्रकृतः=विप्रियं प्रापितः; पराभूतः (तथा हि-) बद्धमूलस्य=रूढमूलस्य, दृढप्रतिष्ठस्य। वैरतरोः=विरोधवृक्षस्य। स्त्रियः=कामिन्यः महत्=प्रधानम्। मूलम्=कारणम्। हि=इति निश्चितम्, निश्चयेऽव्ययमिदम्। अत्र 'वैरतरोः' इत्यत्र रूपकालङ्कारः। किञ्च पूर्वार्धोक्तस्य विशेषार्थस्योत्तरार्धोक्तसामान्यार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः। अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः।

समासः—बद्धं मूलं यस्य येन वाऽसौ बद्धमूलः, तस्य बद्धमूलस्य (ब० व्री०) वैरमेव तरुः वैरतरुः तस्य—वैरतरोः।

व्याकरणम्—हरता—हृ+कर्तरि शतृ। विप्रकृतः—वि+प्र+कृ+क्त। चैद्यः—चेदि+ञ्यङ्।

हिन्दी—(अब बलराम जी चार श्लोकों से शिशुपाल की कृत्रिम शत्रुता को प्रकट करते हैं—) हे श्रीकृष्ण रुक्मिणी को अपहरण करते हुए आपने शिशुपाल को विरुद्ध कर दिया है, क्योंकि दृढ़मूल वाले वैर रूपी वृक्ष की स्त्रियाँ ही प्रधान जड़ होती हैं।

टिप्पणी—विदर्भ (बरार) देश (मध्यप्रदेश) के राजा भीष्मक जिनकी राजधानी कुण्डिननगरी थी, के छः सन्तान थीं, पाँच पुत्र तथा एक पुत्री। सबसे बड़े पुत्र का नाम रुक्मी था तथा चार छोटों के क्रमशः—रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली; नाम थे। इनकी बहिन थी सती रुक्मिणी। बड़े भाई रुक्मी ने जो श्रीकृष्ण से द्वेष करता था, अपनी बहिन का विवाह शिशुपाल से निश्चय किया था। विवाह से पूर्व रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के पास ब्राह्मण द्वारा यह सन्देश भेजा कि मेरा विवाह शिशुपाल के साथ अमुक तिथि में होने वाला है। परन्तु मैं पतिरूप में पहले से ही आपको स्वीकार कर चुकी

अतः यदि आप आकर शिशुपाल के वीरों का क्षय करते हुए मुझे यहाँ से ले जाकर अपने साथ विवाह नहीं करते हैं तो मैं आत्महत्या कर लूँगी। रुक्मिणी का इस प्रकार का आर्तनाद सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सेना सहित विदर्भ-देश पहुँचकर शिशुपाल के बड़े-बड़े योधाओं से घिरी रुक्मिणी जब विवाह समकालीन गिरिजापूजन कर जब मन्दिर से लौट रही थी, उसी समय शिशुपाल के योधाओं को कुचलते हुए श्रीकृष्ण रुक्मिणी को अपने रथ पर बैठाकर द्वारका ले आये।

(—भागवत स्कन्ध १०। अ० ५२, ५३)।

भगवान् मनु ने आठ प्रकार के विवाह बताये हैं उनमें से गान्धर्व तथा राक्षस विवाह भी क्षत्रियों के लिए विहित कहे हैं। विवाहों के आठ भेद मनुस्मृति (३। २१) में कहे हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

तथा—'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।'

(मनु० ३। २६)॥ ३८॥

त्वया सोऽपकृत इत्युक्त्वा तेनाऽपि त्वमुपद्रुत इत्याह—

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम्।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव॥ ३९॥

अन्वयः—त्वयि भौमं जेतुं गत (सति) सः इमां पुरीम् प्रोषितार्यमणं मेरोः तटीम् अन्धकार इव अरौत्सीत्।

बालबोधिनी—त्वयि=भवति, श्रीकृष्णे। भौमं=भूमिपुत्रम्, नरकासुरमिति यावत्। जेतुं=विजेतुम्, वशीकर्तुम्। गते = प्रयाते सति। सः= शिशुपालः। इमां पुरीम=द्वारकानगरीम्। प्रोषितार्यमणं=गतदिवाकरम्। मेरोः=सुमेरोः, हेमाद्रेः। तटीं=सानुम्। अन्धकारः=तिमिरम्। इव = यथा। अरौत्सीत्=अवरुद्धवान्, अवेष्टयत्। उपमालङ्कारः।

कोशः—'सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकराः। भास्कराहस्कराब्रध्नप्रभाकरविभाकराः' इत्यमरः। 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः।

समासः—भूमेः अपत्यं पुमान् भौमः, तम्—भौमम्। प्रोषितः अर्यमा यस्याः सा प्रोषितार्यमा, ताम्—प्रोषितार्यमणम् (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—भौमम्—भूमि + अण् 'शिवादिभ्योऽण्' (४।१।११२) इत्यनेन। जेतुम्—जि + तुमुन्। अन्धकारः—अन्धं करोतीत्यर्थे—=अन्ध + कृ + अण्। अरौत्सीत्—रुध + लुङ्—तिप्—वृद्धिः।

हिन्दी—भौमासुर (भूमिपुत्र नरकासुर) को जीतने के लिए तुम्हारे चले जाने पर उस शिशुपाल ने इस नगरी द्वारकापुरी को इस तरह से घेर लिया जैसे सूर्य अस्त होने पर सुमेरु पर्वत की तटी (प्रान्तीय भाग या तलहटी) को अन्धकार घेर लेता है।

टिप्पणी—जब भगवान् ने वाराह अवतार धारण किया था तब उनके संयोग से नरक नामक पुत्र भूमि से उत्पन्न हुआ। यह बड़ा बली था। इसने वरुण का छत्र तथा अदिति (देवताओं की माता) के कुण्डल और सुमेरुपर्वत स्थित देवताओं का मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया। इस पर दुःखी होकर देवताओं के राजा इन्द्र द्वारका आये। उनके कहने से भगवान् श्रीकृष्ण ने गरुड़ पर बैठकर उस नरकासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर (वर्तमान आसाम) में जाकर उससे युद्ध करके मार डाला (भागवत स्कन्ध १०। अ० ५९)॥ ३९॥

शिशुपालस्यासह्यमपकारान्तरमाह—

आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्।
कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥ ४०॥

अन्वयः—स बभ्रोः दारान् अपाहरत् (इति) इदम् आलप्य अलम्। यतः पापानां कथा अपि अश्रेयसे अलं खलु (भवति)।

बालबोधिनी—सः=चैद्यः। बभ्रोः=बभ्रुनामकस्य यादवस्य। दारान्=भार्याम्, कलत्रम्। अपाहरत=जहार। इति यत्। इद=दारापहरणम्। आलप्य=उच्चार्य। अलं = कृतम्, नोच्चारणीयमित्यर्थः, निष्फलत्वात्। यतः=यस्मात् कारणात्। पापानां = दुरात्मनाम्। कथापि=कीर्तनमपि, तन्नामोच्चारणमपि। अश्रेयसे=अमङ्गलाय, अशुभाय, अनर्थायेति भावः। अलं=समर्था। खलु = निश्चयेन। अत्र कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः। 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासाऽनुनये खलु' इत्यमरः।

समासः—न श्रेयः अश्रेयः, तस्मै अश्रेयसे (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—पापानाम्—पाप+'अर्श आदिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यच् प्रत्ययः। अपाहरत्—अप+हृ+लङ्-तिप्। आलप्य—आ+लप्+क्त्वा—ल्यप्।

हिन्दी—उस शिशुपाल ने जो बभ्रु नामक यादव की स्त्री का अपहरण किया उसे कहना ही नहीं चाहिए। क्योंकि पापियों की चर्चा भी अमङ्गल के लिए समर्थ होती है (पापियों की चर्चा भी अमङ्गलकारक है)।

टिप्पणी—बभ्रु यदुवंशी राजा थे। जब उनकी पत्नी सौवीर देश को जा रही थी तब उसे देखकर शिशुपाल काम से मोहित हो गया और बलात्कार उसे अपहरण कर अपने यहाँ ले आया। यह कथा महाभारत के सभापर्व में वर्णित है ॥ ४० ॥

इत्थं शिशुपालः कृत्रिमशत्रुरेवेति समर्थयन्नाह—

विराद्ध एवं भवता विराद्धा बहुधा च नः।
निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—एवं भवता विराद्धः, बहुधा नः च विराद्धा श्रुतश्रवसः सुतः सः क्रियया अरिः निर्वर्त्यते।

बालबोधिनी—एवं = इत्थम्, पूर्वोक्त प्रकारेण। भवता = त्वया; श्रीकृष्णेन। विराद्धः=विप्रकृतः। बहुधा=बहुप्रकारेण, अनेकधा। नः= अस्माकम्। विरुद्धः=विप्रकर्ता, विरोधकर्ता श्रुतश्रवसः = श्रुतश्रवाः नाम श्रीकृष्णस्य पितृष्वसा, तस्याः। सुतः=पुत्रः। पैतृष्वसेयत्वात्सहजमित्रमपीति भावः। सः=शिशुपालः। क्रियया=परस्परापकारेण। अरिः=कृत्रिमः शत्रुः। निर्वर्त्यते—क्रियते। अत एव बलीयस्त्वादुपेक्षानर्हं इति भावः।

कोशः—'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः' इत्यमरः। 'रिपो वैरिसपत्नारि-द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः।

समासः—विराध्यते स्म विराद्धः। विराध्यतीति विराद्धा।

व्याकरणम्—विराद्धः—वि+राध्+क्तः। विराद्धा—वि+राध+तृच्। बहुधा—बहु+धाच्। निर्वर्त्यते—निर्+वृत्+णिच्+त।

हिन्दी—इस प्रकार (२।३८-४०) आपने जिससे (रुक्मिणी का अपहरण करते हुए एक बार) विरोध किया तथा जो हमारा अनेक प्रकार से विरोध करने वाला है, वह श्रुतश्रवा का पुत्र (शिशुपाल, अपमान रूप) कार्य से शत्रु बनाया गया है।

टिप्पणी—श्रुतश्रवा (सात्वती) नाम की कृष्ण की बूआ (फूफी) जो राजा कुन्तीभोज की पुत्री और कृष्ण के पिता वसुदेव की चचेरी बहिन थी यह चेदि देश के राजा दमघोष को विवाही गई थी। उसी का पुत्र शिशुपाल था। वह श्रीकृष्ण का फुफेरा भाई होने से सहजमित्र होते हुए भी श्लो० (२। ३८–४० तक कहे हुए परस्पर अपमानों द्वारा कृत्रिम शत्रु बना गया है, यह बात कही गई है। इससे इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह बलराम जी का अभिप्राय है ॥ ४१ ॥

तादृशे वैरे जाते सत्युपेक्षायां दोषमाह—

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—ये नरः सामर्षे अरौ वैरं विधाय उदासते ते कक्षे उदर्चिषं प्रक्षिप्य अभिमारुतं शेरते।

बालबोधिनी—ये नरः=ये पुरुषाः। सामर्षे=प्रागेव सरोषे, सकोपे। अरौ=शत्रौ। वैरं=विरोधम्। विधाय=कृत्वा। उदासते=उदासीना भवन्ति। ते=नरः। कक्षे=गुल्मे, तृण–समूहे। उदर्चिषं=उद्गतज्वालमग्निम्। प्रक्षिप्य=संस्थाप्य, निधाय। अभिमारुतं=वायुसम्मुखम्। शेरते=स्वपन्ति। कक्षेऽग्निं प्रज्वाल्य स्वापनं यथा स्वविनाशाय, एवं निष्क्रियस्य बलवद्विरोधः इत्यर्थः। अस्मिन् श्लोके निदर्शनाऽलङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे 'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥' इति।

कोशः—'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषा पूरुषा नरः' इत्यमरः। 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः। 'कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले पापे जीर्णवने तृणे' वैजयन्ती।

समासः—अमर्षेण सहितः सामर्षः, तस्मिन् सामर्षे। उद्गतानि अर्चींषि यस्याऽसौ उदर्चिः, तम्—उदर्चिषम् (ब० व्री०)। मारुतमभिलक्ष्येति अभिमारुतम्।

व्याकरणम्—विधाय—वि+धा+क्त्वा—ल्यप्। उदासते—आस्—लट्—झ। प्रक्षिप्य-प्र+क्षिप्+क्त्वा—ल्यप्। शेरते—शीङ्+लट्—झ 'शीङो रुट्' (७।१।६) इति रुट्।

हिन्दी—(शिशुपाल की उपेक्षा करने से बड़ी हानि होगी यह बलराम जी कह रहे हैं–) जो व्यक्ति रोषपूर्ण शत्रु के विषय में (अर्थात् क्रोधित शत्रु के साथ) वैर करके उदासीन हो जाते हैं, वे लोग (उन व्यक्तियों के समान हैं जो) सूखी घास के ढेर में जलती हुई अग्नि को डालकर हवा के रुख की तरफ सोते हैं ॥ ४२ ॥

तथाऽपि बान्धवोऽसाविति सोढव्य इत्याशङ्क्याह—

मनागनभ्यावृत्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यः क्षमी (सः) मनाक् अनभ्यावृत्या वा (विराध्यन्तं) कामं क्षाम्यतु, क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं (तु) कः क्षमेत ?

बालबोधिनी—यः क्षमी==क्षमापरः, सहनशीलः। (सः) मनाक्==अल्पम्। अभ्यावृत्तावपीति भावः। अनभ्यावृत्या वा==सकृद्वा, एकवारं वा। अनल्पत्वेऽपीति भावः। (विराध्यन्तम्= =अपकुर्वाणम्–) कामं==भृशम्, यथेच्छम्। क्षाम्यतु==क्षमताम्। क्रियासमभिहारेण==भृशम्; पौनःपुन्येन, वारं वारम्। विराध्यन्तम्==अपकुर्वाणम् (तु)। कः==को जनः। क्षमेत== सहेत, सोढुं शक्नुयात्, न कोऽपीत्यर्थः।

कोशः—'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। 'सहिष्णुः सहनः क्षन्ता तितिक्षुः क्षमिता क्षमी' इत्यमरः।

समासः—न अभ्यावृत्तिः अनभ्यावृत्तिः तया अनभ्यावृत्या। क्षमते तच्छीलः क्षमी। क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः तेन क्रियासमभिहारेण (ष० त०)।

व्याकरणम्—क्षमी–'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' (३। २ १४१) इति घिनुण् प्रत्ययः। क्षाम्यतु==सम्भावनायां लोट् 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (७। ३। ७४) इति दीर्घः, दिवादित्वात् श्यन्। विराध्यन्तम्–वि+राध+ कर्तरि+शतृ। क्षमेत—क्षम—लिङ्+त 'शकि लिङ्—' (३। ३। १७२) इति शक्यार्थे लिङ्।

हिन्दी—(वह फूआ का लड़का होने से फुफेरा भाई है तो भी उसे क्षमा नहीं करना चाहिए यह बलराम जी कहते हैं–) जो व्यक्ति क्षमाशील है वह थोड़ा सा या एक बार विरोध करने वाले को भले ही क्षमा कर दे (परन्तु) बार-बार और अत्यन्त अपराध करने वाले को कौन क्षमा कर सकता है?

टिप्पणी—क्रियासमभिहार—यह शब्द व्याकरण में ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। काव्य में इसका प्रयोग कवि के पाण्डित्य का परिचायक है। वृत्तिकार ने क्रियासमभिहार का अर्थ किया है—'पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः' बार-बार होना या अधिक मात्रा में होना क्रिया समभिहार कहलाता है। यह बार-बार या आधिक्य क्रिया का ही होना चाहिए ॥ ४३॥

परिभवे पराक्रमस्यैवावश्यकत्वं दर्शयति—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अन्यदा योषितः लज्जा इव पुंसः (अन्यदा) क्षमा भूषणम्, परिभवे (तु योषितः) सुरतेषु वैयात्यम् इव पुंसः पराक्रमः भूषणम्।

बालबोधिनी—अन्यदा = सुरतातिरिक्ते काले। योषितः = नार्याः लज्जेव=त्रपेव पुंसः=पुरुषस्य। (अन्यदा=परिभावातिरिक्ते काले)। क्षमा=क्षान्तिः, शान्तिः। क्षमेत्यस्थाने 'शमः' इति पाठेऽपि समान एवार्थः। भूषणं=आभरणम्, अलङ्कारः। भवतीति शेषः। परिभवे=अपमाने, तिरस्कारे (तु योषितः=अबलायाः—) सुरतेषु=सम्भाग-कालेषु, मैथुनेषु। वैयात्यमिव= धृष्टतेव। पराक्रमः=पौरुषमेव। भूषणं=अलङ्कारः। भवतीति शेषः।

कोशः—'अलङ्कारस्त्वाभरणं परिस्कारो विभूषणम्' इत्यमरः। 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः। प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा' इत्यमरः। 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः।

समासः—भूष्यतेऽनेनेति भूषणम्। पराक्रम्यतेऽनेनेति पराक्रमः। शोभनानि यानि रतानि तेषु सुरतेषु।

व्याकरणम्—अन्यदा—अन्य + दा। क्षमा—क्षम + षिदादित्वादङ् भूषणम्—भूष + ल्युट्। वैयात्यम्—वि + यात + ष्यञ्।

हिन्दी—रतिकाल से भिन्न समय में स्त्री की लज्जा के समान, अपमान न होने पर पुरुष शान्ति (रखना) भूषण है। परन्तु रतिकाल में स्त्री की धृष्टता भूषण है ॥ ४४ ॥

शत्रुकृतापमानं सोढुर्जन्मैव निरर्थकमित्याह—

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवाऽस्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—यः परावज्ञादुःखदग्धः अपि मा जीवन् जीवति, जननीक्लेश-कारिणः तस्य अजननिः एव अस्तु।

बालबोधिनी—यः=यो जनः। परावज्ञादुःखदग्धोऽपि=शत्रुकृतापमान-दुःखसन्तप्तोऽपि। मा जीवन्=गर्हितजीवी सन्। जीवति=प्राणान् धारयति। जननीक्लेशकारिणः = मातृगर्भधारणप्रसवादिवेदनाविधायिनः तस्य=तादृशस्य पुरुषस्य। अजननिरेव=अजन्मैव। अस्तु=भवतु। वृथैव तस्य जन्मेत्यर्थः। उक्तं च—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः॥ इति॥

कोशः—'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यमरः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः।

समासः—परस्य अवज्ञा परावज्ञा, तया यद् दुखं तेन दग्धः परावज्ञादुःख-दग्धः (त० पु०)। जनन्याः क्लेशः जननीक्लेशः, तं करोतीति जननीक्लेशकारी, तस्य जननीक्लेशकारिणः (त० पु०)।

व्याकरणम्—मा जीवन्—मा+जीव+लट्, ततः 'माङ्याक्रोश इति वाच्यम्' इति वार्तिकेन लटः स्थाने शत्रादेशः। जननीक्लेशकारी—जननी+क्लेश+कृ+णिनिः। अस्तु—अस्+लोट्—तिप्।

हिन्दी—जो व्यक्ति शत्रु के अपमानजन्य दुःख से सन्तप्त होकर भी निन्दित जीवन बिताते हुए जीता है, (गर्भ में दशमास रहने से तथा प्रसव के समय) माता को कष्ट देने वाले उस व्यक्ति का जन्म ही न होता (यही अच्छा था, अर्थात् इस प्रकार के मनुष्य का जन्म ही निष्फल है)॥ ४५॥

परिभवेऽप्यपराक्रमे दोषान्तरमाह—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥ ४६॥

अन्वयः—यत् (रजः) पादाहतं (सत्) उत्थाय (आहन्तुः) मूर्धानम् अधिरोहति, तद् रजः अपमाने अपि स्वस्थात् देहिनः वरम् एव।

बालबोधिनी—यद्=रजः। पादाहतं = चरणताडितं सत्। उत्थाय= उड्डीय, उत्प्लुत्य। मूर्धानं = आहन्तुः शिरः। अधिरोहति = आक्रामति। तद्रजः = अचेतनाऽपि सा धूलिः। अपमानेऽपि = तिरस्कारे जातेऽपि।

स्वस्थात्=सन्तुष्टात्, उदासीनात्। देहिनः=प्राणिनः अपेक्षया। वरं=श्रेष्ठमेव। अस्तीति शेषः व्यतिरेकालङ्कारः।

कोशः—'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः।

समासः—पादेन आहतं पादाहतम्। स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः, तस्मात् स्वस्थात् (त० पु०)। देहोऽस्यास्तीति देही तस्मात् देहिनः।

व्याकरणम्—पादाहतम्—पाद + आ + हन् + क्तः। उत्थाय = उद्+स्था+ क्त्वा—ल्यप्। अधिरोहति—अधि + रुह + लट्—तिप्। देहिनः—देह+इनिः।

हिन्दी—जो धूलि पैर से प्रताड़ित होने पर, उड़कर (मारने वाले के) मस्तक पर चढ़ जाती है, वह धूलि, तिरस्कार होने पर भी निश्चिन्त (उदासीन या शान्त) रहने वाले प्राणी (सचेतन पुरुष) से श्रेष्ठ है ॥ ४६ ॥

परिभवेऽप्युदासीनस्य दोषान्तरमाह—

असम्पादयतः कश्चिदर्थं जाति क्रियागुणैः।
यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—जातिक्रियागुणैः कश्चित् अर्थम् असम्पादयतः पुंसः जन्म यदृच्छाशब्दवत् केवलं संज्ञायै (विज्ञेयम्)।

बालबोधिनी—जातिक्रियागुणैः=जात्यादिभिरनुकूलैः साधनैः। जातिः—ब्राह्मणत्वादिः, क्रिया—इज्याध्ययनादिः, गुणः शौर्यादिः, तैः साधनैः, करणे तृतीया। अन्यत्र—गोत्वपाचकत्व-शौकल्यादिभिः स्वाभिधेयैः करणभूतैः। कश्चिदर्थं=किमपि प्रयोजनम्, पुण्यसञ्चयकीर्तिविजयादिपुरुषार्थम्। अन्यत्र-व्यवहाररूपं प्रयोजनम्। असम्पादयतः = अकुर्वतः। पुंसः=पुरुषस्य। जन्म=जननम्, उत्पत्तिः। यदृच्छाशब्दवद् = इच्छाकल्पितस्य डित्थादिशब्दस्येव। केवलं संज्ञायै=संज्ञार्थमेव। एकत्र पारिभाषिकं किञ्चिन्नाममात्रमनुभवितुम् अपरत्र—तादृक्तामनुभवितुमित्यर्थः। शब्दानां हि चतुष्टयी प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः। यदृच्छाशब्दाश्च।

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः' इति केशवः। 'अर्थो हेतौ प्रयोजने निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारद्रव्यवस्तुषु' इति हैमः।

समासः—जातिश्च क्रिया च गुणश्चेति जातिक्रियागुणाः, तैः जातिक्रियागुणैः (द्वन्द्वः)। यदृच्छया शब्दः यदृच्छाशब्दः, यदृच्छाशब्दः, इवेति यदृच्छाशब्दवत्। न सम्पादयतः असम्पादयतः। सम्यक् जानाति अनयेति संज्ञा तस्यै संज्ञायै।

व्याकरणम्—असम्पादयतः—न + सम् + पद + णिच् + कर्तरि शतृ। यदृच्छाशब्दवत्—'तत्र तस्येव' (५।१।११५) इति वति प्रत्ययः।

हिन्दी—जाति (गोत्वादि), क्रिया (पाचकत्वादि) और गुण (शुक्लत्वादि) के द्वारा किसी व्यवहार रूप प्रयोजन को सम्पादन न करने वाले (डित्थ-डवित्थादि अर्थहीन) रूढ शब्द के समान, जाति (ब्राह्मणत्वादि), क्रिया (अध्ययनादि) तथा गुण (शौर्यादि) के द्वारा किसी (पुण्य, कीर्ति, पुरुषार्थादि) प्रयोजन की सिद्धि को न करने वाले पुरुष का जन्म केवल (देवदत्त, यज्ञदत्तादि) नाम मात्र के लिए है।

टिप्पणी—जिस प्रकार जात्यादि प्रवृत्ति शून्य स्वेच्छाकल्पित डित्थादि पारिभाषिक शब्द किसी नाम मात्र का अनुभव (ज्ञान-संकेत) कराने के लिए हैं। उनसे व्युत्पत्तिनिमित्त जन्य कोई अवयवार्थ नहीं निकलता है। उसी प्रकार ब्राह्मणत्वादि जाति, यज्ञ-अध्ययनादि क्रिया और शौर्यादि गुणों से किसी पुण्य-सञ्चय, कीर्ति आदि अर्थसिद्धि को न करने वाले पुरुष का जन्म भी देवदत्त यज्ञदत्तादि नाम मात्र का ज्ञान कराने के लिए है, अर्थात् उसका जन्म निरर्थक है। अतः हम लोगों का क्षत्रिय जाति तथा अपने शूरतादि गुणों के योग्य शिशुपाल पर चढ़ाई रूप कार्य अवश्य ही करना चाहिए, यह बलराम का अभिप्राय है॥ ४७॥

एवमपौरुषं दूषयित्वा पौरुषं समर्थयति—

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ, नेदं सिन्धावगाधता।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि॥ ४८॥

अन्वयः—अद्रौ तुङ्गत्वम् (अस्ति) इतरा न (अस्ति) सिन्धौ अगाधता (अस्ति), इदं न (अस्ति) मनस्विनी अलङ्घनीयताहेतुः तत् उभयम् (अस्ति)।

बालबोधिनी—अद्रौ = शैले। (अलङ्घनीयताहेतुः—)तुङ्गत्वम् = औन्नत्यम्। अस्तीति शेषः। (परन्तु अलङ्घनीयताहेतुः—)इतरा = अगाधता। न = नास्ति। सिन्धौ = समुद्रे, तु। इदं = तुङ्गत्वम्। न = नास्ति। मनस्विनी = मानिनि वीरे तु। अलङ्घनीयताहेतुः। अलङ्घ्यत्वकारणम्। तदुभयं =

तुङ्गत्वागाधते, तुङ्गत्वगाधत्वोभयमस्तीति शेषः । अत्राद्रिसिन्धुभ्यां मनस्विन आधिक्यकथनाद् व्यतिरेकालङ्कारः ।

कोशः—महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः । अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः, इत्यमरः। 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः' इत्यमरः ।

समासः—अविद्यमानः गाधः यस्मिन् स अगाधः, तस्य भावः अगाधता। लङ्घितुं योग्यः लङ्घनीयः, न लङ्घनीयः अलङ्घनीयः, तस्य भावः अलङ्घनीयता, तस्याः हेतुः अलङ्घनीयताहेतुः (त० पु०) । तुङ्गस्य भावः तुङ्गत्वम् । प्रशस्तं मनः अस्यास्तीति मनस्वी, तस्मिन् मनस्विनि ।

व्याकरणम्—उभयम्—उभौ अवयवौ अस्येति उभयम्—उभ+अयच्। मनस्विनि—मनस्+विनिः (मत्वर्थे) तुङ्गत्वम—तुङ्ग+त्व । अगाधता—अगाध+तल् ।

हिन्दी—(पुरुषार्थशून्य की निन्दा करने के बाद अब पुरुषार्थी होने की प्रशंसा करते हैं–) पर्वत में ऊँचाई है परन्तु दूसरी (अगाधता, गाम्भीर्य) नहीं है तथा समुद्र में अगाधता (गाम्भीर्य) है, परन्तु यह (ऊँचाई) नहीं है। परन्तु मनस्वी पुरुष में अलङ्घनीय होने के ये दोनों कारण (ऊँचाई और गाम्भीर्य (वर्तमान रहते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ बलरामजी का अभिप्राय यह है कि पर्वत में अलङ्घनीयता का एक कारण ऊँचाई है तथा समुद्र में अलङ्घनीयता का एक कारण गाम्भीर्य है। इन एक-एक कारणों से भी दोनों किसी से आक्रान्त नहीं हो सकते। अतः जब स्वाभिमानी व्यक्ति में अलङ्घनीता के ये दोनों कारण विचारों की उच्चता तथा गाम्भीर्य दोनों हैं, तो वह तो किसी से आक्रान्त होना ही नहीं चाहिए। हम लोग क्यों कि मनस्वी हैं अतः शिशुपाल हम पर चढ़ाई करे यह हमें सहन नहीं है ॥ ४८ ॥

शत्रौ मार्दवमनर्थायेत्याह—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—स्वर्भानुः अपराधे तुल्ये (अपि) भानुमन्तं यत् चिरेण ग्रसते हिमांशुम् आशु (ग्रसते यत्) तत् म्रदिम्नः फलं स्फुटम् ।

बालबोधिनी—स्वर्भानुः==राहुः। अपराधे=दोषे, अपकारे। तुल्ये=समानेऽपि। भानुमन्तं = सूर्यम्। चिरेण = बहुकालेन, महता समयेन। ग्रसते = कवलयति, निगिलति। हिमांशुम् = चन्द्रम्। आशु = शीघ्रमेव (ग्रसते=गिलतीति) यत्, तत्=एतत्। म्रदिम्नः = मार्दवस्य। फलं=परिणामः, विपाकः। स्फुटं स्पष्टम्। तस्माद्विपक्षे तीव्रेण भवितव्यम्। अन्यथा मृदुः सर्वत्र पीड्यते। अत्र मृदोः सर्वत्र पीडनमिति प्रस्तुतमप्रस्तुत-सूर्यचन्द्रकथनेन सारूप्यात्प्रतीयते इति अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुप्रशंसेयं सारूप्याद्विनियन्त्रिता। इति लक्षणात्।

कोशः—'ग्रसिते गिलितं गीर्णम्' इत्यभिधानात्। 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यमरः।

समासः—स्वः आकाशे भातीति स्वर्भानुः। भानवोऽस्य सन्तीति भानुमान्, तं भानुमन्तम्। हिमाः अंशव अस्याऽसौ हिमांशुः तं हिमांशुम्। मृदोर्भावः म्रदिमा, तस्य म्रदिम्नः।

व्याकरणम्—'म्रदिम्नः–मृदु+पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः 'र ऋतो हलादेलघोः' (६।४।१६१) इति ऋकारस्य रेफः। तोल्यते अनयेति तुला, तुलया सम्मितः तुल्यः तस्मिन् तुल्ये–तुला+यत् (भावे) अपराधे–अप्+राध+घञ्।

हिन्दी—समान अपराध होने पर भी राहु सूर्य को विलम्ब से तथा चन्द्रमा को जो शीघ्र ग्रसता है, वह कोमलता (शान्त रहने) का स्पष्ट फल है ॥ ४९ ॥

अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषी।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

अन्वयः—असाराणां निदर्शनं बहुतृणं लघुः नरः अल्पेऽपि परवायौ उपेयुषी स्वयं प्रणमते।

बालबोधिनी—असाराणां=दुर्बलानाम्, भीरूणाम्। निदर्शनं=दृष्टान्तः। नरः=बहुतृणं=तृणकल्पम्, तृणतुल्यः। लघुः=अतितुच्छः, निष्पौरुषः, दीनः। नरः=पुरुषः। अल्पेऽपि=स्वल्पेऽपि। परवायौ=शत्रुवाते, वायुतुल्ये वैरिणि। उपेयुषि=सम्प्राप्ते सति। स्वयं आत्मनैव। प्रणमते==प्रह्वीभवति। दुर्बलो जनः

साधारणेनाऽपि शत्रुणा वायुना तृणमिवानायासेन परिभूयते। अत एव स्थेयम्। उपमालङ्कारः।

कोशः—'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीवं वरे त्रिषु' इत्यमरः। 'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः। स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषाः' इत्यमरः।

समासः—नास्ति सारो येषां ते असाराः तेषाम् असाराणाम् (ब० व्री०)। नरपक्षे—परो वायुरिव परवायुः, तृणपक्षे परः इव वायुः परवायुः, तस्मिन् परवायौ (उपमिति समासः।) ईषदसमाप्तं तृणं बहुतृणम्।

व्याकरणम्—प्रणमते—प्र+णम्+लट्—त। बहुतृणम्—तृणशब्दात् ईषदसमाप्तेऽर्थे 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (५।३।६८) इति बहुच् प्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं भवति 'स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच्प्रकृतिलिङ्गके' इति वचनात् प्रकृतिलिङ्गता। निदर्शनम्। नि+दृश+ल्युट्।

हिन्दी—सारहीनों का दृष्टान्त रूप तिनके के सदृश तुच्छ मनुष्य थोड़े से शत्रु रूप वायु के प्राप्त होने पर स्वयं झुक जाता है।। ५०।।

भूयोऽपि तेजोमहिमानमाह—

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम्॥ ५१॥

अन्वयः—दवीयान् अपि तेजस्वी तेजस्विमध्ये गण्यते। पञ्चतपसः जातवेदसां पञ्चमः तपनः भवति।

बालबोधिनी—दवीयानपि = अतिदूरस्थोऽपि, विप्रकृष्टोऽपि। तेजस्विमध्ये सङ्ख्याते। (तथाहि-) पञ्चतपसः=पञ्चाग्निमध्ये तपस्यतः पुरुषस्य। तपनः सूर्यः। जातवेदसां = अग्नीनाम्। पञ्चमः=पञ्चसङ्ख्यापूरकः। भवतीति शेषः। पञ्चाग्निकं नाम तपो भवति। यस्तु ग्रीष्मकाले चतुर्षु अग्निषु मध्ये स्थित्वा आदित्ये तपश्चरति स पञ्चतपा उच्यते। अत्र विशेषेणोत्तरार्धार्थेन पूर्वार्धकथितः सामान्यार्थः समर्थ्यते इति विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽप्यतस्त्रिषु' इत्यमरः। 'स्याद्दूरं विप्रकृष्टम्' इत्यमरः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः। कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः।

समासः—अतिशयेन दूरो दवीयान्। प्रशस्तं तेजः अस्ति येषां ते तेजस्विनः, षां मध्यं तेजस्विमध्यं तस्मिन्—तेजस्विमध्ये (व० व्री० गर्भ त० पु०)। ञ्चभिः (पञ्चाग्निसाध्यं वा) तपो यस्याऽसौ पञ्चतपाः, तस्य पञ्चतपसः व० व्री०)। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः।

व्याकरणम्—तेजस्वी–तेजस्+विनिः। दवीयान्=दूर+ईयसुन्- स्थूलदूर-' ६।४।१५६) इत्यादिना रलोपः गुणश्च। पञ्चमः—पञ्चन्+डट्+मडा-गमश्च।

हिन्दी—अत्यन्त दूर स्थित भी प्रतापी पुरुष तेजस्वियोंमें गिना जाता है (जैसे कि—) पञ्चतप वाले तपस्वी की पञ्चाग्नियों में सूर्य पाँचवाँ अग्नि होता है।

टिप्पणी—पञ्चतपसः—पाँच अग्नियों के मध्य में तपस्या करने वाला पञ्चतपाः कहलाता है। ग्रीष्म काल में पञ्चतपा तपस्वी अपने चारों तरफ अग्नि जलाकर सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तपस्या करता है। यहाँ सूर्य भी अन्य अग्नियों के समान अपना ताप उस तपस्वी को देता है। अतः सूर्य भी पाँचवाँ अग्नि मान लिया जाता है। इन पाँच अग्नियों को—दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय और सभ्य तथा आवसथ्य, इन नामों से पुकारा जाता है। यहाँ बलराम जी के कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य तीक्ष्ण ताप देने के कारण पञ्चाग्नियों के मध्य गिना जाता है इसी प्रकार यदि आप भी अपना तीक्ष्ण प्रताप शिशुपाल पर दिखाओगे तभी आपकी गणना तेजस्वियों मे हो सकती है। अन्यथा नहीं ॥ ५१ ॥

शत्रोरुपरि अनाक्रमणे कीर्तिविस्तारो दुर्लभ इत्याह—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

अन्वयः—उच्चैः विद्विषां मूर्धसु हेलया पादम् अकृत्वा अनालम्बा कीर्तिः कथङ्कारं द्याम् अधिरोहति।

बालबोधिनी—उच्चैः=उन्नतेषु। विद्विषां=शत्रूणाम् मूर्धसु मस्तकेषु। हेलया=अनादरेण, बलात्कारेण। पादं=चरणम्। अकृत्वा=अनिधाय। अनालम्बा=निराश्रया। कीर्तिः=यशः। कथङ्कारं=कथम्, केन प्रकारेण। द्यां=स्वर्गम्। अधिरोहति=आरोहति। न कथञ्चिदित्यर्थः। शत्रवो हि यदि

बलान्नाभिभूयन्ते ततो यशो दुर्लभमिति भावः। अत्र प्रस्तुतायाः कीर्तेः महिम्ना अप्रस्तुतप्रासादारोहण—स्त्रीव्यव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः।

कोशः—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। '... कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः। सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्' इत्यमरः। 'हेला स्त्रियामवज्ञायां वि... वारयोषिताम्' इति मेदिनी।

समासः—विशेषेण द्विषन्तीति विद्विषः, तेषाम् = विद्विषाम् न वि... आलम्बो यस्याः सा अनालम्बा (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विद्विषाम्—वि + द्विष् + क्विप्। अकृत्वा—न + कृ + क्त्वा 'अनञ्पूर्वः' इति निषेधात् समासेऽपि न ल्यबादेशः। कथङ्कारम्—कथम्-कृ + णमुल्, 'अन्यथैवङ्कथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' (३।४।२७) इत्यनेन ... कात्करोतेः कथम्पूर्वाण्णमुल्।

हिन्दी—शत्रुओं के ऊँचे मस्तकों पर अनादरपूर्वक पैर रखे विना, आश्रय-रहित कीर्ति किस प्रकार स्वर्ग में चढ़ सकेगी ॥ ५२ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषान्तरमाह—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुराक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अङ्काधिरोपितमृगः चन्द्रमा मृगलाञ्छनः (इत्येवं ख्यातः) निष्ठुराक्षिप्तमृगयूथः केसरी (तु) मृगाधिपः (इत्येवं ख्यातः)।

बालबोधिनी—अङ्काधिरोपितमृगः=उत्सङ्गस्थापितहरिणः। चन्द्रमाः=चन्द्रः। मृगलाञ्छनः=मृगाङ्कः, 'इत्येवं लोके ख्यातः' इति शेषः। किन्तु—निष्ठुराक्षिप्तमृगयूथः=निर्दयहतहरिणसमूहः। क्वचिन्मृगयूथः इत्यस्य स्थाने 'मृगपूगः' इति पाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः। केसरी=सिंहस्तु। मृगाधिपः=मृगराजः। 'इत्येवं लोके ख्यातः' इति शेषः। अप्रस्तुतालङ्कारः।

कोशः—'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः।

समासः—अङ्कम् अङ्के वाऽधिरोपितो मृगो येनाऽसौ अङ्काधिरोपितमृगः (ब० व्री०) लाञ्छ्यते अङ्क्यते अनेनेति लाञ्छनम्' मृगः लाञ्छनं यस्य सः

मृगलाञ्छनः (ब० व्री०)। निष्ठुरं क्षिप्तः निष्ठुरक्षिप्तः, निष्ठुरक्षिप्तः मृगयूथः येन सः निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः। मृगाणाम् अधिपः मृगाधिपः।

व्याकरणम्—मृगाधिपः—मृग + अधि + पा + कः। केसरी—केसर + इनिः।

हिन्दी—(दया से) चन्द्रमा को गोद में रखने वाला चन्द्रमा 'मृगलाञ्छनः'। अर्थात् चन्द्र के कलङ्क वाला (कहा जाता है, और) निष्ठुरतापूर्वक मृगोंके समूह को मारने वाला सिंह 'मृगराज' मृगों का राजा (कहा जाता है) ॥५३॥

सम्प्रति सान्त्वं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां प्रत्याचष्टे—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—चतुर्थोपायसाध्ये रिपौ सान्त्वम् अपक्रिया (भवति)। स्वेद्यम् आमज्वरं (प्राप्य) कः प्राज्ञः अम्भसा परिषिञ्चति।

बालबोधिनी—चतुर्थोपायसाध्ये=दण्डसाध्ये। रिपौ = शत्रौ। क्वचित् 'शत्रौ' इत्येव पाठः। सान्त्वं = सामवादः, साम। अपक्रिया=अपकारः। (तथा हि—) स्वेद्यं=स्वेदार्हम्, उष्णोपचारसाध्यमिति भावः। आमज्वरं= अपक्वज्वरम्। कः प्राज्ञः=को विद्वान्। अम्भसा=जलेन। परिषिञ्चति= अभिषिञ्चति। न कोऽपीत्यर्थः। ज्वरितस्य जलसेकवत् कुपितस्य सान्त्वमुद्दीपकरं स्यात्। अतोऽवश्यमेव दण्डनीयोऽसौ चैद्य इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः।

कोशः—'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः। 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः। 'कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्। अम्भोऽर्णस्तोय-पानीयनीरक्षीराम्बुशंवरम्' इत्यमरः।

समासः—उपैति उपायते वाऽनेनार्थं इत्युपायः, चतुर्णां पूरणः चतुर्थः, चतुर्थः उपायः चतुर्थोपायः, तेन साध्यः चतुर्थोपायसाध्यः तस्मिन् चतुर्थोपायसाध्ये। आमश्चाऽसौ ज्वरश्च आमज्वरः, तम् आमज्वरम्।

व्याकरणम्—अपक्रिया—अप + कृ + 'कृञः श च' (३।३।१००) इति शः। स्वेद्यम्—स्विद् ण्यत्। परिषिञ्चति—परि + सिच् + लट्—तिप्—षत्वम्।

हिन्दी—दण्ड के द्वारा वश में करने योग्य शत्रु के साथ शान्ति का व्यवहार (करना) अपकार स्वरूप होता है। क्योंकि पसीना लाने योग्य कच्चे (नये)

ज्वर को कौन विद्वान् (चतुर चिकित्सकादि) जल से स्नान कराता है (
से भिगोकर शान्त करता है) अर्थात् कोई नहीं।

टिप्पणी—राजनीति शास्त्र में शत्रुओं को वश में करने के चार उपाय हैं—साम, दान, भेद, दण्ड। इनमें साम प्रथम उपाय है तथा दण्ड चतुर्थ है। उत्तम प्रकृति के शत्रु को साम से' मध्यम प्रकृति के शत्रु को दान से, अ का भेद से और अधमाधम को दण्ड से, वश में किया जाता है। शिशु अत्यन्त उद्दण्ड तथा नीच प्रकृति का शत्रु है इसलिए वह दण्ड से ही वश में सकता है। नये ज्वर में स्नान करने से सन्निपात ज्वर (जिसमें कफ, व पित्त तीनों कुपित हो जाते हैं। बन जाता है, चिकित्सा करना बड़ा कठिन है विशेष जानकारी के लिए प्रथम सर्ग के पैंसठवें श्लोक की टिप्पणी देखें॥ ५४

पुनस्तदेवाह—

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः॥ ५५॥

अन्वयः—सकोपस्य तस्य सामवादाः सहसा प्रतप्तस्य सर्पिषः तोयबिन्दव इव प्रत्युत दीपकाः।

बालबोधिनी—सकोपस्य = सक्रोधस्य। तस्य=शिशुपालस्य। सामवादाः= शान्तिवचनानि, प्रियोक्तयः। सहसा=अकस्मात्। प्रतप्तस्य=क्वथितस्य सर्पिषः = घृतस्य। तोयबिन्दवः=जलबिन्दवः। इव = यथा। प्रत्युत= वैपरीत्येन। दीपकाः=उत्तेजका एव। न तु शान्तिकराः। तस्मात् दण्ड्य ए सः। उपमालङ्कारः।

कोशः—'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः। 'अम्भोर्ण स्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशंवरम्' इत्यमरः।

समासः—कोपेन सह वर्तते योऽसौ सकोपः तस्य सकोपस्य साम्नः वाद सामवादाः। तोयस्य बिन्दवः तोयबिन्दवः।

व्याकरणम्——दीपकाः—दीप + ण्वुल्। प्रतप्तस्य—प्र + तप + क्तः +

हिन्दी—क्रोधयुक्त उस शिशुपाल के प्रति शान्ति के वचन उसी प्रकार उत्तेजक होंगे जैसे कि सन्तप्त घृत पर पड़ी हुई जल की बूंदें उस घृत को उद्दी करने वाली होती हैं॥ ५५॥

एवं सिद्धान्तिते याने यदि केचिदुद्धवादयः प्रत्याचक्षीरंस्तान् प्रत्याह—

गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः॥ ५६॥

अन्वयः—गुणानाम् आयथातथ्यात् अर्थं ये विप्लावयन्ति, अमात्यव्यञ्जनाः शत्रुसंज्ञिताः ते राज्ञां दूष्याः ।

बालबोधिनी—गुणानां = सन्धिविग्रहादिगुणानाम् । आयथातथ्यात् = अयथायोग्यत्वात्, असम्यक् प्रयोगतः, अन्यकालेऽन्यप्रयोगात् । अर्थं=प्रयोजनम् । ये=अमात्यादयः । विप्लावयन्ति=विघटयन्ति, विनाशयन्तीत्यर्थः । अमात्य-व्यञ्जनाः=मन्त्रिचिह्नाः, मन्त्रिवेषधारिणः । उभयमूल्यग्राहका इति केचित् । शत्रुसंज्ञिताः=शत्रवः । ते=कूटमन्त्रिणः दुर्मन्त्रिणः । राज्ञां=महीपतीनाम् । दूष्याः=गर्ह्याः, त्याज्याः इति भावः ।

कोशः—'मन्त्रिधीसचिवोऽमात्यः' इत्यमरः । व्यञ्जनलाञ्छनश्मश्रुनिष्ठा-नावयवेष्वपि' इति मेदिनी । 'यथार्थं तु यथातथम्' इत्यमरः ।

समासः—तथात्वमनतिक्रम्य इति यथातथम् न यथातथम् अयथातथम्, तस्य भावः आयथातथ्यम्, तस्मात् = आयथातथ्यात् । अमात्यानां व्यञ्जनं येषां ते अमात्यव्यञ्जना; दूषयितुमर्हाः दूष्या । शत्रुरिति संज्ञा संजाता येषां ते शत्रु-संज्ञिताः (व० ब्री०) ।

व्याकरणम्—आयथातथ्यात्—यथातथा + ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । अमात्य-व्यञ्जनाः—अमात्य + वि + अञ्जु करणे ल्युट् । शत्रुसंज्ञिताः—शत्रुसं + तारकादित्वादितच् ।

हिन्दी—सन्धिविग्रहादि गुणों के यथायोग्य प्रयोग न करने से जो लोग राज-कार्य को विगाड़ देते हैं, कपटमन्त्री का वेष धारण करने वाले (परन्तु वास्तव में—) शत्रुरूप वे लोग राजाओं के (द्वारा) दोष लगाकर परित्याग करने योग्य हैं । अथवा कपट से मन्त्री बने हुए तथा दोनों तरफ से वेतन लेने वाले वे लोग दोष लगाकर (राजकार्य से) अलग करने योग्य हैं ॥ ५६ ॥

प्रयाणमपि काले एव कर्त्तव्यमिति मनसि निधाय यानयोग्योऽयमेव काल इत्याह—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—केचित् स्वशक्त्युपचये यानम् आहुः, अपरे परस्य व्यसने (यानमाहुः) तद् द्वयम् आसीनं त्वाम् उत्थापयति ।

बालबोधिनी—केचित्=एके नीतिविदः । स्वशक्त्युपचये=स्वसामर्थ्यवृद्धौ । यानं=प्रयाणम्, अभियानम् । आहुः=वदन्ति । अपरे=इतरे नीतिज्ञाः ।

परस्य=शत्रोः। व्यसने=विपदि। (यानमाहुः=रणयात्रां कथयन्ति) यथाह कामन्दकः—

प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति।
तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्॥

तथा च मनुः—

'तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः'। (७। १८३)। इति। तद्द्वयम्=मतभेदेन प्रतिपादितं पक्षद्वयमपि। आसीनं=उदासीनम्, निरुद्योगमित्यर्थं। त्वाम्=भवन्तम्। उत्थापयति=युद्धयात्रार्थं प्रेरयति। अभियानस्यायमेवोचितः काल इति भावः।

कोशः—'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः। व्यसनं विपदि भ्रंशे इत्यमरः। द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' इत्यमरः।

समासः—स्वस्य शक्तिः स्वशक्तिः,तस्याः उपचयः स्वशक्त्युपचयः, तस्मिन्-स्वशक्त्युपचये (त० पु०)।

व्याकरणम्—आहुः—ब्रू+लट्–झि–उस् धातोराहादेशः। उत्थापयति-उद्+स्था+णिच्+लट्–तिप्।

हिन्दी—कोई राजनीतिज्ञ अपनी सामर्थ्य (कोशदण्डरूपशक्ति) के बढ़ने पर (शत्रु पर) चढ़ाई करने को (उचित) कहते हैं, तथा दूसरे राजनीतिज्ञ शत्रु के आपत्ति काल में (शत्रु पर) चढ़ाई करना उचित बताता है। ये दोनों ही (बातें अर्थात्–अपनी शक्ति की वृद्धि तथा शत्रु की विपत्ति); उदासीन (निरुद्योग) बैठे हुए आपको युद्ध के लिए प्रेरित कर रही हैं। अतः शिशुपाल पर चढ़ाई करने का यही उपयुक्त अवसर है)॥ ५७॥

स्वशक्त्युपचयं तावदाह—

लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः।
यादवाम्भोनिधीन् रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा॥ ५८॥

अन्वयः—लोकान् लिलङ्घयिषतःअलङ्घ्यान् अलघीयसः यादवाम्भोनिधीन् भवतः क्षमा वेला इव रुन्धे।

बालबोधिनी—लोकान् = जगन्ति, जनांश्च। लिलङ्घयिषतः=लङ्घयितुमिच्छतः, आक्रमितुकामान्। (स्वयं च–) अलङ्घ्यान्=दुर्लङ्घ्यान्, अनतिक्रमणीयान्। अलघीयसः = अतिगुरून्। यादवाम्भोनिधीन्=यादवसागरान्,

समुद्रतुल्यान् यादवान् । भवतः—तव श्रीकृष्णस्य । क्षमा—तितिक्षा । वेलेव—कूलमिव । रुन्धे=अवरुणद्धि, प्रतिवध्नाति ।

कोशः—'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमर' ।

समासः—न लङ्घयितुं योग्या अलङ्घ्याः, तान् अलङ्घ्यान् । न लघीयांसः अलघीयांसः तान् अलघीयसः (नञ् त० पु०) । निधीयन्ते एषु निधयः, अम्भसां निधयः अम्भोनिधयः, यादवाः अम्भोनिधय इव यादवाम्भोनिधयः, तान्—यादवाम्भोनिधीन् ।

व्याकरणम्—लिलङ्घयिषतः—णिजन्तात् लङ्घधातोः सन् ततः कर्तरि शतृ अलघीयसः—नञ्+लघु+ईयसुन् । रुन्धे—रुध्+लट्-त-श्नम् ।

हिन्दी—संसार को लाँघने की इच्छावाले, (तथा स्वयं दूसरों से) न लांघे जाने वाले, अत्यन्त महान् यादव रूपी समुद्रों को आपकी सहनशीलता तट के समान रोक रही हैं ॥ ५८ ॥

नायं तव कश्चिदायासो येन क्लेशभयान्नानुजानासीति दर्शयितुमाह—

विजयस्त्वयि सेनायाःसाक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सेनायाः विजयः साक्षिमात्रे फलभाजि त्वयि समीक्ष्योक्ते आत्मनि बुद्धेः भोग इव अपदिश्यताम् ।

वालबोधिनी—सेनायाः=सैन्यस्य कर्तृभूतस्य । विजयः=जयः । साक्षिमात्रे=उदासीने एव । फलभाजि=फलभोक्तरि । त्वयि=भवति । समीक्ष्योक्ते=साङ्ख्यशास्त्रोक्ते । आत्मनि = पुरुषे । बुद्धेः = महत्तत्वस्य । भोग इव=सुखदुःखानुभव इव, बुद्धिकर्तृकः सुखाद्यनुभव इव । अपदिश्यताम्=व्यवह्रियताम् । भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वादिति भावः । इदमत्र दर्शनम्-आत्मा वेदयिता (चेतनः), बुद्धिर्वेद्या । बुद्धिर्बध्यते; मुच्यत सर्वमनुभवति । आत्मा नैव बध्यते न किञ्चिदुपभुङ्क्ते । किन्त्विदमुच्यते—पुरुषो बद्धः, पुरुषो मुक्तः, आत्मनः सुखमात्मनो दुःखम् । इत्येवं बुद्धेर्भोगः साक्षिमात्रे उदासीने पुरुष कथ्यते । एवं सेनाया विजयस्त्वयि उदासीने योज्यताम् । न कश्चित्तवायासः । यदाहेश्वरकृष्णः साङ्ख्यकारिकायाम्—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः । सां० का० ३७ ।

तथा—तस्मान्न बध्यते नाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।। सां० का० ६२।

कोश:—'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः । वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः । साङ्ख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।

समासः—सम्यक् ईक्ष्यते अनेन तत् समीक्ष्यम्, समीक्ष्येण उक्तः समीक्ष्योक्तः, तस्मिन्=साक्षिमात्रे ।

व्याकरणम्—अपदिश्यताम्—अप + दिश्+लोट्—अ । भोगः—भुज+घञ् 'चजोः कु घिण्यतोः' (७ । ३ । ५२) इति कुत्वम् । फलभाजि—फल+भज्+ण्विः ।

हिन्दी—सेना की विजय साक्षिमात्र तथा फल भोक्ता आप में उसी प्रकार प्रयुक्त हो जिस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में कहे हुए साक्षिमात्र, फल—भोक्ता आत्मा में वुद्धि का भोग प्रयुक्त होता है ।

टिप्पणी—समीक्ष्योक्ते—सांङ्ख्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित । सम्यग् ईक्ष्यतेऽनेन तत् समीक्ष्यम्—जिसके द्वारा समुचित ज्ञान होता है वह शास्त्र समीक्ष्य कहलाता है । साङ्ख्यशास्त्र का यह दूसरा नाम है । सांख्य शब्द का भी यही अर्थ है । साङ्ख्यशब्द सङ्ख्या से बना है जिसका अर्थ है गिनती या विचार । अर्थात् जिसमें २५ तत्वों—प्रकृति पुरुपादि का वर्णन है, अथवा—जो आत्मा (पुरुप) एवं प्रकृति आदि २५ तत्वों का सम्यक् ज्ञान कराता है।

साक्षिमात्रे—साङ्ख्यकारिका आदि ग्रन्थों के अनुसार संसार भुक्ति रूप बुद्धि का भोग आत्मा का कहा जाता है, अर्थात्—वुद्धि ही बद्ध होती है, वही मुक्त होती हैं तथा सुख दुःखादि का अनुभव भी वही वुद्धि ही करती है। आत्मा न बद्ध होता है, न मुक्त होता है और न सुखादि का अनुभव करता है। वह तो केवल द्रष्टा या साक्षी है। फिर भी आत्मा बद्ध हुआ, आत्मा मुक्त हुआ, आत्मा (पुरुप) सुख भोग रहा है या दुःख भोग रहा है । इस प्रकार वुद्धि का भोग साक्षिमात्र आत्मा में वताया जाता है । उसी प्रकार आप भी युद्ध में उपस्थित होकर केवल देखते रहें । आपकी सेना ही शत्रुओं को मार डालेगी एवं विजय प्राप्त करेगी, परन्तु स्वामी होने के कारण आपको ही उसका फल प्राप्त होगा । 'भगवान् श्रीकृष्ण ने शत्रुओं को परास्त किया, उन पर

विजय प्राप्त की' इस प्रकार लोग आपके लिए कहेंगे। बलराम के इस कथन से श्रीकृष्ण की सेना की विशालता प्रतीत होती है ॥ ५९ ॥

सम्प्रति शत्रोर्व्यसनमाह—

हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥

अन्वयः—हिडिम्बरिपुणा द्वैमातुरे राज्ञि युधि हते (सति) चिरस्य मित्रव्यसनी दमघोषजः सुदमः।

बालबोधिनी—हिडिम्बरिपुणा = भीमसेनेन। द्वैमातुरे = जरासन्धे। राज्ञि = नृपे। युधि = युद्धे मल्लयुद्धे इति भावः। हते = मारिते सति। चिराय = चिरकालेन। मित्रव्यसनी = मित्रव्यसनवान्, मित्रभ्रंशवान्। दमघोषजः = दमघोषपुत्रः, शिशुपालः। सुदमः = सुखेन जेतुं शक्यः। एकाकित्वात् सुसाध्य इत्यर्थः। अत्रत्यमितिवृत्तं हिन्दी टिप्पण्यामवलोकनीयम्।

कोशः—'चिराय-चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः। 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः।

समासः—हिडिम्बस्य रिपुः हिडिम्बरिपुः तेन हिडिम्बरिपुणा। द्वयोः मात्रोरपत्यं पुमान् द्वैमातुरः, तस्मिन् द्वैमातुरे। मित्रस्य व्यसनं मित्रव्यसनम्, तदस्यास्तीति मित्रव्यसनी। दमघोषाज्जातः दमघोषजः।

व्याकरणम्—द्वैमातुरे—द्वि + मातृ 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' (४।१।११५) इत्यण् प्रत्ययः उकारश्चान्तादेशो रेफपरः। युधि—युध् + भावे क्विप्। हते—हन् + कर्मणि क्तः, नलोपश्च। दमघोषजः—दमघोष + जन् + डः मित्रव्यसनी—मित्रव्यसन + इनिः।

हिन्दी—हिडिम्ब के शत्रु भीम के द्वारा युद्ध में जरासन्ध के मारे जाने पर चिर काल से मित्र की मृत्यु से दुःखी उस दमघोष के पुत्र शिशुपाल को जीतना सरल है।

टिप्पणी—हिडिम्बरिपुणा=भीम के द्वारा। हिडिम्ब नाम का एक राक्षस था जिसको वनवास के समय भीम ने मारकर उसकी बहिन हिडिम्बा से विवाह कर लिया। उसी से घटोत्कच उत्पन्न हुआ।

द्वैमातुर—जरासन्ध। 'द्वैमातुर' शब्द का अर्थ है—दो माताओं का पुत्र।—महाभारत की कथा के अनुसार जरासन्ध के पिता, जो मगध देश के

राजा थे, को पुत्रप्राप्ति के आशीर्वाद में एक फल प्राप्त हुआ जिसको उन्होंने आधा-आधा करके अपनी दो स्त्रियों को खिलाया। उसी के परिणामस्वरूप दोनों स्त्रियों के गर्भ से दो फांकों की तरह आधे-आधे दो शरीर उत्पन्न हुए। उन्हें बेकार समझकर श्मशान में डाल दिया गया जिसको जरा नाम की राक्षसी ने कौतुक वश ज्यों ही मिलाया त्यों ही जुड़ गया और बालक हो गया। तब इस राक्षसी ने इस बच्चे को पाला। जरा नाम की स्त्री के द्वारा जोड़ा जाने (संधित होने) से इसका नाम जरासन्ध पड़ा। इस जरासन्ध ने अपनी दो कन्याओं अस्ति और प्राप्ति का विवाह कंस से किया। कृष्ण के द्वारा कंस के मारे जाने पर कृष्ण से द्वेष करने लगा। इसके बाद उसने १८ बार द्वारकापुरी पर आक्रमण किया किन्तु परास्त होता रहा। अन्त में युधिष्ठिर के यज्ञ के समय राजाओं के दिग्विजय के अवसर पर भीम से उसका लगातार १३ दिन तक मल्लयुद्ध हुआ। अन्तमें कृष्ण के संकेत पर भीम ने उसे ऊपर उठाकर सौ बार घुमाने के बाद पृथिवी पर पटक दिया और उसका एक पैर उठाकर दूसरा दबाकर उसे चीर डाला (महाभारत सभापर्व) ॥ ६० ॥

एवं नीत्या परमतेन यानं प्रतिपाद्य विक्रमैकरसिकतया आत्ममतेन प्रतिपादयितुमाह—

नीतिरापदि यद् गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—परः आपदि गम्यः इति नीतिः यत् तत् मानिनः ह्रिये। पूर्णः सः तस्य विधुः विधुन्तुदस्य इव उत्सवाय (भवति)।

बालबोधिनी—परः=शत्रुः। आपदि=आपत्तिसमये। गम्यः=आक्रमणीयः। इति नीतिः=इति नयः। यत्तत्=आपदि गमनम्। मानिनः=शौर्याभिमानिनः, धीरस्य। ह्रिये=लज्जायै। भवतीति शेषः। (किन्तु) पूर्णः=समृद्धः, मित्रसाहाय्यसहितः उपचितशरीरश्च। सः=रिपुः। तस्य=मानिनः पुरुषस्य। विधुः=चन्द्रः। विधुन्तुदस्येव = राहोरिव। उत्सवाय=हर्षाय। भवतीति शेषः। अत एव बलिना बलवानेव यातव्यः, बलिनो वधमिति भावः।

कोशः—'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः। 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरोषधीशो निशापतिः। अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः।

समासः—मानः अस्ति अस्येति मानी, तस्य—मानिनः। विधुं तुदतीति विधुन्तुदः तस्य विधुन्तुदस्य (त० पु०)।

व्याकरणम्—मानिनः—मान + इनिः। गम्यः— गम् + यत्। नीतिः—नी + क्तिन्। विधुन्तुदस्य—विधु + तुद + 'विध्वरुषोस्तुदः' (३।२।३५) इति खश्प्रत्यये मुमागमः।

हिन्दी—जब शत्रु आपत्ति में (फँसा) हो, उस समय उस पर चढ़ाई करनी चाहिए, यह जो नीति है वह मानी पुरुष के लिए लज्जाजनक है। जिस प्रकार राहु पूर्ण चन्द्रमा को ही ग्रसता है, उसी प्रकार समृद्धि से पूर्ण शत्रु पर आक्रमण करना मानी पुरुष के आनन्द के लिए होता है।

टिप्पणी—यहाँ बलरामजी के कहने का तात्पर्य यह है कि शिशुपाल पर जब कोई आपत्ति आये उस समय हम उस पर चढ़ाई करें, यह हम वीर लोगों को शोभा नहीं देता है। वस्तुतः इससे कायरता प्रकट होती है। इस समय हम भी पूर्ण बलवान् हैं और वह भी समृद्ध है, इसलिए इसी समय उस पर आक्रमण करना हमारे लिए यश को देने वाला होगा ॥ ६१ ॥

तर्हि पूर्वप्रतिपादित मन्वादिशास्त्रेण विरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम्।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—उच्छृङ्खलं सत्वं अन्यत्, शास्त्रनियन्त्रितं (सत्वं) अन्यत्। हि तेजस्तिमिरयोः समानाधिकरण्यं कुतः (अस्ति)।

व्याख्या—उच्छृङ्खलं=निरर्गलम्, प्रसह्यपीडनक्षमम्। सत्वं=बलम्, अन्यत् =अन्यादृशम्। शास्त्रनियन्त्रितं=मनुकामन्दकादिशास्त्रप्रतिपादितम्। परव्यसन-कालनिमित्तमित्यर्थः। सत्वं। अन्यत् = इतरत्, भिन्नम्। दृष्टान्तमाह—हि=यतः। तेजस्तिमिरयोः=प्रकाशान्धकारयोः। सामानाधिकरण्यम्=समा-नाधिकरणता, एकाधारत्वम्, सहभावः कुतः=कथं भवितुमर्हति। नैव भवितु-मर्हतीति भावः। एतेन वयं तेजोरूपा नीतिशास्त्रं न मन्यामहे इति भावः।

कोशः—'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः, इत्यमरः। 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः।

समासः—उद्गता शृङ्खला यस्य तद् उच्छृङ्खलम्। शास्त्रेण नियन्त्रितं शास्त्रनियन्त्रितम् (त० पु०)। तेजश्च तिमिरं च ते तेजस्तिमिरे तयोः

तेजस्तिमिरयोः समानम् अधिकरणं ययोः ते समानाधिकरणे तयोर्भावः- सामानाधिकरण्यम् ।

व्याकरणम्—शास्त्रनियन्त्रितम्—शास्त्र + नि + यन्त्र + क्तः + इडागमः। सामानाधिकरण्यम्—समानाधिकरण + ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । कुतः—किम्+ तसिः 'कुतिहोः' (७ । २ । १०४) इति किमः कुरादेशः ।

हिन्दी—अनियन्त्रित (अमर्यादित) बल कुछ और प्रकार का होता है तथा शास्त्रों से नियन्त्रित (मर्यादित) बल कुछ और ही प्रकार का । (अर्थात् दोनों में समानता नहीं हो सकती है । क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार की एक स्थान पर स्थिति कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती है ।

टिप्पणी—बलराम के कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों का नियन्त्रण सीमित बल वालों के लिए है न कि असीमित बल वालों के लिए । जैसे प्रकाश के साथ अन्धकार नहीं रह सकता है, उसी प्रकार असीम शक्ति के साथ शास्त्रों का नियन्त्रण नहीं ठहर सकता है । हमारी शक्ति अपार है अतः हमें शास्त्र की चिन्ता छोड़कर शीघ्र ही शिशुपाल पर चढ़ाई कर देनी चाहिए ॥६२॥

तर्हि किमिदानीमस्माभिः कर्त्तव्यमित्याह—

इन्द्रप्रस्थगमस्तावत्कारि मा, सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसान्निध्याद्वामिनीभूतभूरुहः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—इन्द्रप्रस्थगमः तावत् मा कारि । चेदयः आस्माकदन्तिसान्निध्यात् वामिनीभूतभूरुहः सन्तु ।

बालबोधिनी—इन्द्रप्रस्थगमः=पार्थनगरप्रस्थानम्, हस्तिनापुरगमनम् । तावत् =इदानीम् । मा कारि=न कार्यम्, न क्रियताम् । (किन्तु-) चेदयः=चेदिदेशाः, डाहलदेशाः । आस्माकदन्तिसान्निध्यात्=अस्मद्गजसामीप्यात् । वामनीभूतभूरुहः=शाखाभङ्गात् खर्वीभूतवृक्षाः; विध्वस्तपादपाः । सन्तु=भवन्तु । चेदियात्रैव कर्त्तव्यमिति भावः । अत्र प्रस्तुता चेदियात्रा प्रस्तुतेनैव स्वकार्येण गम्यते इति पर्यायोक्तालङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति ।

कोशः—'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः, इत्यमरः । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः । मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी इत्यमरः ।

समासः—इन्द्रप्रस्थस्य गमः इन्द्रप्रस्थगमः (त० पु०)। प्रशस्तो दन्तो येषां ते दन्तिनः, अस्माकमिमे आस्माकाः, आस्माकाश्च ते दन्तिनश्च आस्माकदन्तिनः, तेषां सान्निध्यम्, तस्मात्—आस्माकदन्तिसान्निध्यात्। भुवि रोहन्तीति भूरुहः न वामनाः अवामनाः, अवामनाः वामनाः सम्पद्यमानाः भूताः इति वामनीभूताः, वामनीभूताः भूरुहो (वृक्षाः) येषु येषां वा ते वामनीभूतभूरुहः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—इन्द्रप्रस्थगमः—इन्द्रप्रस्थ + गम् + 'ग्रहवृदनिश्चिगमश्च' (३। ३। ५८) इत्यप्प्रत्ययः। मा कारि कृ + कर्मणि लुङ् 'माङि लुङ्' (३। ३। १७५) इत्याशीरर्थे 'न माङ्योगे' (६। ४। ७४) इत्यट् प्रतिषेधः। सन्तु—अस् + लोट्—झि।

हिन्दी—(अब हमें क्या करना चाहिए यह कहते हैं—) इस समय आप हस्तिनापुर को मत जाइए, किन्तु चेदिदेश (चन्देरी प्रदेश—जिला झाँसी) हम लोगों के हाथियों के सान्निध्य से छोटे पेड़ों वाले हो जायें। अर्थात् हमें इस समय शिशुपाल पर चढ़ाई करनी चाहिए॥ ६३॥

आक्रमणविधिमाह—

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम्।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः॥ ६४॥

अन्वयः—दाशार्हाः निरुद्धवीवधासारप्रसाराः व्रजं गाः इव माहिष्मतीं पुरीं द्विषः उपरुन्धन्तु।

बालबोधिनी—दाशार्हाः = यादवश्रेष्ठाः, दशार्हदेशवासिनो यादवाः। निरुद्धवीवधासारप्रसाराः — अवरुद्धधान्यादिप्राप्ति—सुहृद्बलसाहाय्य—तृण—काष्ठादिप्रवेशाः। व्रजपक्षे—अवरुद्धदुग्धादिभारवहनसाधनशिक्यभेदप्रवेशनिर्गमनाः, द्वितीयान्तपाठे तु पुरीविशेषणमिदम्। व्रजं = गोष्ठम्। गा इव= धेनुरिव। माहिष्मतीं = एतन्नाम्नीम्। पुरीं = शिशुपालनगरीम्। द्विषः= शत्रून्। उपरुन्धन्तु = निरुन्धन्तु, वेष्टयन्तु।

कोशः—'धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम्, प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः' इति वैजयन्ती। 'विवधो वीवधो भारे पर्याहाराध्वनोरपि, इति हैमः। 'व्रजः स्याद् गोकुलं गोष्ठम्' इति वैजयन्ती। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः।

समासः—वीवधश्च आसारश्च प्रसारश्च ते वीवधासारप्रसाराः निरुद्धाः वीवधासारप्रसाराः यैस्ते—निरुद्धवीवधासारप्रसाराः अन्यत्र—आसारश्च प्रसारश्च आसारप्रसारौ वीवधानाम् आसारप्रसारौ वीवधासारप्रसारौ निरुद्धौ वीवधासारप्रसारौ यैस्ते निरुद्धवीवधासारप्रसाराः। दशार्हाणामिमे दाशार्हाः।

व्याकरणम्—उपरुन्धन्तु—उप + रुध् + लोट्—झि। दाशार्हाः-दशार्ह + अण। माहिष्मतीम्—महिष्मत् + अण्, स्त्रियां ङीप्।

हिन्दी—भोज्य पदार्थ अन्नादि, मित्रों की सहायक सेना तथा घास, भूसा, ईंधन आदि को रोकने वाले यादव लोग माहिष्मती (महेश्वर—इन्दौर) नामक की शत्रु की नगरी में शत्रुओं को उसी प्रकार घेर लें जिस प्रकार वहँगियों से दूध ढोने वालों के आने-जाने को रोकने वाले ग्वाले (गोपाल) गौशाला में गौ को घेर लेते हैं।

टिप्पणी—यहाँ बलरामजी के कहने का अभिप्राय यह है कि—इस प्रकार शत्रुओं को उनकी राजधानी (माहिष्मती नामकी नगरी) में घेर लेने से उनके पास भोजन की रसद तथा मित्रों की सहायता एवं हाथी-घोड़ों के लिए घासादि तथा भोजन बनाने के लिए लकड़ी आदि आवश्यक सामग्री न पहुंचने से वे भूखे एवं निर्बल रहकर हमसे लड़ने में असमर्थ हो जायेंगे। इस प्रकार हम शीघ्र ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेगें।

वीवध—वीवध शब्द के दो अर्थ हैं— (१) धान्यादि की प्राप्ति (२) वहँगी—विशिष्टो वधः = गमनम् एभिस्ते वीवधाः, अर्थात् बोझा ढोने वाली वहँगी।

दाशार्हाः—कुछ विद्वानों के मत में दशार्ह उस देश का नाम है जहाँ यादव लोग रहते थे। इसी से दशार्हाणामिमे दाशार्हाः—यादवाः, यह अर्थ है।

माहिष्मती—यह नर्मदा नदी पर स्थित चेदिदेश की राजधानी थी, जो इस समय महेश्वर या इन्दौर के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत प्राचीन नगरी है जिसका वर्णन पुराणों में भी मिलता है। चेदिदेश जिला झांसी की चन्देरी प्रदेश था॥ ६४॥

नन्वेवं सति युधिष्ठिर उपेक्षितो भवतीत्याशङ्क्याह—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपस्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥ ६५॥

अन्वयः—पाण्डवः यजताम्, इन्द्रः स्वर्गम् अवतु, इनः तपतु, वयं द्विषतः हनाम, सर्वः स्वार्थं समीहते ।

बालबोधिनी—पाण्डवः = युधिष्ठिरः । यजतां = यज्ञं करोतु । इन्द्रः = महेन्द्रः । स्वर्गं = दिवम् । अवतु = रक्षतु । इनः = सूर्यः । तपतु = प्रकाशताम् । वयं = यादवाः । द्विषतः = शत्रून् । हनाम = मारयाम । (तथा हि—) सर्वः = निखिलोऽपि लोकः । स्वार्थं = स्वप्रयोजनम् । समीहते = इच्छति, कुरुते इत्यर्थः । 'प्रतीयते' इति पाठान्तरे प्रतिपद्यते, अनुतिष्ठतीत्यर्थः । अर्केन्द्रतुल्योऽस्माकं युधिष्ठिर इत्यर्थः । यथार्केन्द्रपार्थाः स्वकार्याण्यवतिष्ठमानाः परार्थं नापेक्षन्ते तथा वयमपि स्वकार्यमपेक्षामहे । न तेषामस्माकी चिन्ता नाऽप्यस्माकं तदीयेति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः

कोशः—'इनः पत्यौ नृपार्कयोः' इति मेदिनी । 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा बिडौजाः पाकशासनः । वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः ।

समासः—पाण्डोरपत्यं पाण्डवः । स्वस्य अर्थः स्वार्थः, तम्—स्वार्थम् ।

व्याकरणम्—यजताम्—यज् + लोट्—ताम् । पाण्डवः—पाण्डु + अण् । तपतु—तप + लोट् + तिप् । हनाम—हन् + लोट्—मस् + आट्—सलोपश्च ।

हिन्दी—युधिष्ठिर यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें, सूर्य तपता रहे, हम भी शत्रुओं को मारें, क्यों कि सभी स्वार्थ-साधन चाहते हैं (या स्वार्थसिद्धि करते हैं) ॥ ६५ ॥

कर्त्तव्यमेवाह—

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कादर्करोचिषाम् ।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः, शस्त्रैः, अर्करोचिषां सम्पर्कात्, विद्युतां सम्पत् प्राप्यताम् ।

बालबोधिनी—द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः = शत्रुमस्तकच्छेदोद्गच्छद्रक्तसंसिक्तैः । शस्त्रैः = आयुधैः । अर्करोचिषां = सूर्यकिरणानाम् । सम्पर्कात् = संयोगात्, सम्बन्धात् । विद्युताम् = तडिताम् । सम्पत् = शोभा । प्राप्यताम् = लभताम् । निदर्शनाऽलङ्कारः ।

कोशः—'रुधिरेऽसृग्लोहितास्ररक्तक्षतजशोणितम्' इत्यमरः । 'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रमथाऽस्त्रियौ' इत्यमरः । 'शम्पाशतह्रदाह्रादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा । तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि' इत्यमरः । 'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः ।

समासः—द्विषतां शिरांसि द्विषच्छिरांसि, तेषां छेदः द्विषच्छिरश्छेदः, प्रोच्छलच्च तच्छोणितं च द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितम्, तेन उक्षितानि द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितैः। अर्कस्य रोचींषि अर्करोचींषि, तेषाम् अर्करोचिषाम्।

व्याकरणम्—विद्युताम्—विद्युत्+क्विप्। सम्पत्—सम्+पद्+क्विप्, प्राप्यताम्—प्र+आप+लोट्—कर्मणि त।

हिन्दी—(युद्ध में) शत्रुओं के शिरों के काटने से निकलते हुए रक्त से … हुए (हम लोगों के) हथियार सूर्य की किरणों के संयोग से बिजली की शो… प्राप्त करें।

टिप्पणी—प्राप्यताम्—प्राप्त करें। बलरामजी, कृष्ण के बड़े भाई … इसलिए आशीर्वाद में लोट् लकार का प्रयोग किया है। अथवा—श्रीकृष्णजी… सभी बलरामादि सम्मान देते हैं इसलिए प्रार्थना में लोट लकार का प्रयोग समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

बलरामवचसश्चित्रलिखितदेवताकर्तृकसम्मतिमुत्प्रेक्षते—

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥

अन्वयः—इति संरम्भिणः बलस्य वाणीः आलेख्यदेवताः सभाभित्तिप्रतिध्वानैः भयात् अन्ववदन् इव।

बालबोधिनी—इति = इत्थम्। संरम्भिणः = कुपितस्य, क्षुभितस्य बलस्य = बलभद्रस्य। वाणीः = वाचः, गिरः। आलेख्यदेवताः = चित्रलिखित देवताः। सभाभित्तिप्रतिध्वानैः = मन्त्रगृहकुड्यप्रतिशब्दैः, सभाभवनकुड्यप्रति ध्वनिच्छलेनेत्यर्थः। भयात् = भीतेः। अन्ववदन्निव = अनूचुरिव, अन्वमोदयन्निव अन्यथा मूर्खोऽयं मारयिष्यतीति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

कोशः—'नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली। सङ्कर्षणः सीरपाणिः कालिन्दीभेदनो बलः' इत्यमरः। 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वानम्' इत्यमरः। 'सभा समितिसंसद' इत्यमरः।

समासः—आलेख्यानाम् आलेख्ये वा देवताः आलेख्यदेवताः, सभायाः भित्तयः सभाभित्तयः, तासां प्रतिध्वानानि तैः सभाभित्ति—प्रतिध्वानैः।

व्याकरणम्—संरम्भिणः—सम्+रभ+णिनिः। अन्ववदन्—अनु+वद+लङ्—झि।

हिन्दी—इस प्रकार क्रोधी बलराम के वचनों का (दीवारों में चित्रित) देवताओं ने सभाभवन की दीवारों की प्रतिध्वनियों (के बहाने) से मानो अनुमोदन-सा किया ॥ ६७ ॥

ततो हरिरुद्धवं वक्तुं दृशैव सूचितवानित्याह—

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमादिशद् दृशा ॥ ६८ ॥

अन्वयः—अधोक्षजः ताः शेषगवीः निशम्य बृहतां पत्युः शिष्याय अभिधातुं दृशा प्रस्तावम् आदिशत् ।

बालबोधिनी—अधोक्षजः = श्रीकृष्णः । ताः=पूर्वोक्ताः । शेषगवीः= बलरामगिरः । निशम्य=श्रुत्वा । बृहतां=वाचाम् । पत्युः=स्वामिनः । बृहस्पतेरित्यर्थः । शिष्याय = अन्तेवासिने । उद्धवायेत्यर्थः । अभिधातुं = वक्तुम् । दृशा=दृक्संज्ञया प्रस्तावं = अवसरम् । आदिशत्=ददौ, अतिसृष्टवान् । हलिगौरवाय नावोचदित्यर्थः ।

कोशः—'देवकीनन्दनः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः' इत्यमरः । 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इत्यमरः । 'बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः । जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः' इत्यमरः । 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्षदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः ।

समासः—अक्षानि=इन्द्रियाणि, तेभ्यो जातम् अक्षजम् = इन्द्रियजन्यं ज्ञानम्, तदधः कृतं येन सः अधोक्षजः । अथवा—अधोक्षैः = जितेन्द्रियैः, जायते = प्रत्यक्षीक्रियते यः सः अधोक्षजः । अथवा—अधो न क्षीयते जातु यस्मात् सः अधोक्षजः । शेषस्य गावः शेषगव्यः ताः शेषगवीः ।

व्याकरणम्—निशम्य—नि + शम् + क्त्वा—ल्यप् । बृहताम्—बृह् + शतृ तस्य च शतृवद्भावः । अभिधातुम्—अभि + धा + तुमुन् । आदिशत्—दिश् + लङ्—तिप् ।

हिन्दी—शेष (के अवतार उन बलरामजी) के उन वचनों को सुनकर श्रीकृष्णजी ने बृहस्पति के शिष्य उद्धवजीको बोलने के लिए नेत्र के संकेत से अवसर प्रदान किया ।

टिप्पणी—बृहतां पत्युः शिष्याय—बृहस्पति के शिष्य उद्धव के लिए यहाँ उद्धवजी को बृहस्पति का शिष्य कहने से उनका आप्तत्व प्रतीत होता है ॥ ६८ ॥

उद्धवकथनप्रकारमाह—

भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अथ उद्धवः आहितभरां तथ्यां भारतीम् अनुद्धतम् गदाग्रजम् उतथ्यानुजवत् जगाद ।

बालबोधिनी—अथ = श्रीकृष्णसङ्केतानन्तरम् । उद्धवः=पवनव्या… आहितभराम्=अर्पितार्थगौरवाम्, अर्थगुर्वीम् । तथ्याम्=सत्याम् । भारती… वाणीम् । अनुद्धतं=गर्वरहितम्, सौम्यम्, सप्रश्रयम्, यथा स्यात्तथा।… हलधरवत्कोपेन । गदाग्रजं=कृष्णम् । अग्रे = पुरतः । उतथ्यानुजव… बृहस्पतिरिव । जगाद= उवाच । एतेन मन्त्रप्रावीण्यमुक्तम् । गुरुजनशील… सरन्ति प्रायेण शिष्याः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'उतथ्यावरजो जीवः' इति विश्वः । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्… त्रिषु तद्वति' इत्यमरः । 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्व…' इत्यमरः ।

समासः—आहितः भरो यस्यां सा आहितभरा, ताम्—आहितभ… (ब० व्री०) । गदस्य अग्रजः गदाग्रजः, तम्—गदाग्रजम् (त० पु०) । उतथ्… अनुजः उतथ्यानुजः तेन तुल्यम् उतथ्यानुजवत् । न उद्धतम् अनुद्धतम् … स्यात्तथा ।

व्याकरणम्—उतथ्यानुजवत्—उतथ्यानुज+'तेन तुल्यं क्रिया चेद्व… (५ । १ । ११५) इति वतिः ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् के भ्रूविक्षेप द्वारा बोलने का सङ्केत करने… उद्धवजी अर्थगौरव से परिपूर्ण तथा सत्य अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुकूल व… भगवान् श्रीकृष्णके सामने बृहस्पति के समान बोले ।

टिप्पणी—उतथ्य बृहस्पति के बड़े भाई थे । बृहस्पति के समान बोले… तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बृहस्पति की बात को देवता भी मानते… उसका अपना एक विशेष महत्त्व है । इसी प्रकार उद्धवजी की वाणी का… एक विशेष मूल्य है, उसमें व्यर्थता का नाम-निशान नहीं है ॥ ६९ ॥

सम्प्रत्युद्धववचनस्वरूपमाह—

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु नानया ॥ ७० ॥

अन्वयः—सम्प्रति मुसलपाणिना उक्ते (सति) वक्तुम् असाम्प्रतम्। लेख्येन अर्थे निर्धारिते सति) वाचिकं खलु उक्त्वा खलु।

बालबोधिनी—सम्प्रति=अधुना। मुसलपाणिना=हलधरेण, बलभद्रेण। केवलं शूरेण न तु मन्त्रक्षमेण इति ध्वनिः। उक्ते=कथिते सति। वक्तुम्=निगदितुम्, अभिधातुम्; कथितुम्। असाम्प्रतम्=अयुक्तम्। (तथाहि-)
लेखेन=पत्रेण। लेख्येनेतिपाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः। अर्थे=वाच्ये, अभिधेये। निर्धारिते=निर्णीते सति। वाचिकं=सन्देशवचनम्। खलु उक्त्वा खलु=न वाच्यं खलु। अत्र प्रथमः खलुशब्दः प्रतिषेधे, द्वितीयो वाक्यालङ्कारे इत्यवगन्तव्यम्। अत्र लिखितार्थे यथा वाचिकं निरर्थकं तथा बलरामोक्ते मम वचनमनवकाशमेवेति वाक्यार्थस्य प्रतिबिम्बनाद् दृष्टान्तालङ्कारः। किञ्चात्र स्तुतिव्याजेन निन्दावगम्यते इति व्याजस्तुतिश्च।

कोशः—'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। 'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासाऽनुनये खलु' इत्यमरः। 'युक्तं द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

समासः—मुसलं पाणौ यस्य सः मुसलपाणिः, तेन मुसलपाणिना (ब व्री०)। लिख्यतेऽस्मिन्निति लेखः, तेन लेखेन। न साम्प्रतम् असाम्प्रतम्।

व्याकरणम्—वक्तुम्—वच्+तुमुन्। उक्ते—वच् + क्तः। यजादित्वात्सम्प्रसारणम्। निर्धारिते—निर्+धृ+णिच्+क्तः। लेखेन—लिख+'हलश्च' (३।३।१२१) इति घञ्। वाचिकम्—वच्+स्वार्थे ठक्।

हिन्दी—बलरामजी के (युद्धयात्रा के विषय में) बोलने पर, इस समय (मेरा) बोलना अनुचित है क्योंकि विषय के लेख द्वारा निर्णीत हो जाने पर मौखिक वचन कहना व्यर्थ है।

टिप्पणी—मुसलपाणिना—हाथ में लट्ठ रखने वाले। यहाँ बलरामजी के लिए 'मुसलपाणिः' सदा हाथ में लट्ठ रखने वाले कहने से यह ध्वनि निकलती है कि बलरामजी तो हमेशा लट्ठ लिये फिरते हैं, अर्थात् ये केवल वीर हैं, अतः लट्ठ ही चलाना जानते हैं, शास्त्रज्ञान तो इन्हें है नहीं, इसलिए ये मन्त्रणा के अयोग्य हैं॥ ७०॥

तद्यदि न वक्तव्यम्, तन्मूक इवास्तां किं वृथा जल्पितेनेति वचनावकाशं दित्सुराह—

तथापि यन्मय्यपि ते गुरुरित्यस्ति गौरवम्।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः॥ ७१॥

अन्वयः—तथाऽपि ते मयि अपि गुरुः इति यत् गौरवम् अस्ति तत् ज
मम प्रयोजककर्तृत्वम् उपैति ।

बालबोधिनी—तथापि = बलेनार्थे निर्णीतेऽपि । ते = तव, कृष्ण
मयि = बलभद्रे इव अपि, मय्युद्धवेऽपीत्यर्थः । गुरुरिति = पितृव्योऽर्
सम्माननीय इति, अथवा—ज्ञानश्रेष्ठोऽयमिति सम्मानास्पद इति । यत् गौरवं
आदरातिशयः । अस्ति=वर्तते । 'अस्ति इत्यस्य स्थाने 'एषः' इति पाठान्त
मुद्धव इत्यर्थः । तत्=तदेव गौरवम् । जल्पतः=भणतः, भाषमाणस्य,
प्रयोज्यकर्मण इत्यर्थः । मम = उद्धवस्य । प्रयोजककर्तृत्वम् = प्रेरक
उपैति=प्राप्नोति । अत एव वक्ष्यामीत्यर्थः । न हि विद्भिः पृष्टस्य विशेष
मूर्खवत्तूष्णीभावो युक्त इति भावः । अपिशब्देन आत्मनः हीनत्वं प्रयुञ्जनो
प्रकाशयति । इति शब्दः स्वरूपनिर्देशे ।

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्व ।

समासः—प्रयोजयतीति प्रयोजकः, प्रयोजकश्चाऽसौ कर्त्ता च प्रयोजक
तस्य भावः प्रयोजककर्तृत्वम्, तत् । गुरोर्भावः गौरवम् । जल्पतीति ज
तस्य जल्पतः ।

व्याकरणम्—गौरवम्—गुरु+अण् । उपैति—उप + इ+लट्-ति
जल्पतः—जल्प+कर्तृ–शतृ । कर्तृत्वम्—कर्तृ–त्व ।

हिन्दी—तो भी (बलरामजी के द्वारा युद्ध का निर्णय कर देने पर,
कुछ कहना व्यर्थ होने पर भी) मेरे विषय में ये मेरे गुरु (पूज्य या चाचा
हैं यह जो आदर भाव है, वही (आदरभाव) बोलते हुए मुझको प्रेरित
रहा है ॥ ७१ ॥

ननु बलभद्रेणैव सर्वं विस्तरेणोक्तम्, सम्प्रति न किमपि ते वाच्यमस्ती
शङ्कय वृथा प्रपञ्चोऽयमिति मनसि निधाय त्रिभिः श्लोकैः बाह्यां
कुर्वन्नाह—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

अन्वयः—कतिपयैः एव वर्णैः (कतिपयैरेव—) स्वरैः इव ग्रथित
वाङ्मयस्य गेयस्य इव विचित्रता अनन्ता (भवति) अहो ।

बालबोधिनी—कतिपयैः = परिमितैरेव, पञ्चाशत्संख्याकैरेव । वर्णैः
अकारादिभिरक्षरैः । (कतिपयैरेव=परिमितैरेव, सप्तभिरेव) स्वरैः=निषा

दिभिः स्वरैः । इव=यथा । ग्रथितस्य=गुम्फितस्य । वाङ्मयस्य = शब्द-समूहस्य । गेयस्येव=गानस्येव । विचित्रता=वैचित्र्यम् । अनन्ता+रचनादि-भेदेनापरिमिता । अहो इति विस्मये, महदाश्चर्यमिति भावः । अत्र, हलिनोक्त तथाप्यहमन्यदेव विचित्रतरं वच्मीति तात्पर्यम् । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्री-कण्ठोत्थिताः स्वराः' । 'गीतं गानमुभे समे' इत्यमरः ।

समासः—वागेव वाङ्मयम्, तस्य वाङ्मयस्य । गीयते इति गेयम्, तस्य गेयस्य । विशेषेण चित्रं विचित्रं तस्य भावः विचित्रता । न विद्यते अन्तः यस्या सा अनन्ता ।

व्याकरणम्—वाङ्मयस्य—वाच्+स्वार्थे विकारे वा मयट्, चस्य कः कस्य ङः । गेयस्य—गा+यत्, 'ईद्यति' (६ । ४ । ६५) इति ईकारे ततो गुणः । विचित्रता—वि+चित्रता—वि+चित्र+तल् ।

हिन्दी—कुछ ही (अर्थात् परिमित सात) स्वरों से गुम्फित, गाने के समान परिमित (पचास या तिरसठ) अक्षरों से गुम्फित वाणी की विचित्रता अनन्त होती है । यह कैसा आश्चर्य है ?

टिप्पणी—जिस प्रकार निषाद आदि स्वरों के उतराव-चढ़ाव से उन्हीं अक्षरों से विभिन्न, विचित्र-विचित्र प्रकारके गाने बनाये जा सकते हैं, उसी प्रकार उन्हीं (पचास) वर्णों से विचित्र-विचित्र अर्थों वाले विभिन्न वाक्य बनाये जा सकते हैं । अर्थात् वाणी के विस्तार की कोई सीमा नहीं है ॥ ७२ ॥

पुनश्च हलधरवचनाक्षेपद्वारेण आत्मवचनस्य ग्राह्यत्वमाह—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—स्वेच्छया प्रकीर्णं बहु अपि कामम् अभिधीयते । अनुज्झितार्थ-सम्बन्धः प्रबन्धः (तु) दुरुदाहरः (एव) ।

बालबोधिनी—स्वेच्छया = स्वप्रतिभानुसारेण । प्रकीर्णं = असङ्गतम् । बहु अपि = अधिकमपि, विपुलमपि । कामं=यथेष्टम् । अभिधीयते=उच्यते । (किन्तु) अनुज्झितार्थसम्बन्धः = अपरित्यक्तपदार्थसङ्गतिः, परस्परं सङ्गतः । प्रबन्धः=सन्दर्भः । दुरुदाहरः=दुर्वच एव । उक्तं च—

वाक्संयमो मे नृपते ! सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितम् ॥

एतेन बलभद्रेण सङ्गतमेवोक्तमिति स्तुतिः, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते। अतो मया नीतिशास्त्रानुरूपमेवोच्यते इति भावः।

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरिता चेति ते समाः' इत्यमरः।

समासः—अर्थस्य सम्बन्धः अर्थसम्बन्धः, न उज्झितः अनुज्झितः, अनुज्झितः अर्थसम्बन्धो यस्मिन्नसौ अनुज्झितार्थसम्बन्धः (त० पु० गर्भ ब० व्री०)। स्वस्य इच्छा स्वेच्छा तया स्वेच्छया (त० पु०)। प्रबध्यते ग्रथ्यते इति प्रबन्धः। दुःखेन उदाह्रियते इति दुरुदाहरः।

व्याकरणम्—प्रबन्धः—प्र+बन्ध+अच्। अभिधीयते—अभि+धा+लट्–त। दुरुदाहरः—दुर्+उद्+आङ्+हृ+खल्।

हिन्दी—अपनी इच्छा या प्रतिभानुसार असम्बद्ध तो बहुत भी यथेच्छ रूप मे कहा जा सकता है; परन्तु पदार्थ की सङ्गति को न छोड़ने वाला सन्दर्भ (वचन) तो बड़ी कठिनाई से कहा जा सकता है।

टिप्पणी—उद्धवजी बलरामजी की तरफ व्यङ्ग्य करते हुए कहते हैं कि विषय से असम्बद्ध ऊटपटांग तो जो चाहे जितना बोल सकता है, जैसा कि अभी बलरामजी बोले हैं। परन्तु विषय से सम्बद्ध (नीतिशास्त्रानुकूल) भाषण करना अत्यन्त कठिन है। अर्थात् मेरा वचन नीतिशास्त्रानुकूल होगा, बलराम की तरह ऊटपटांग नहीं॥ ७३॥

पुनस्तदेव प्रकारान्तरेणाह—

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव॥ ७४॥

अन्वयः—कुशलाः म्रदीयसीम् अपि घनाम् अनल्पगुणकल्पिताम् चित्रां वाचं पटीम् इव प्रसारयन्ति।

बालबोधिनी—कुशलाः=वाक्-पटवः, निपुणवक्तारः। पटीपक्षे=कलाकुशलाः। म्रदीयसीं=सुकुमाराक्षराम्। पटीपक्षे—श्लक्ष्णतमाम्, अतिकोमलाम्। घनां=अतिकोमलाम्। घनां=अर्थगुर्वीम्, श्लिष्टाम्। (पटीपक्षे-) सान्द्राम्, निबिडसूत्राञ्च। अनल्पगुणकल्पिताम्=माधुर्यादिविपुलगुणगुम्फिताम्। (पटीपक्षे–) बहुतन्तु–विरचिताम्। चित्रां = शब्दादिविचित्राम्। पटीपक्षे—विचित्रवर्णाम्। वाचं = वाणीम्। पटीमिव = शाटीमिव। प्रसारयन्ति=विस्तारयन्ति, बहूकुर्वन्तीत्यर्थः। (पटीपक्षे) विस्तारयन्ति ... बलराम-

वचनमप्येवंविधमिति स्तुतिः; नैवं विधमिति निन्दा च गम्यते। श्लेषगर्भित-पूर्णोपमालङ्कारः।

कोशः—'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूदं इन्द्रिये। त्यागशौर्यादिसन्ध्या-द्यवृत्तिरज्जुषु। शुक्लादावपि बुद्ध्याञ्च' इति मेदिनी। 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः।

समासः—अतिशयेन मृद्वी म्रदीयसी तां म्रदीयसीम्। न अल्पाः अनल्पाः; अनल्पाश्च ते गुणाश्च अनल्पगुणाः, तैः कल्पिता—अनल्प-गुणकल्पिता, ताम्—अनल्पगुणकल्पिताम्।

व्याकरणम्—म्रदीयसीम्—मृदु + ईयसुन्, ऋकारस्य रेफादेशः। प्रसार-यन्ति—प्र + सृ + लट्—झि।

हिन्दी—कुशल (वक्ता, पक्षा०—कपड़ा बुनने वाले जुलाहे) अत्यन्त मृदु (कोमल अक्षरों वाली तथा सुनने में मधुर, पक्षा०-स्पर्श में कोमल तथा चिकनी) तथा सघन (अर्थगाम्भीर्य से भरी हुई, पक्षा०—गाढ़ी) तथा बहुत से गुणों (श्लेष, प्रसाद, माधुर्य, पक्षा०—धागों) से बनी हुई. एवं चित्र (रंग-बिरंगी—अनेक रंग वाली) साड़ी के समान, चित्र (गोमूत्रिका, मुरज, कमलादि बन्धों से अनेक प्रकार के शब्दवैचित्र्य से युक्त) वाणी को फैलाते (अर्थात् बोलते) हैं।

टिप्पणी—उद्धवजी का अभिप्राय है कि मेरी वाणी शब्दवैचित्र्य तथा अर्थगाम्भीर्यादि गुणों से परिपूर्ण होगी ॥ ७४ ॥

अथोद्धवः श्रीकृष्णस्य स्तुतिद्वारात्मौद्धत्यं परिहरति—

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

अन्वयः—विशेषविदुषः तव पुरः शास्त्रम् उद्ग्राह्यते (इति) यत् सा वक्तुः परिचयस्थैर्ये गुणनिका एव।

बालबोधिनी—विशेषविदुषः=विशेषज्ञस्य, विशेषपण्डितस्य। तव=भवतः, श्रीकृष्णस्य। पुरः = अग्रे। शास्त्रं = नीतिशास्त्रम्। उद्ग्राह्यते = उच्यते, उपन्यस्यते, इति यत्। सा = शास्त्रोपन्यासात्मिका, तदुद्ग्रहणमित्यर्थः। वक्तुः=उद्ग्राहयितुः, ममेत्यर्थः। परिचयस्थैर्ये = अभ्यासदार्ढ्ये, बोधप्रकर्षे। हेतुः=कारणम्। गुणनिकैव=आवृत्तिरेव, अभ्यास एव। न तु वैदुष्यप्रकट-नमिति भावः।

कोश:—'उद्ग्राहितमुपन्यस्तम्' इति वैजयन्ती । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । 'अभ्यासे गुणनी योग्या' इति त्रिकाण्डशेषः ।

समास:—विशेषं वेत्तीति विशेषविद्वान्, तस्य विशेषविदुषः । स्थिरस्य भावः स्थैर्यम्, परिचयस्य स्थैर्यं परिचयस्थैर्यम्, तस्मिन् परिचयस्थैर्ये (त० पु०) ।

व्याकरणम्—विदुषः—विद्+लट्+शतृ+वसुः । उद्ग्राह्यते—उद्+ग्रह+णिच्+त । गुणनिका गुणनी+स्वार्थे कन् । परिचयस्थैर्ये—परिचय+स्थिर+ष्यञ् ।

हिन्दी—(अब उद्धवजी अपनी नम्रता प्रकट करते हुए तथा कृष्णजी को अपने अनुकूल बनाते हुए कहते हैं—) विशिष्ट विद्वान् (या विशेषज्ञ) आपके सामने जो (मेरे द्वारा) राजनीतिशास्त्र उपस्थित किया जा रहा है, वह शास्त्रचर्चा वक्ता (अर्थात् मेरे) अभ्यास की दृढ़ता में कारणभूत आवृत्तिमात्र है । अर्थात् मैं अपने अभ्यास को दृढ़ बनाने के लिए ही आपके सामने राजनीति की चर्चा कर रहा हूँ, न कि अपनी विद्वत्ता प्रकट करने के लिए ॥ ७५ ॥

सम्प्रति स्वमतं दर्शयति—

प्रज्ञोत्साहवतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि ।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः ॥ ७६ ॥

अन्वय:—अतः स्वामी प्रज्ञोत्साहौ आत्मनि आधातुं यतेत । हि तौ उदेष्यन्त्याः जिगीषोः आत्मसम्पदः मूलम् ।

बालबोधिनी—अतः=अस्मात् कारणात् । स्वामी=प्रभुः, राजा । प्रज्ञोत्साहौ = मन्त्रोत्साहशक्ती, बुद्धिपराक्रमौ । आत्मनि=स्वस्मिन् । आधातुं= सम्पादयितुम् । यतेत = यत्नं कुर्यात्, स्वयमुभयशक्तिमान् भवेदित्यर्थः । हि= यतः । तौ = प्रज्ञोत्साहौ । उदेष्यन्त्याः = वर्त्स्यन्त्याः । जिगीषोः=विजिगीषोः, राज्ञः । द्वादशराजमण्डलीनाभिगतो राजा विजिगीषुः । आत्मसम्पदः= प्रभुशक्तेः । मूलम् = निदानम् । यथोत्साहस्तथा मन्दोऽपि ग्राह्यो, न केवल उत्साह इति बलभद्रमतखण्डनम् ।

कोश:—'उत्साहोऽध्यवसायः स्यात्' इत्यमरः । 'स्वामी प्रभुविशाखयो' इति विश्वः । 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धी प्रज्ञा शेमुषी मतिः' । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः' इत्यमरः ।

समास:—प्रकर्षेण जानाति अनयेति प्रज्ञा, चोत्साहश्चेति प्रज्ञोत्साहौ, तौ

(द्वन्द्वः)। आत्मनः सम्पत् आत्मसम्पत्, तस्याः आत्मसम्पदः (त० पु०)। जेतुमिच्छति जिगीषुः, तस्य जिगीषोः।

व्याकरणम्—स्वामी—'स्वामिन्नैश्वर्ये' (५। २। १२६) इति निपातः। जिगीषोः—जि + सन् + उः। यतेत—यत + लिङ् त।

हिन्दी—(अब उद्धवजी अपना मत प्रस्तुत करते हैं–) इसलिए (विजयाभिलाषी) राजा को अपने में बुद्धि तथा पराक्रम दोनों को ही सम्पादन करने (रखने) का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि ये दोनों (बुद्धि तथा उत्साह—पराक्रम) ही विजयाभिलाषी राजा की बढ़ती हुई आत्म-सम्पत्ति (प्रभुशक्ति) के प्रधान कारण हैं ॥ ७६ ॥

प्रज्ञायाः ग्राह्यत्वे प्रयोजनमाह—

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ये धीराः सोपधानां स्थेयसीं धियं खट्वयन्ति, ते तत्र निषण्णाः (सन्तः) जातु श्रमं न जानते।

बालबोधिनी—ये धीराः=धीमन्तः, स्थिरबुद्धिमन्तः। सोपधानां=सविशेषाम्, युक्तियुक्ताम्। (खट्वापक्षे–) सोपबर्हाम्, सगेन्दुकाम्' उच्छीर्षसहिताम्। स्थेयसीं=स्थिरतराम्, निश्चयात्मिकाम्, (खट्वापक्षे–) द्रढीयसीम्। धियं=बुद्धिम्। खट्वयन्ति=पर्यङ्कयन्ति, खट्वां कुर्वन्ति, आश्रयन्तीत्यर्थः। ते=धीराः। अत्र = धीखट्वायाम्। अनिशं = निरन्तरम्, अश्रान्तं च। निषण्णाः—कृतावस्थानाः सन्तः, विश्रान्ताः सन्तः। (खट्वापक्षे—) उपविष्टा सन्तः। जातु=कदाचिदपि। श्रमं = खेदम्। खट्वापक्षे—रत्यादिश्रमम्। न जानते = नावगच्छन्ति, न विन्दति। बुद्धिपूर्वक एवोत्साहो सेव्य न केवल इति, सर्वथा धीराश्रयणीयेति भावः। परिणामालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा कुवलयानन्दे—'परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना' इति।

कोशः—'उपधानं विशेषे स्याद् गेन्दुके प्रणयेऽपि च' इति विश्वः। शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः।

समासः—उपधानेन सहिता सोपधाना, ताम्–सोपधानाम्। खट्वामिवाचरन्ति खट्वयन्ति। न विद्यते निशा यस्मिन् तत्तथा अनिशम्।

व्याकरणम्—स्थेयसीम्—स्थिर + ईयसुन् + 'प्रियस्थिर–' (६।४।१५७)

इत्यादिना स्थादेशः, ततो ङीप्। खट्वयन्ति—खट्वा + णिच् + लट्-झि। जानते—ज्ञा + लट्-झ।

हिन्दी—जो बुद्धिमान् मनुष्य युक्तियुक्त (पक्षा०—तकिये से युक्त), अत्यन्त स्थिर (पक्षा०—मजबूत), बुद्धि की चार-पाई (खाट पलँग) के समान बनाते हैं, उस बुद्धिरूपी चारपाई पर बैठे हुए (उस बुद्धि पर आश्रित) वे लोग कभी थकान को नहीं जानते हैं।

टिप्पणी—जिस प्रकार तकियों से युक्त मजबूत चार-पाई पर बैठा हुआ मनुष्य थकता नहीं है, उसी प्रकार युक्तियुक्त एवं निश्चयात्मक बुद्धि के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति कभी असफल नहीं होने के कारण खिन्न नही होता है ॥ ७७ ॥

प्रज्ञाप्रज्ञयोर्भेदं दर्शयति—

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च।
बहुस्पृशाऽपि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तीक्ष्णाः शरवत् स्तोकं स्पृशन्ति, अन्तः च विशन्ति। बहु-स्पृशा अपि स्थूलेन अश्मवत् बहिः स्थीयते।

बालबोधिनी—तीक्ष्णाः = निशितप्रज्ञाः, तीक्ष्णबुद्धयः। शरवत्=शरेण तुल्यम्, बाणवत्। स्तोकं = स्वल्पमेव। स्पृशन्ति= लक्ष्यस्य स्पर्शं कुर्वन्ति। अन्तः=कार्यस्य चान्तरम्, पक्षान्तरे—शरीरस्याभ्यन्तरम्। विशन्ति=प्रविशन्ति। अल्पायासेन बहुकार्यं साधयन्तीत्यर्थः। बहुस्पृशाऽपि=विपुलं प्रदेशं स्पृशताऽपि। स्थूलेन = स्थूलबुद्धिना, मन्दमतिना, पक्षान्तरे—बृहता च। अश्मवत्=प्रस्तरवत्, बहिः = कार्यस्याकार्ये च बहिरेव, पक्षान्तरे—शरीरस्य बहिः प्रदेशे एव। स्थीयते=स्थितिः क्रियते। मूर्खेण महता प्रयत्नेनाऽऽपि कार्यसिद्धिः कर्तुं शक्यते इति भावः उपमालङ्कारः।

कोशः—'शरस्तु तेजने बाणे दध्यग्रे नाशरं जले' इति विश्वः। 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः। 'स्तोकाल्पक्षुल्लकाः' इत्यमरः।

समासः—बहु स्पृशतीति बहुस्पृक् तेन बहुस्पृशा। शरेण तुल्यं शरवत्, अश्मना तुल्यम् अश्मवत्।

व्याकरणम्—स्पृशन्ति—स्पृश् + लट्-झि। शरवत्—शर + वतिः, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) इति सूत्रेण वतिः। अश्मवत्—अश्मन् + वतिः पूर्ववत्।

हिन्दी—(अब उद्धवजी बुद्धिमान् तथा मूर्ख मनुष्यों में भेद दिखाते हैं–) तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनुष्य बाण की तरह (कार्य के बाहरी भाग का, पक्षान्तर में–शरीर के बाहरी भाग का) थोड़ा सा स्पर्श करते हैं और (कार्य के पक्षान्तर में—शरीर के) भीतर घुस जाते हैं। किन्तु मूर्ख मनुष्य पत्थर के समान बाहर बहुत स्पर्श करते हुए भी (कार्य के पक्षान्तर में—शरीर के) बाहर ही रह जाता है ॥ ७८ ॥

पुनस्तदेव प्रकारान्तरेणाह—

आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अज्ञाः अल्पम् एव आरभन्ते, कामं व्यग्राश्च भवन्ति कृतधियः महारम्भाः (भवन्ति) निराकुला, च तिष्ठन्ति।

बालबोधिनी—अज्ञाः=मूर्खाः, मन्दधियः। अल्पं=तुच्छम्, स्तोकम् एव। आरभन्ते=प्रक्रमन्ते। कामम्=अत्यन्तम्। व्यग्राश्च=व्याकुलाश्च। भवन्ति=जायन्ते। कार्यपारं न गच्छन्तीति भावः (किन्तु–) कृतधियः=शिक्षितबुद्धयः, शास्त्रज्ञाः। महारम्भाः=महोद्योगाः, भवन्ति। निराकुलाः=अव्यग्राश्च तिष्ठन्ति। कार्यस्य पारं गच्छन्तीति भावः।

कोशः—'व्यग्रो व्यासक्त आकुलः' इत्यमरः। 'अज्ञे मूढ यथाजातमूर्खवैधेय-बालिशाः' इत्यमरः।

समासः—जानन्तीति ज्ञाः, न ज्ञाः अज्ञाः। विगतम् अग्रं येषां ते व्यग्राः। आरभ्यन्ते इति आरम्भाः, महान्तः आरम्भाः येषां ते महारम्भाः (ब० व्री०)। कृता=शिक्षिता, शास्त्रेण वर्जिता वा धीर्येषां ते कृतधियः। आकुलेभ्यः निर्गताः निराकुलाः।

व्याकरणम्—आरभन्ते–आ+रभ+लट्–झ।

हिन्दी—मूर्ख लोग छोटा सा कार्य आरम्भ करते हैं और अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु सुशिक्षित बुद्धिवाले पुरुष बड़े-बड़े कार्यों को आरम्भ करते हैं तथा निराकुल (निश्चिन्त) रहते हैं (तथा कार्यों में सफलता को प्राप्त करते हैं) ॥ ७९ ॥

अथ बुद्धिमानपि न प्रमाद्येदित्याह—

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ ८० ॥

अन्वयः—उपायम् आस्थितस्य अपि प्रमाद्यतः अर्थाः नश्यन्ति । (तथाहि-) शयालुः मृगयुः उपशयस्थः अपि मृगान् न हन्ति ।

बालबोधिनी—उपायम् = सामाद्युपायम्, कार्यसाधनपद्धतिम् । आस्थितस्यापि=प्राप्तस्यापि । किमुत व्यग्नतयेति भावः । प्रमाद्यतः=अनवधानस्य, अनवहितस्य । अर्थाः=प्रयोजनानि, कार्याणि । नश्यन्ति=विघटन्ते, नाशमायान्ति (तथाहि-) शयालुः=निद्रालुः, अजागरूकः । मृगयुः=व्याधः । उपशयस्थोऽपि =मञ्चकस्थोऽपि, मृगमार्गे प्रच्छन्नस्थाने वर्तमानोऽपि । मृगान्=हरिणान् । न हन्ति = न मारयति, हन्तुं न शक्नोतीति भावः । अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । लक्षणन्तु प्रागेवोक्तम् ।

कोशः—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः' इत्यमरः ।

समासः—उपशेरतेऽस्मिन्निति उपशयः, उपशये तिष्ठतीति उपशयस्थः । शेते तच्छीलः शयालुः । मृगान् यातीति मृगयुः ।

व्याकरणम्—नश्यन्ति–नश्–लट्–झि । हन्ति–हन्+लट्–तिप् ।

हिन्दी—उपाय से कार्य करने वाले भी असावधान व्यक्ति के कार्य नष्ट हो जाते हैं (बिगड़ जाते हैं) ; क्योंकि सोने वाला शिकारी उपशय (मृगों के मार्ग में स्थित, व्याध के छिप कर रहने का गड्ढा) में उपस्थित रहता हुआ भी मृगों को नहीं मार पाता है ॥ ८० ॥

एवं प्रज्ञाया आवश्यकत्वमुक्त्वोत्साहस्याप्याह—

उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥

अन्वयः—जिगीषुः एकः द्वादशसु अपि राजसु (मध्ये,द्वादशसु) आदित्येषु दिनकृत् इव ईहाम् अत्यजन् उदेतुं कल्पते ।

बालबोधिनी—जिगीषुः=विजयेच्छुः । एकः=एक एव । द्वादशसु= द्वादशसङ्ख्यकेषु । राजसु=भूपेषु मध्ये । दिनकृदिव=दिनकरणे व्याप्रियमाण आदित्य इव । ईहाम्=उत्साहम् । अत्यजन्=अपरिहरन्, प्रयुञ्जान एव । न तु निरुद्योग इति भावः । उदेतुं=उदयाय । कल्पते=प्रभवति । उत्साहशक्तिः प्रभुशक्तेरपि मूलमिति भावः । 'नानालिङ्गत्वादृतूनां नानासूर्यत्वम्' इति श्रुतेः प्रतिमासादित्यभेदाद् द्वादशत्वम्, तच्चैकस्यैव द्वादशात्मकत्वात् 'द्वादशात्मा दिवाकरः' इत्यभिधानात् । ते च इन्द्रादयः । उक्तं च—

इन्द्रो धाता भगः पूषा मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा ।
अर्चिर्विवस्वांस्त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ॥

इति द्वादशादित्यानां नामानि । द्वादशराजानस्तु—१. अरिः; २. मित्रम्, ३. अरेर्मित्रम्, ४. मित्रमित्रम्, ५. अरिमित्रमित्रम् । इमे पञ्च पुरःसरा भवन्ति । ६. पार्ष्णिग्राहः, ७. आक्रन्दः, ८. पार्ष्णिग्राहासारः, ९. आक्रन्दासारः । १०. पार्ष्णिग्राहादयश्चत्वारो विजिगीषो पृष्ठतो भवन्ति । एवं मिलित्वा नव भवन्ति । विजिगीषुर्दशमः । ११. मध्यमः, १२. उदासीनः । एवं द्वादशराजानो वेदितव्याः। अत्र चेमे श्लोकाः—

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ।
तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः ॥ पञ्चेति शेषः ।
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ।
आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ॥ चत्वार इति शेषः ।
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः ।
अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे ॥
मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ।
अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः ॥

विजिगीषोर्नाभिस्थानीयराजचक्रस्य पार्ष्णिग्राहमिव यो गृह्णाति स पार्ष्णिग्राहः । तन्निरोधार्द्विजिगीषुसहायः आक्रन्दः । आक्रन्दविरोधाच्च पार्ष्णिग्राहासारः एतन्निरोधाच्च आक्रन्दासारः । एवंविधद्वादशराजमण्डलीमध्ये जिगीषुरेक एव भवति ।

कोशः—'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः । 'घस्रो दिनाहनी-वा क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः । 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षिताः' इत्यमरः 'सूरसूर्यर्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकराः । भास्कराहस्करब्रध्नप्रभाकरविभाकराः' इत्यमरः ।

समासः—त्यजतीति त्यजन्, न त्यजन् अत्यजन् । द्वौ च दश च द्वादश, तेषु द्वादशसु । जेतुमिच्छुः जिगीषुः । दिनं करोतीति दिनकृत् । अदितेः अपत्यानि पुमांसः आदित्याः, तेषु आदित्येषु ।

व्याकरणम्—जिगीषुः—जि+सन्+उः । दिनकृत–दिन+कृ+क्विप्, तल्लुक् । आदित्येषु–अदिति+ण्यः । उदेतुम्–उद्+इ+तुमुन् । कल्पते—कल्प+लट्–त ।

हिन्दी—विजय को चाहने वाला अकेला ही राजा बारह राजाओं के मध्य में उत्साह को न छोड़ता हुआ उसी प्रकार अभ्युदय को प्राप्त होता है, जैसे बारह सूर्यों में वही सूर्य उदय होता है जो कि दिन को करने वाला होता है।

टिप्पणी—उद्धवजी के कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आदित्य तो बारह हैं लेकिन उनमें से दिन को करने वाला उत्साह शक्ति से सम्पन्न सूर्य ही उदित होता है। इसी प्रकार राजा तो बारह प्रकार के होते हैं लेकिन उनमें से जो उत्साह शक्ति सम्पन्न विजिगीषु है वह एक ही अभ्युदय को प्राप्त होता है, अन्य ११ राजा नहीं। अत एव उत्साह शक्ति को प्राप्त करना भी परम आवश्यक है। यद्यपि प्रधानता मन्त्रशक्ति (बुद्धि-बल) की ही है। इसलिए हम लोगों को उत्साही तो होना ही चाहिए इसमें सन्देह नहीं है। द्वादश आदित्यों के नाम इस प्रकार हैं—धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु। जैसा कि पुराणों का वचन है—

धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः।
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते॥

इनमें से केवल एक ही सूर्य प्रतिदिन उदित होता है। शेष ११ आदित्य केवल प्रलय काल में ही उदित होते हैं ऐसी पुराणों की मान्यता है। वेणी-संहार में अश्वत्थामा की उक्ति भी इसी बात को प्रकट करती है—

'दग्धुं विश्वं दहनकिरणैर्नोदिता द्वादशार्काः' इति।

इसी प्रकार राजा भी बारह होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. शत्रु, २. मित्र, ३. शत्रु का मित्र, ४. मित्र का मित्र, ५. शत्रु के मित्र का मित्र ये पाँच राजा आगे चलने वाले होते हैं। ६. पार्ष्णिग्राह (अपने पीछे सहायता के लिए आने वाला), ७. आक्रन्द (शत्रु के पीछे सहायता के लिए आने वाला), ८. पार्ष्णिग्राहासार (सहायता करने लिए अपने अपने पक्ष में बुलाया हुआ), ९. आक्रन्दासार (सहायता करने के लिए शत्रु के पक्ष में बुलाया गया), ये चार विजय यात्रा में पीछे चलने वाले होते हैं। इस प्रकार ये सब मिलकर ९ हुए। दशवाँ विजिगीषु (स्वयं सबको जीतने की इच्छा रखने वाला), ग्यारहवाँ मध्यम (दोनों का समझौता कराने में समर्थ तथा उनकी बात न मानने पर दोनों के वध करने में समर्थ, अत एव स्वतन्त्र) होता

है। १२. उदासीन—(जिसे दोनों की परवाह न हो)। यह भी राजमण्डल से बाहर रहता है और स्वयं स्वतन्त्र तथा सबसे बली होता है ॥ ८१ ॥

अथ प्रमादप्रकारमाह—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः, चारेक्षणः; दूतमुखः (एवम्भूतः) पार्थिवः कोऽपि पुरुषः (अस्ति)।

बालबोधिनी—बुद्धिशस्त्रः=प्रज्ञायुधः। अन्यो हि आयुधेन जिघांसति स तु बुद्धयैवेति भावः। उक्तं च—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥

किञ्च—प्रकृत्यङ्गः=स्वाम्यादिप्रकृतिशरीरः। तद्वैकल्ये राज्ञो वैकल्यं स्यादित्यर्थः। अन्यस्य पाणिपादादीनि अङ्गानि भवन्ति, स तु तत्कर्म प्रकृतिभिरेव कुरुते। उक्तं च। मनुस्मृतौ—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥

अन्यच्च—

स्वामी जनपदोऽमात्यः कोशो दुर्गबलं सुहृत्।
राज्यं सप्तप्रकृत्यङ्गं नीतिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ इति।

अपरञ्च—घनसंवृतिकञ्चुकः=दुर्भेदमन्त्रगुप्तिकवचः। अन्यो हि अयोमयेन कवचेनात्मानं रक्षति, स तु मन्त्रगुप्त्यैवेति भावः। अन्यथा मन्त्रभेदे राज्यभेदादिति भावः। अपरं कीदृशः—चारेक्षणः=गुप्तचरनयनः। अन्यस्य स्वमुखे एव चक्षुषी भवतः स तु सर्वं चारेणैव पश्यति। उक्तं च—

गावः पश्यन्ति गन्धेन वेदैः पश्यन्ति वाडवाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ इति।

अन्यथा स्वपरमण्डलवृत्तान्तादर्शनात्, 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इति भावः। दूतमुखः=सन्देशहरवदनः, दूतास्यः। अन्यस्य हि शरीरलग्नं मुखं भवति, स तु मुखकार्यं भाषणादिकं दूतत एव कुरुते। अन्यथा मूकस्येव वाग्व्यवहारासिद्धौ तत्साध्यासाध्यप्रतिबन्धः स्यादिति भावः। (एवम्भूतः= ईदृशः)। पार्थिवः=राजा। कोऽपि=लोकविलक्षण एव। पुरुषः=पुमान्।

अस्तीति शेषः। अतो राज्ञा बुद्ध्यादि—सम्पन्नेन भवितव्यम्। एतदेवाऽप्रस्तुत्वम्। अन्यथा स्वरूपहानिः स्यादिति भावः। अत्र कोऽपीति राज्ञो लोकसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिः। सा च बुद्धिशस्त्र इत्यादिरूपकनिष्पन्नेति प्रधाना, रूपकश्च पोषक इत्यप्रधानः। एवमनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च राज्याङ्गानि प्रकृतयः' इत्यमरः। 'चारश्च गूढपुरुषः' इत्यमरः। 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' इत्यमरः। 'उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—शस्यते क्षिप्यते इति शस्त्रम्, बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य सः बुद्धिशस्त्रः (ब० व्री०)। प्रकृतय एवाङ्गानि यस्य सः प्रकृत्यङ्गः। घना चाऽसौ संवृतिश्च घनसंवृतिः (क० धा०), घनसंवृतिरेव कञ्चुकं यस्य सः घनसंवृतिकञ्चुकः (ब० व्री०)। चारा एव ईक्षणे यस्य सः चारेक्षणः (ब० व्री०)। दूता एव मुखं यस्य सः दूतमुखः।

व्याकरणम्—पार्थिवः—पृथिवी+'तस्येश्वरः' (५।१।४२) इत्यण् प्रत्ययः।

हिन्दी—बुद्धि ही जिसका शस्त्र है, स्वामी अमात्यादि प्रकृतियाँ ही जिसके अवयव हैं, मन्त्र को गुप्त रखना ही जिसका कवच है, गुप्तचर (खुफिया पुलिस–जासूस) ही जिसकी आँखें हैं और दूत ही जिसका मुख है, इस प्रकार का राजा कोई विलक्षण पुरुष ही होता है।

टिप्पणी—जिसकी बुद्धि ही शस्त्र है अर्थात् जो राजा शस्त्र बिना चलाये हुए ही अपनी बुद्धि के प्रयोग से ही शत्रुवधरूप कार्य को पूरा कर लेता है अन्य राजा की भाँति उसे अपनी रक्षा के लिए शस्त्रादि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरे शस्त्र प्रयोग में कार्य की सिद्धि में सन्देह हो सकता है अर्थात शस्त्र लक्ष्य से च्युत हो सकता है पर बुद्धि का प्रयोग कभी निष्फल नहीं होता है प्रकृति अर्थात् स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, किला और सेना ये सात अथवा–प्रजा (नागरिक-समूह) ही जिसके अङ्ग हैं। कोई राजा तो अपने हाथ-पैरादि अङ्गों से कार्य करता है, परन्तु यह तो प्रकृतियों से ही अपने सभी कार्य पूरे कर लेता है, क्योंकि इनके अभाव में तो राजसत्ता का ही अभाव हो जाता है। मन्त्र को गुप्त रखना ही जिसका कवच है। अर्थात् अन्य

तो लौहमय कवच धारण कर अपनी रक्षा करता है परन्तु वह तो गुप्तमन्त्रणा के अनुसार कार्य करके ही अपनी रक्षा करता है। अन्यथा मन्त्र के भेद होने से राज्य भेद हो सकता है। गुप्तचर ही जिसके नेत्र हैं, अर्थात् अन्य सामान्य राजादि तो अपने मुखमें स्थित नेत्रों से जहाँ तक नेत्र पहुँच सकते हैं देख सकता है। परन्तु वह तो गुप्तचरों द्वारा अपने तथा शत्रु के राष्ट्र की प्रत्येक बात को जान लेता है। अन्यथा गुप्तचरों के बिना उसे शत्रु के राष्ट्र की तो बात ही क्या अपने राष्ट्र के भी अनेक वृत्तान्त ज्ञात नहीं हो सकेंगे। दूत ही जिसका मुख है। अन्य राजादि तो भाषणादि कार्य अपने मुख से ही करता है. परन्तु विजिगीषु राजा तो अपने दूतों द्वारा सन्देश भेजता हैं। अन्यथा गूँगों के समान वाग्व्यवहार ही ठीक नहीं हो पायेगा। इन गुणों से युक्त ही कुशल शासक एव सर्वप्रिय राजा होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शस्त्रादि की अपेक्षा बुद्धि आदि से काम लेना ही राजा के लिए अधिक हितकर है ॥ ८२ ॥

अथ केवलं तेजःसमाश्रयणेन 'मा जीवन्निति' यदुक्तं तद्दूषयितुमाह—

> तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
> नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—कालज्ञस्य महीपतेः तेजः क्षमा वा एकान्तं न। (तथाहि—) रसभावविदः कवेः एकम् ओजः (एकः) प्रसादो वा न।

बालबोधिनी—कालज्ञस्य=समयज्ञस्य, अवसरविदः। महीपतेः=राज्ञः। तेजः=प्रतापः, क्षात्रमिति यावत्। क्षमा वा=क्षान्तिरेव वा, मार्दवमेव वा। एकान्तं=नितान्तम्, नियमेव। न=नैवाऽस्ति। किन्तु यथावसरमुभयमेवाश्रयणीयमिति भावः। (तथा हि) रसभावविदः—रसाः=शृङ्गारादयः, भावाः=निर्वेदादयः, तान् वेत्ति यः सः, तस्य, रसभावजानतः। क्वचिद् 'रसभावविदः, इत्यस्य स्थाने 'रसभागविदः' इति पाठान्तरम्। तत्र—रसाः=शृङ्गारादयः तेषां भागः=विषयः, तं वेत्तीति रसभागवित्, तस्य रसभागविदः। कवेः=कवितुः, काव्यकर्तुः। एकं=केवलम्। ओजः=प्रौढबन्धत्वम्। एकः=केवलः। प्रसादो वा=सुकुमार-बन्धत्वं वा। न=नैव भवति, न नियमितम्। किन्तु रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपादेयमिति भावः। अत्र 'रसभागविदः' इत्येव समुचितः पाठः, न तु रसभावविदः। रस्यते इति व्युत्पत्त्या रसपदेन भावस्यापि ग्रहणात् किञ्च भाव एव रसो भवति। किञ्च रसेष्वेव रीतयो विभक्ताः न तु भावेषु। ते च रसाः शृङ्गारादयः नव। तेषां नामानि साहित्यदर्पणे यथा—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्सोऽद्भुतेत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥ ३ । १८१ ॥ भावास्तु विभावानुभावसञ्चारिरूपः। विभावोऽपि द्विविध आलम्बनविभावः, उद्दीपनविभावश्च। अनुभावाः अपरिमिताः सञ्चारिणश्च निर्वेदादयः वक्ष्यमाणरूपाः त्रयस्त्रिंशद् भवन्ति। दृष्टान्तालङ्कारः।

कोशः—'तेजः दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः' इति मेदिनी। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये द्रवे रागे गुणे रसः' इत्यमरः। 'कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयः' इत्यमरः।

समासः—कालं जानातीति कालज्ञः, तस्य कालज्ञस्य (त० पु०) रसाश्च भावाश्च रसभावाः तान् वेत्तीति रसभाववित् तस्य रसभावविदः (द्वन्द्वगर्भ त० पु०)। मह्याः पतिः महीपतिः तस्य महीपतेः। एकः अन्तः यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा एकान्तम्।

व्याकरणम्—कालज्ञस्य–काल + ज्ञा + 'आतोऽनुपसर्गे कः, (३ । २ । ३) इति कप्रत्ययः। रसभावविदः—रस + भाव + विद् + क्विप्।

हिन्दी—समय (अवसर) को जानने वाले राजा के लिए प्रताप (बल प्रयोग) या शान्ति (मृदुता का प्रयोग) एकमात्र नहीं होते हैं (अर्थात् राजा सदा बल का ही प्रयोग करे या सदा मृदुता का ही प्रयोग करे ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि रस और भावों को जानने वाले कवि के लिए (सदा) केवल ओजगुण या केवल प्रसादगुण ही नहीं होता है। (किन्तु वह समय के अनुसार दोनों का ही आश्रय लेता है।)

टिप्पणी—जिस प्रकार रस भावादि के विषय को जानने वाला कवि, वीर रौद्रादि कठोर रसों में ओजगुणयुक्त कठोर रचना का प्रयोग करता है। वही कवि शृङ्गार–करुणादि कोमल रसों में प्रसाद गुणयुक्त कोमल रचना का प्रयोग करता है। इसी प्रकार राजा भी अवसर के अनुसार अर्थात् जहाँ बल प्रयोग की आवश्यकता है वहाँ बल प्रयोग करता है तथा जहाँ शान्ति की आवश्यकता है वहाँ शान्ति (मृदुता) का व्यवहार करता है। यदि राजा सदा तीक्ष्णता का व्यवहार करेगा तो लोग उससे उद्विग्न हो जायेंगे और सदा मृदुता का प्रयोग करेगा तो उसे लोग अपमानित करेंगे। अतः राजा को समयानुसार दोनों का ही प्रयोग करना चाहिए। इससे 'चतुर्थोपाय...' इत्यादि बलराम के मत का भी खण्डन हो गया।

यहाँ रस्यते = आस्वाद्यते इति रसः' इस रस की व्युत्पत्ति से रस पद से भावादि आठों लिये जाते हैं इसलिए मूल श्लोक में भावपद का प्रयोग निष्प्रयोजन होने से 'रसभावविदः' के स्थान पर 'रसभागविदः' पाठ समुचित है। रस नौ होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स; अद्‌भुत और शान्त। भाव तीन प्रकार के होते हैं—विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव। विभाव दो प्रकार के हैं—आलम्बन, विभाव तथा उद्दीपन विभाव अनुभाव असङ्ख्य हैं। सञ्चारीभाव निर्वेदादि ३३ हैं। इनके लक्षणादि यहाँ ग्रन्थ विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं। जिज्ञासु जन साहित्यदर्पणादि आकर ग्रन्थों से अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं॥ ८३॥

यदुक्तं 'क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः' (२।४३) इति तत्खण्डयितुमाह—

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा॥ ८४॥

अन्वयः—परैः कृतापचारः अपि अनाविष्कृतविक्रियः असाध्यः (सन्) गदः यथा काले प्राप्ते (सति) कोपं कुरुते।

बालबोधिनी—परैः = शत्रुभिः। कृतापचारोऽपि = विहितापकारोऽपि। गदपक्षे—विहितापथ्योऽपि। 'कृतापराधोऽपि' इति विहितद्रोहोऽपीत्यर्थः। गदपक्षे तु विहितापथ्योऽपीत्येवार्थः। अनाविष्कृतविक्रियः = अप्रकटितकोपः, अन्तर्गूढविकारः। (अत एव—) असाध्यः = अप्रतिसमाधेयः सन्, तदानीमप्रतिविधेयः सन्। गदो यथा = रोग इव। काले = अवसरे। शत्रुबलक्षयावसरे; शत्रुविपत्तिकाले स्वकीयवृद्धिसमये च। गदपक्षे—प्रकोपकाले बलक्षये च। प्राप्ते = समायाते सति। कोपम् = आक्रमणम्, विकारम्। कुरुते = करोति। प्रकुप्यतीत्यर्थः। उक्तं च—

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः।
तमेव चागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मना॥ इति॥

कोशः—'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' इत्यमरः।

व्याकरणम्—कुरुते—कृ + लट् + त।

हिन्दी—शत्रु के द्वारा अपमान करने पर अपने मनोविकार को नहीं प्रकट करने वाला बाद में असाध्य (अगम्य) होता हुआ (बुद्धिमान् पुरुष) समय

आने पर अर्थात् शत्रु की शक्ति क्षीण होने पर तथा अपनी शक्ति की वृद्धि होने पर उस प्रकार क्रोध करता है जैसे रोगी के अपथ्य सेवन करने पर भी विकार को नहीं प्रकट करने वाला (अन्त में) असाध्य होता हुआ, रोग, समय आने पर (रोगी की शक्ति क्षीण होने पर) कोप करता (रोगी को मार डालता) है ॥ ८४ ॥

किञ्चाऽकाले दारुणेन न भवितव्यमिति दर्शयितुमाह—

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान् प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाऽभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥

अन्वयः—मृदुव्यवहितं तेजः अर्थात् भोक्तुं प्रकल्पते (तथाहि–) प्रदीपः अभ्यन्तरस्थया दशया स्नेहम् आदत्ते ।

बालबोधिनी—मृदुव्यवहितं = मार्दवमिश्रम् । पक्षान्तरे–मृदुवस्त्वन्तर्हितम्। तेजः=शौर्यम्, प्रतापः । पक्षान्तरे–ज्योतिश्च । अर्थान्=पदार्थान्, राज्यादिभोगान् । पक्षान्तरे तैलादींश्च । भोक्तुं=अनुभवितुम, उपभोक्तुम् । पक्षान्तरे-दग्धुं च । प्रकल्पते=प्रभवति । (तथा हि–) प्रदीपः=दीपः । अभ्यन्तरस्थया=मध्यस्थया । दशया = वर्त्या । स्नेहं = तैलादिकम् । आदत्ते = गृह्णाति, उपभुङ्क्ते च । अन्यथा–स्वयमेव निर्वापादिति भावः । यतो हि शान्तिपूर्वमेव प्रतापः फलतीत्यतः प्रथमं सर्वथा क्षन्तव्यमेवेति भावः। उक्तं च—

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
एतद् बुद्ध्वा महाराज ! मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भव ॥

कोशः—'दीप. प्रदीपः' इत्यमरः । 'दशा वार्तावस्थायां स्नेहतैलादिके रसे' इति विश्वः ।

समासः—मृदुना व्यवहितं मृदुव्यवहितम् (त० पु०) । अभिगतम् अन्तरम्—अभ्यन्तरम्, अभ्यन्तरे तिष्ठतीति अभ्यन्तरस्था, तया–अभ्यन्तरस्थया (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अभ्यन्तरस्था—अभ्यन्तर + स्था + 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।२) इति कप्रत्ययः । प्रदीपः—प्र + दीप + पचादित्वादच् । भोक्तुम्—भुज् + तुमुन् । कल्पते–कल्प् + लट्–त 'कृपो रोलः' (८ । २ । १८) इति लत्वम् । आदत्ते—आ + दा + लट्–त ।

हिन्दी—शान्ति से युक्त प्रताप ही राज्यादि विषयों को भोगनेके लिए समर्थ हो सकता है। क्योंकि दीपक अपने भीतर स्थित बत्ती के द्वारा तैल को ग्रहण करता है ॥ ८५ ॥

तर्हि पौरुषेण किं प्रयोजनं शान्तिस्वभावस्य तु दैवमेव सर्वं विधास्यतीत्याशङ्क्याह—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—विद्वान् दैष्टिकतां न आलम्बते पौरुषे च न निषीदति (किन्तु—) सत्कविः शब्दार्थौ इव द्वयम् अपेक्षते।

बालबोधिनी—विद्वान्=अभिज्ञः, विपश्चित्। दैष्टिकतां=दैवप्रमाणकताम्, भाग्यवादिताम्। नालम्बते=नाश्रयते, न सेवते। (तथा च-) पौरुषे च= केवले पुरुषार्थे च। न=नैव। निषीदति=तिष्ठति। केवलमुद्योगमेव नाश्रयते। दैवप्रातिकूल्ये पुरुषार्थस्यापि वैफल्यादिति भावः। (किन्तु-) सत्कविः=श्रेष्ठकाव्यकर्ता। शब्दार्थौ=काव्यशरीरभूतौ शब्दतदभिधेयाविव। द्वयं=दैवं पौरुषं च। अपेक्षते=आश्रयते। तत्केवलेन पौरुषाश्रयेण चैद्यो न जेय इति भावः। अतः पौरुषमावश्यकमपि, परं समये एव कर्त्तव्यमिति भावः। उपमालङ्कारः।

कोशः—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः।

समासः—दिष्टे मतिर्यस्याऽसौ दैष्टिकः, तस्य भावः तत् ता ताम् दैष्टिकताम्। संश्चाऽसौ कविश्च सत्कविः (क० धा०) शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ तौ तथाभूतौ।

व्याकरणम्—दैष्टिकताम्—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४ । ४ । ६०) इति ठक्। पौरुषे—पुरुष+अण्। अपेक्षते—अप+ईक्ष+लट्—त। निषीदति—निषद्+लट्—तिप्—'पाघ्राध्मा–' (३ । १ । १३७) इति सीदादेशः।

हिन्दी—विद्वान् पुरुष केवल भाग्य पर ही आश्रित नहीं रहता है और न केवल पुरुषार्थ पर ही निर्भर रहता है। परन्तु जैसे श्रेष्ठ कवि (काव्यनिर्माणादि में) शब्द तथा अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है उसी प्रकार विद्वान् भी भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों का (समयानुसार आश्रय लेता है ॥ ८६ ॥

अथ शान्तेः फलमाह—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा ।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—रसस्य स्थायिनः एकस्यार्थे भूयांसः सञ्चारिणः भावाः यथा प्रवर्तन्ते तथा (स्थायिनः एकस्य) नेतुः (अर्थे भूयांसः) महीभृतः (प्रवर्तन्ते)।

बालबोधिनी—रसस्य=रसीभवतः । स्थायिनः=स्थायिभावस्य रत्यादेः। उक्तं च—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

एवं नव स्थायिभावाः । स्थायिभावस्य सामान्यलक्षणं यथा—

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽपि ते ॥ इति ।

एकस्यार्थे = रसतां गच्छतः एकस्यैव रत्यादेः स्वादुभावरूपे प्रयोजने। भूयांसः=विपुलः, प्रचुराः । सञ्चारिणः = व्यभिचारिणः । भावाः=निर्वेदादयः । विभावादीनामप्युपलक्षणमिदम् । सञ्चारिणां सामान्यलक्षणं यथा—

दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम् ।
ते तु सञ्चारिणो ज्ञेया न ते स्थायित्वमागताः ॥ इति ।

ते च निर्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशत् । उक्तं च काव्यप्रकाशे—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
त्रासश्च वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ इति ॥

यथा प्रवर्तन्ते=यथा प्रवृत्ता भवन्ति, यथा सहकारितां गच्छन्ति । तदुक्तम्—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥ इति ।

तथा=तथैव । स्थायिनः=स्थिरस्य । एकस्य=केवलस्य, शान्त्या काल प्रतीक्षमाणस्येत्यर्थः । नेतुः = नायकस्य, विजिगीषोः । अर्थे = प्रयोजने भूयांसः = अनेके । महीभृतः = राजानः । 'महीभुजः' इति पाठेऽपि समा

एवार्थः । प्रवर्तन्ते=चेष्टन्ते । तस्य कार्यं स्वयमेव साधयन्तीति भावः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः ।

समासः—तिष्ठतीति स्थायी, तस्य स्थायिनः । रस्यते इति रसः, तस्य रसस्य । महीं बिभ्रतीति महीभृतः (त० पु०) ।

व्याकरणम्—प्रवर्तन्ते—प्र + वृत् + लट्-झ । स्थायिनः—स्था + णिनिः; युक् । सञ्चारिणः—सम् + चर् + णिनिः । भूयांसः—बहु + ईयसुन् 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (६।४। १५८) इति ।

हिन्दी—जैसे रसता को प्राप्त होते हुए रत्यादि स्थायी भाव के शङ्कादि अनेक सञ्चारी भाव (तथा विभावादि) प्रवृत्त (उसके सहायक) होते हैं उसी प्रकार स्थिर रहने वाले (शान्तिपूर्वक समय की प्रतीक्षा करने वाले) एक विजयेच्छु राजा के भी (कार्यसाधन में) अन्य राजा लोग सहायक हो जाते हैं।

टिप्पणी—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त इन नौ रसों के क्रमशः—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय और शम ये नौ स्थायी भाव होते हैं । ये नौ स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के द्वारा पुष्ट होकर रसके रूप में परिणत हो जाते हैं । जैसे राम के हृदय में सीता को देखकर उत्पन्न रति स्थायी भाव है । सीता इस रति का आलम्बन विभाव है । एकान्त स्थान तथा चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव हैं । कटाक्ष, भ्रू-विक्षेप, चुम्बन आदि अनुभाव हैं । लज्जा एवं शङ्कादि सञ्चारी भाव हैं । इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से रस की अभिव्यक्ति होती है । सञ्चारी भावादि के लक्षण संस्कृत टीका में देखने चाहिए ।। ८७ ।।

शान्तिपक्षे गुणान्तरमाह—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधिष्ठिता ।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ।। ८८ ।।

अन्वयः—तन्त्रावापविदा योगैः मण्डलानि अधिष्ठिता नरेन्द्रेण शत्रवः फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः ।

बालबोधिनी—तन्त्रावापविदा = स्वराष्ट्रपरराष्ट्रचिन्ताकुशलेन, अथवा—स्वशक्त्युत्पत्तिविधानलक्षणं तन्त्रम्, परशक्तीनामात्मन्यध्यारोपणमावापः, तौ वेत्तीति तेन । विषवैद्यपक्षे—विषघ्नमणिमन्त्रौषधादिप्रयोगविदा, शास्त्रौषध-

प्रयोगज्ञेन । योगैः=सामाद्युपायैः, गूढपुरुषैर्वा । विषवैद्यपक्षे—देवताध्यानैः । मण्डलानि=स्वपरराष्ट्राणि । विषवैद्यपक्षे—वायव्यादीनि, माहेन्द्रगारुडादिदेवतायतनानि । अधिष्ठिता=आक्रमता । नरेन्द्रेण=विजिगीषुणा राज्ञा, विषवैद्येन च । शत्रवः=रिपवः । फणीन्द्रा इव=सर्पा इव । सुनिग्रहाः=सुखेन निग्रहीतुं शक्याः, सुखेन दमयितुं वशीकर्तुं च शक्याः । अत्र प्रकृताप्रकृतविषयः श्लेष इति मल्लिनाथाः । वस्तुतस्तु श्लेषगर्भितोपमैवेयम् ।

कोशः—'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने । शास्त्रौषधमुख्येषु तन्त्रम्' इति वैजयन्ती । 'योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' इति विश्वः ।

समासः—तन्त्रश्च आवापश्च तन्त्रावापौ, तौ वेत्तीति तन्त्रावापवित्, तेन तन्त्रावापविदा । फणाः सन्ति येषां ते फणिनः, फणिनामिन्द्राः फणीन्द्राः । नराणामिन्द्रः नरेन्द्रः तेन नरेन्द्रेण ।

व्याकरणम्—अधिष्ठिता—अधि + स्था + कर्तरि शतृ 'पाघ्राध्मा—' (७ । ३ । ७८) इति तिष्ठादेशः । मण्डलानि—'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१ । ४ । ४६) इत्यधिकरणे कर्मत्वेन द्वितीया । सुनिग्रहाः–सु + नि + ग्रह + 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (३ । ३ । १२६) इति खल् । नरेन्द्रेण 'नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२ । ३ । ६९) इति षष्ठी निषेधात्तृतीया ।

हिन्दी—तन्त्र (अपने राष्ट्र का चिन्तन, अपनी शक्ति को उत्पन्न करना) तथा आवाप (दूसरे के राष्ट्र का चिन्तन, दूसरे की शक्ति का अपने में अध्यारोप करना) इन दोनों को जानने वाला तथा योगों (सामादि उपायों या गुप्तचरों) के द्वारा अपने तथा दूसरे के राष्ट्र को अपने वश में करता हुआ राजा सरलता से शत्रुओं का दमन उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार तन्त्र (गारुडादिक शास्त्र) तथा आवाप (औषधप्रयोग या सर्षप आदि फेंककर सर्प के आकर्षण) को जानने वाला और योगों (देवता आदि के ध्यानों) से मण्डलों (माहेन्द्र, वायव्य आदि देवतायतनों) को आक्रान्त करता हुआ सपेरा सांपों को सरलता से वशीभूत कर लेता है ।

टिप्पणी—नरेन्द्र—नरेन्द्र शब्द के दो अर्थ हैं (१) राजा, (२) सपेरा ।

तन्त्र—(१) अपने राष्ट्र की सुरक्षा तथा समृद्धि का विचार करना तन्त्र कहलाता है, अथवा अपनी शक्ति को उत्पन्न करना भी तन्त्र कहलाता है । (२) सपेरे के पक्ष में—गारुड—वायव्यादि शास्त्रों को तन्त्र कहते हैं ।

आवाप—(१) दूसरे राष्ट्र में क्या-क्या हो रहा है तथा उसे अपने अधीन कैसे किया जा सकता है इस प्रकार का विचार करना आवाप कहलाता है, अथवा—शत्रु की शक्ति को किसी प्रकार (मन्त्री तथा शत्रुपक्षीय राजाओं में फूट डालकर) अपने में मिला लेना भी आवाप कहलाता है। (२) सपेरे के पक्ष में—औषध प्रयोग या सर्षप आदि फेंककर सर्पों को आकर्षित करना आवाप कहलाता है।

योग—(१) सामादि उपायों का नाम योग है। अथवा—गुप्तचरों को भी 'योग' कहते हैं। (२) सपेरे के पक्ष में—देवता आदि के ध्यान का नाम योग है।

मण्डल—(१) अपने राष्ट्र तथा शत्रु के राष्ट्र को मण्डल कहते हैं। (२) सपेरे के पक्ष में—वायव्यादि देवता आयतनों का नाम मण्डल है।

सुनिग्रहाः—सरलता से वश में करने योग्य। यहाँ सु तथा नि पूर्वक ग्रह धातु से कर्म में खल् प्रत्यय हुआ है, अतः 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२। ३। ६९) से षष्ठी का निषेध होकर 'नरेन्द्रेण' में तृतीया हुई है ॥८८॥

यदुक्तं 'तो हि मूलमुदेष्यन्त्याः' (२। ७६) इति तदेव व्यनक्ति—

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम्।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—उत्तुङ्गः प्रज्ञाबलबृहन्मूलः उत्साहपादपः करप्रचेयाम् प्रथीयसीं प्रभुशक्तिं फलति।

बालबोधिनी—उत्तुङ्गः=महोन्नतः; महाप्रभावः। प्रज्ञाबलबृहन्मूलः=मन्त्रशक्तिप्रधानमूलः। उत्साहपादपः=पराक्रमवृक्षः। करप्रचेयां=राजग्राह्यभागवर्द्धनीयाम्' हस्तग्राह्यां च। प्रथीयसीं=पृथुतराम्, विपुलाम्। प्रभुशक्तिं=प्रभावविशेषम्। फलति = प्रसूते, जनयति। मन्त्रसहितेनोद्यमेन प्रभुशक्तिर्जन्यते इति वाक्यार्थः। रूपकालङ्कारः।

कोशः—'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः' इत्यमरः। वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः। अनोकहः कुटः शालः पलाशीद्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः।

समासः—प्रज्ञाया: बलं प्रज्ञैव बलमिति वा प्रज्ञाबलम्, प्रज्ञाबलमेव बृहत् मूलं यस्याऽसौ प्रज्ञाबलबृहन्मूलः (ब० व्री०), अन्यत्र—प्रज्ञाबलमिव बृहत्

मूलं यस्य सः। उत्साहः पादपः इव उत्साहपादपः। अन्यत्र—उत्साह इव पादपः उत्साहपादपः। करेण प्रचेया करप्रचेया तां करप्रचेयाम्। प्रभोः शक्तिः प्रभुशक्तिः, ताम्—प्रभुशक्तिम्। अतिशयेन पृथ्वी प्रथीयसी, तां प्रथीयसीम्।

व्याकरणम्—प्रथीयसीम्–पृथु+ईयसुन् 'र ऋतोर्हलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इति रेफादेशः, ततो ङीप्। करप्रचेयाम्–कर+प्र+चि+'अचो यत्' (३।१।९७) इति यत् प्रत्ययः। फलति—फल+लट्–तिप्।

हिन्दी—श्रेष्ठ (पक्षान्तर में–ऊँचा) तथा बुद्धि-बल रूपी लम्बी जड़ वाला उत्साह-रूपी वृक्ष, कर (राजदेय-भाग-लगान, टैक्स) से बढ़ने वाली (पक्षा० फलकर अधिक नीचे झुकने के कारण हाथ से तोड़ने योग्य) बहुत बड़ी प्रभुशक्ति (कोष, चतुरङ्गिणी सेना आदि विशेष) को उत्पन्न करता है।

टिप्पणी—जैसे लम्बी जड़ वाला ऊँचा वृक्ष (अधिक फलों के भार से झुक जाने के कारण) हाथ से तोड़ने योग्य फलों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जिसका बुद्धिबल दृढ़ है उस प्रभावशली राजा का उत्साह, लगान (टैक्स) आदि से बढ़ी हुई प्रभुता को उत्पन्न करता है। अर्थात् बुद्धिपूर्वक पराक्रम करने वाले राजा के वश में अन्य राजा लोग शीघ्र ही हो जाते हैं, जिनके द्वारा दिये हुए कर (टैक्स) से राजा की प्रभुशक्ति (खजाना, सेनादि) बहुत बढ़ जाती है॥ ८९॥

विचारपूर्वकं कार्यकारिणोर्विजिगीषोर्विश्वमपि विधेयं स्यादिति श्लोकत्रयेणाह—

> तानल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः।
> विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम्॥ ९०॥

अन्वयः—अनल्पत्वात् प्रधानत्वात् वंशस्य इतरे स्वराः इव विजिगीषोः नृपतयः परिवारतां प्रयान्ति।

बालबोधिनी—अनल्पत्वात्=प्रज्ञोत्साहाधिकत्वात्, मन्त्रशक्त्युत्साहशक्तिप्रवृद्धत्वात्। स्वरपक्षे–उच्चैस्तरत्वात्, तारतरत्वाच्च। किञ्च–प्रधानत्वात्=मण्डलाधिष्ठातृत्वात्, राजमण्डलमुख्यत्वात्। स्वरपक्षे नायकस्वरत्वात्। वंशस्य=वंशवाद्यस्वरस्य। इतरे स्वराः=षड्जमध्यमधैवतादयः स्वराः। इव=यथा। क्वचिद् 'वंशस्य' इत्यस्य स्थाने 'अंशस्य' इत्यपि पाठस्तत्र अंशाभिधानस्वरस्य उदात्तस्वरस्य बहुलध्वनेरिति वार्थः। विजिगीषोः=नायकस्य राज्ञः। नृपतयः=अन्ये माण्डलिका एकादश-राजानः। परिवारतां=परिच्छदत्वम्, पोष्यताम्

मङ्गत्वमिति भावः । प्रयान्ति=गच्छन्ति । तत्कर्मकराः सम्पद्यन्ते । तस्माद् विचार्य कार्यं कर्त्तव्यम् । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'प्रधानं स्यान्महाऽमात्ये प्रकृतौ परमात्मनि । प्रज्ञायामपि च क्लावमेकत्वे तूत्तमे सदा' इति मेदिनी । 'स्वरः शब्देऽपि' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

समासः—न अल्पः अनल्पः, तस्य भावः अनल्पत्वम्, तस्मात्—अनल्पत्वात् । प्रधानस्य भावः प्रधानत्वम् तस्मात् प्रधानत्वात् । विजेतुमिच्छुः विजिगीषुः, तस्य विजिगीषोः । नृणां पतयः नृपतयः । परितः व्रियन्ते एभिरिति परिवाराः तेषां भावः परिवारता, तां परिवारतां ।

व्याकरणम्—विजिगीषोः—वि + जि + सन् 'सनाशंसभिक्ष उः' (३। २। १६८) इति उप्रत्ययः । परिवारताम्—परिवार+तल् । प्रयान्ति—प्र+या+लट्—झि ।

हिन्दी—प्रज्ञा तथा उत्साह के अधिक होने से तथा राजमण्डली में मुख्य होने से विजयार्थी राजा के अन्य राजा लोग उसी प्रकार परिवारता को प्राप्त होते हैं अर्थात् परिवार बनकर उसकी कार्यसिद्धि में सहायक होते हैं, जिस प्रकार अधिक ऊँचे स्वर तथा प्रधान होने से वंश नामक बाजे के स्वर के अन्य वीणा मृदङ्गादि के शब्द अनुगामी एवं उसके पोषक हो जाते हैं (अथवा पाठान्तर में—अंश नामक तत्काल विहित स्वर विशेष के अनुगामी एवं पोषक हो जाते हैं) ॥ ९० ॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः ।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—किञ्च—अनारम्भमाणस्य अपि विभोः परैः उत्पादिताः अर्थाः विहायसः शब्दा इव गुणतां व्रजन्ति ।

बालबोधिनी—किञ्च-अनारम्भमाणस्यापि=स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्यापि, उदासीनवदवस्थितस्यापि, निष्क्रियमाणस्यापि । उभयत्रापि विशेषणमिदं समानम् । विभोः=प्रभोः । गगनपक्षे—व्यापकस्य । परैः=अन्यैः राजभिः, गुप्तचराक्षिभिर्वा गगनपक्षे—शङ्खमृदङ्गभेर्यादिभिश्च । उत्पादिताः=सम्पादिताः । गगनपक्षे—जनिताः, अभिव्यक्ताः । अर्थाः=प्रयोजनानि । विहायसः=गगनस्य । शब्दा इव=ध्वनय इव । गुणतां=विशेषणताम् । व्रजन्ति=प्राप्नुवन्ति, गच्छन्ति उपमालङ्कारः ।

कोश:—'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। 'वियद्विष्णुपदं वातु पुंस्याकाशविहायसी। विहायसोऽपि नाकोऽपि द्युरपि स्यात्तदव्ययम्, इत्यमरः।

समासः—आरभते इत्यारभमाणः, न आरभमाणः अनारभमाणः, तस्य अनारभमाणस्य (नञ् त० पु०)। गुणस्य भावः गुणता, ताम्—गुणताम्।

व्याकरणम्—विभोः—विः + भू + कर्तरि डुः। उत्पादिताः—उत् + पद् + णिच् + कर्मणि क्तः। अनारम्भमाणस्य = नञ् + आ + रभ + कर्तरि शानच्। गुणताम्—गुण् + तल। व्रजन्ति—व्रज + लट्—झि।

हिन्दी—स्वयं क्रियाशून्य भी सर्वसमर्थ विजिगीषु राजा के दूसरे (अन्यान्य ग्यारह राजाओं या गुप्तचरादि) के द्वारा सम्पादित प्रयोजन उस प्रकार गुण बन जाते हैं जिस प्रकार स्वयं कुछ भी न करने वाले, व्यापक आकाश के दूसरे (पटह आदि वाद्य) के द्वारा उत्पन्न किये हुए शब्द गुण बन जाते हैं।

टिप्पणी—'शब्दगुणकमाकाशम्' शब्द आकाश का गुण है, इस नियम से नगाड़े आदि के द्वारा उत्पन्न शब्द, जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक एवं निष्क्रिय आकाशके स्वयं ही गुण बन जाते हैं, उसी प्रकार समर्थ राजा के स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी दूसरों के द्वारा साधित कार्य भी उसी राजा के कार्यरूप में कहे जाते हैं॥ ९१॥

किञ्च—

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते॥ ९२॥

अन्वयः—एकार्थतन्तुप्रोतायां यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम् अधिकद्युतिः नायकः नायकायते।

बालबोधिनी—एकार्थतन्तुप्रोतायां = एकप्रयोजनरूपसूत्रग्रथितायाम्। यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम् = अभिगम्यशत्रुपृष्ठानुधाव्यादिद्वादशराजमण्डलरूपमालायाम्। अधिकद्युतिः = उत्कृष्टतेजाः, महातेजाः। नायकः = शक्तिसम्पन्नो विजिगीषुः। नायकायते = मध्यमणिरिवाचरति। सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः। अत्र पूर्वार्द्धे रूपकम्। तच्च 'नायकायते' इत्युपमाया अङ्गमिति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'पार्ष्णिग्राहस्तु पृष्ठतः' इत्यमरः। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः।

समासः—एकश्चाऽसौ अर्थश्च एकार्थः, एकार्थ एव तन्तुः एकार्थतन्तुः। अन्यत्र—एकार्थ इव तन्तुः एकार्थतन्तुः एकार्थतन्तौ प्रोता एकार्थतन्तुप्रोता, तस्याम्—एकार्थतन्तुप्रोतायाम् (त० पु०)। यातव्यश्च पार्ष्णिग्राहश्च यातव्यपार्ष्णिग्राहौ (द्वन्द्वः), तौ आदी येषां ते यातव्यपार्ष्णिग्राहादयः (ब० व्री०), ते एव माला यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमाला, तस्याम् यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम्। अधिका द्युतिर्यस्यासौ—अधिकद्युतिः।

व्याकरणम्—प्रोतायाम्—प्रपूर्वाद् वेञः कर्मणि क्तः 'वचि स्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) इति सम्प्रसारणम्। नायकायते नायक+क्यङ्+लट्त 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) इति क्यङि, 'अकृतसार्वधातुकयोः' इति दीर्घः।

हिन्दी—एक प्रयोजनरूप धागेमें ग्रथित तथा यातव्य एवं पार्ष्णिग्राह आदि १२ प्रकार के राजाओं की मण्डलीरूप माला में अधिक तेजस्वी विजिगीषु राजा नायक (अर्थात् माला के मध्य में स्थित 'सुमेरु' नाम के बड़े दाने) के समान आचरण करता है। अर्थात् सब से अधिक शोभा पाता है, प्रधान होता है।

टिप्पणी—जैसे एक ही धागे में गुथी हुई माला में अन्य यातव्य (जिसे पकड़ा जाय वह मनका-माला का दाना) तथा पार्ष्णिग्राह (जिसे छोड़ दिया जाय वह माला का दाना) आदि के समूह में नायक (सुमेरु नामक मध्यमणि ही अधिक शोभा पाता है, उसी प्रकार (जिस पर चढ़ाई की जाय) तथा पार्ष्णिग्राह (पीछे रहने वाला राजा) आदि बारह प्रकार के राजाओं में विजिगीषु राजा (नायक) ही सबसे श्रेष्ठ होता है॥ ९२॥

विमृश्यकरणप्रकारमाह—

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम्।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च॥ ९३॥

अन्वयः—शक्त्यपेक्षः (सन्) षाड्गुण्यं रसायनम् उपयुञ्जीत, एवम् अस्य अङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च भवन्ति।

बालबोधिनी—शक्त्यपेक्षः=प्रभावोत्साहमन्त्ररूपशक्तित्रयमपेक्षमाणः सन्। रसायनपक्षे — बलमपेक्षमाणः सन्, बलमिच्छन्निति वा। 'शक्त्यपेक्षम्' इति पाठान्तरे — प्रभावादिशक्तित्रयस्यानतिक्रमेणेत्यर्थः। पक्षान्तरे—यथाबलम्। षाड्गुण्यम् = सन्धिविग्रहादिगुणषट्कम्। रसायनपक्षे—षड्गुणबलिजारितम्।

षड्गुणगन्धकजारितम्। रसायनम् = पृथिवी प्रापकम्, शास्त्रोक्तमार्गमित्यर्थः। पक्षान्तरे—चन्द्रोदयादिजराव्याधिनाशकमौषधम्। उपयुञ्जीत=सेवेत। आत्मसामर्थ्यं बुद्ध्वा य एव गुणो हितः सन्धिर्वा विग्रहादिर्वा स एवानुष्ठेय इति भावः। एवं=यथाबलं षाड्गुण्यरूपरसायनप्रयोगे सति। अस्य=प्रयोक्तुर्विजिगीषोः। पक्षान्तरे—बलाभिलाषिणः। अङ्गानि=प्रकृत्यादीनि सप्ताङ्गानि उक्तं च—

स्वामी जनपदोऽमात्यः कोशो दुर्गं बलं सुहृत्।
राज्यं सप्तप्रकृत्यङ्गं नीतिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ इति।

पक्षान्तरे—शरीरावयवाः। स्थास्नूनि=स्थिरतराणि, कालान्तरक्षमाणीत्यर्थः। पक्षे — आयाससहानि। बलवन्ति च = दृढानि, सामर्थ्यवन्ति च, परपीडाक्षमाणीत्यर्थः। भवन्ति = जायन्ते। उक्तं च किरातार्जुनीये (२।३३)

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः, कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ इति।

अत्र श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कारः।

कोशः—'शक्तिर्बले प्रभावदौ' इति विश्वः। 'रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिदौषधे' इति विश्वः। 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च' इत्यमरः।

समासः—शक्तिमपेक्षते इति शक्त्यपेक्षः (त० पु०)। षट् च ते गुणाः—षड्गुणाः—षड्गुणा एव षाड्गुण्यम्। पक्षान्तरे—षड्गुणाः यस्मिन् तत् षड्गुणम्, तदेव षाड्गुण्यम् तत्। अय्यते=प्राप्यते, अनेनेति अयनम्, रसायाः भुवः अयनं=प्रापकम् इति रसायनम्। पक्षान्तरे-रसानां रसरक्तादिसप्तधातूनां अयनम्=प्रापकम्, रसायनम्। प्रशस्तं बलमस्त्येषां तानि बलवन्ति। स्थातुं शीलं येषां तानि स्थास्नूनि।

व्याकरणम्—षाड्गुण्यम्–षड्गुण–'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' (४३३) इति वार्तिकेन स्वार्थे ष्यञ्। शक्त्यपेक्षः—शक्ति+अप+ईक्ष+'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) इति अच् प्रत्ययः। उपयुञ्जीत-उप+युज्+लिङ्+त। स्थास्नूनि—स्थाधातोः 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३।२।१३९) इति ग्स्नुः। बलवन्ति—बल+मतुप् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इति मस्य वः। भवन्ति—भू+लट्+झि।

हिन्दी—शक्ति (प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति तथा मन्त्रशक्ति, पक्षान्तर में बल=सामर्थ्य) की इच्छा करता हुआ, अथवा-अपनी शक्ति को समझकर

हुआ, यथा शक्ति (राजा, पक्षा० – सर्वसाधारण पुरुष), षड्गुण (सन्धि-विग्रह आदि छः गुण, पक्षा०–षड्गुणबलिजारित), रसायन (पृथिवी को प्राप्त कराने वाले मार्ग--शास्त्रोक्त मार्ग, पक्षा०--चन्द्रोदय, मकरध्वज, आदि रोग नाशक एवं आयुवर्धक औषध) का सेवन करे। इस प्रकार सेवन करने से इस (राजा, पक्षा०–औषधि सेवन करने वाले व्यक्ति) के अङ्ग (स्वामी, अमात्य आदि सात अङ्ग, पक्षा०–शरीर के हाथ-पैरादि अवयव) स्थिर तथा बलवान् हो जाते हैं।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई व्यक्ति बल की इच्छा करता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार चन्द्रोदय या सिद्धमकरध्वज आदि रोगनाशक एवं आयुवर्द्धक ओषधियों का यदि सेवन करे तो उसके हाथ-पैर आदि अङ्ग स्थिर एवं बलवान् हो जाते हैं, उसी प्रकार शक्ति को चाहने वाला राजा यदि अपनी प्रभावादि शक्तियों के अनुसार सन्धि-विग्रह आदि छः गुणों रूपी रसायन का उपयोग करता है तो उस राजा के स्वामी अमात्यादि सात अङ्ग स्थिर एवं बलवान् (शत्रु-पीडन में समर्थ) हो जाते हैं। यहाँ उद्धवजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी शक्ति को न समझता हुआ ही अपनी शक्ति से अधिक यदि रसायनों का अनुचित रूप से सेवन करता है तो वह रसायन उसे लाभ के स्थान पर हानि ही करेगी जिससे वह औषध सेवन करने वाला कभी बलवान् नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार ये बलरामजी अपनी तथा शत्रु की शक्ति को बिना समझे हुए ही जो शिशुपाल पर चढ़ाई की बात कह रहे हैं वह हमारे लिए हितकर नहीं है।

रसायन--रोग-नाशक तथा आयुवर्द्धक औषध को ही रसायन कहते हैं ॥९३॥

तदेवोज्ज्वलयति—

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम्।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स्थाने शमवताम् अङ्गिनां शक्त्या व्यायामे वृद्धिः, अयथाबलम् आरम्भः क्षयसम्पदः निदानम् (भवति)।

बालबोधिनी—(किञ्च–) स्थाने=शक्य-विषये, स्वशक्तिसाध्ये। 'स्थाने' इत्यव्ययं युक्तेऽर्थेऽपि वर्तते, तत्र--स्थाने=युक्तमित्यर्थः। शमवतां=क्षमावताम्, सन्धिगुणयुक्तानामिति वा। अङ्गिनां=स्वाम्यादिसप्ताङ्गवतां राज्ञाम् देहिनां च। शक्त्या = प्रभावोत्साहमन्त्राख्यशक्तित्रयानुसारेण, स्वबलानुसारेण च।

व्यायामे=षाड्गुण्यप्रयोगे, विग्रहे क्षति वा। पक्षे–शरीरायासे च। सतीत्यर्थः। वृद्धिः=राज्यवृद्धिः, शरीरवृद्धिश्च। भवतीति शेषः। अयथाबलम्=स्वशक्त्यतिक्रमेण। आरम्भः=षाड्गुण्यप्रयोगः, कार्यारम्भः। पक्षे=व्यायामः। क्षयसम्पदः=अङ्गानामत्यन्तहानेः, विनाशरूपसम्पत्तेः। पक्षे–क्षयरोगस्य। निदानम्=आदिकारणम्, प्रधानकारणम्। भवतीति शेषः। अत्र विशेषस्यापि श्लिष्टत्वाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः। अतो द्वयोरङ्गिनोरौपम्यं च गम्यते।

कोशः—'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः। 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

समासः—शमोऽस्ति येषां ते शमवन्तः, तेषां शमवताम् (ब० व्री०)। अङ्गानि सन्ति येषां ते अङ्गिनः, तेषाम्–अङ्गिनाम् (ब० व्री०)। बलमनतिक्रम्य यथाबलम्, न यथाबलम् अयथाबलम्। क्षयस्य सम्पत् क्षयसंम्पत्, तस्याः क्षयसम्पदः (त० पु०)।

व्याकरणम्—आरम्भः—आ + रभ + घञ्। शमवताम्–शम् + मतुप्–मस्य वः। निदानम्–नि + दा + ल्युट्। क्षयसम्पदः–क्षय + सम्–पत् + क्विप्। व्यायामे–वि + आ + यम + घञ्।

हिन्दी—उचित या साध्य विषय में क्षमाशील सप्ताङ्ग वाले राजा (पक्षा०–शरीरधारियों) की शक्ति (प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति तथा मन्त्रशक्ति पक्षान्तर में–शारीरिक शक्ति) के अनुसार व्यायाम (सन्धि आदि षड्गुणों का प्रयोग, पक्षा०–दण्ड-बैठक और कसरत) करने पर (राजशक्ति, पक्षा०–शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है, परन्तु बल के विपरीत अर्थात् शक्ति से अधिक आरम्भ (षड्गुणों का प्रयोग, पक्षा०–व्यायाम) करना हानि (राजशक्ति क्षय, पक्षा०–क्षयरोग) का कारण होता है।

टिप्पणी—उद्धवजी के कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय बलराम जो शिशुपाल पर चढ़ाई करने की बात बिना सोचे-समझे कह रहे हैं वह हमारे लिए हितकर नहीं है ॥ ९४ ॥

निष्कर्षमाह—

> तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा।
> निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव ॥ ९५ ॥

अन्वयः—तत् तं चेदीनाम् ईशितारं भवान् माऽवमंस्त। य उदात्तः स्वरान् इव अरीन् एकपदे निहन्ति।

बालबोधिनी—तत्=तस्मात् कारणात् । अशक्यार्थस्य सहसा कर्तुमयोग्यत्वात् तं = लोकप्रसिद्धम् । चेदीनां=चेदिदेशानाम् । ईशितारं=शासकम्, शिशुपालमित्यर्थः । भवान्=त्वम् । माऽवमंस्त=नावमन्यस्व । यः = शिशुपालः । उदात्तः=उदात्तनामकः स्वरः । महाबलः सन् इति च । स्वरान्=अनुदात्तादीन् । इव=यथा । अरीन्=शत्रून् । एकपदे=एकस्मिन्नेवाक्रमणे, सुप्तिङन्तलक्षणे एकस्मिन् पदे च । निहन्ति=हिनस्ति, नीचैः करोति च. 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५८) इति स्वरविधिविषयकपरिभाषासूत्रेण-यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यादिति, एकपदे उदात्तेन सर्वेषां निघातो भवतीति वैयाकरणसमयप्रसिद्धम् । तस्माद्राभसिकतया चैद्यो नावस्कन्द्य इति भावः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'ईश्वरः पतिरीशिता' इत्यमरः । 'उदात्ताद्यास्त्रयः स्वराः' इत्यमरः। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः ।

समासः—एकञ्च तत् पदञ्च एकपदम्, तस्मिन्–एकपदे ।

व्याकरणम्—अवमंस्त–अव + मन् + लुङ्–त । ईशितारम्—ईश् + कर्तरि तृच् । निहन्ति–नि + हन् + लट्–तिप् ।

हिन्दी—उद्धव जी अब सबका निष्कर्ष बताते हैं (क्योंकि बिना सोचे-समझे किया हुआ कार्य महान् हानि-जनक होता है) इस कारण से आप, चेदि देश के राजा शिशुपाल का (उसके साथ युद्ध ठानकर) अपमान न करें., जो शिशुपाल एक ही आक्रमण में शत्रुओं को उसी तरह मार डालता है, जैसे—एक ही सुबन्त या तिङन्त रूप पद में उदात्त स्वर अन्य अनुदात्तादि स्वरों को मारता–अर्थात् बाधित करता है ।। ९५ ।।

अयं शिशुपाल एकाकी किं नः करिष्यतीति न मन्तव्यमित्याह—

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ।। ९६ ।।

अन्वयः—असौ चेदिराट् एकः (अतो) जेतव्यः इति मा वेदि यत् स राजयक्ष्मा रोगाणाम् इव महीभृतां समूहः ।

बालबोधिनी—असौ=एषः । चेदिराट्=शिशुपालः । एकः=एकाकी, असहायोऽस्ति । (अतः–) जेतव्यः=अस्माभिः सुखेन जेतुं शक्यः । इति=इत्थम् । मा वेदि=मा ज्ञायि । इति न ज्ञातव्यमित्यर्थः । यत्=यस्मात् । सः = चेदिराट् । राजयक्ष्मा = क्षयरोगः । रोगाणां = व्याधीनाम् । इव=

यथा। महीभृतां=नृपाणाम्। समूहः = समष्टिरूपः, सङ्घरूपः। असं
शेषः। यथाह वाग्भटः—

अनेकरोगानुगतः बहुरोगपुरोगमः।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च च स्मृतः॥
नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः॥
—(नि० स्था० अ० ५)। इति

अतो दुर्जेय इति भावः। एतेन 'चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोष
(२। ६०) इत्यपास्तम्। उपमालङ्कारः।

कोशः—'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृ
भूपमहीक्षितः' इत्यमरः।

समासः—चेदिषु राजते इति चेदिराट्, चेदीनां राडिति वा चेदिराट्
राज्ञः=चन्द्रस्य, यक्ष्मा राजयक्ष्मा, अथवा राजा चाऽसौ यक्ष्मा चेति रा
यक्ष्मा (कर्मधारयः)।

व्याकरणम्—जेतव्यः–जि+तव्यत्। चेदिराट्—चेदि+राज+क्विप्
मा वेदि–मा+विद+लुङ–त।

हिन्दी—वह चेदि देश का राजा शिशुपाल अकेला है, (अतः उसे
जीतना सरल है यह न समझें। क्योंकि जिस प्रकार राजयक्ष्मा रोगों
समूह है, उसी प्रकार वह (भी) राजाओं का समूह है।

टिप्पणी—जिस प्रकार रोग को राजयक्ष्मा होने पर उसे श्वास, का
अतिसार, वमन, ज्वरादि अनेक रोग उत्पन्न हो जाने से वह असाध्य
जाता है, उसी प्रकार शिशुपाल पर चढ़ाई करने से हमारे विरुद्ध शा
रुक्मी आदि अनेक राजा शिशुपाल के सहायक हो जायेंगे। ऐसी अवस्था
उस शिशुपाल को जीतना अत्यन्त कठिन होगा॥ ९६॥

अथ शिशुपालस्य निखिलराजसमष्टितां द्वाभ्यामाह—

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति॥ ९७॥

अन्वयः—सम्पादितफलः सपक्षः परभेदनः बाणः गुणिना तेन कार्मु
इव सन्धानम् एष्यति।

बालबोधिनी—सम्पादितफलः=प्राप्तकामः, कृतकृत्यः, कृतोपकारः,

चैद्येन दत्तगजाश्वप्रदेशः, प्राप्तत्राणश्च। सपक्षः=समित्रः, कङ्कादिपत्रयुक्तश्च। परभेदनः = शत्रुभेदकः, रिपुविदारणः। क्वचित् 'परभेदनः' इत्यस्य स्थाने 'परभेदतः' इति पाठान्तरम्, तत्र-परभेदादित्यर्थः। परभेदेनैव सम्पादितं प्रयोजनं यस्येति भावः। बाणः=बाणासुरः, शरश्च। गुणिना=शौर्यादिगुणशालिना मौर्वीवता च। तेन=चैद्येन। कार्मुकेण=धनुषा। इव=यथा। सन्धानं=सन्धिम्, मित्रताम् संयोगं च। एष्यति=प्राप्स्यति। अतो न चैद्य एकाकीति भावः। उपमालङ्कारः। अपरे तु श्लेषमत्र वदन्ति।

कोशः—'फलं लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः।

समासः—सम्पादितं फलं यस्य सः सम्पादितफलः (ब० व्री०)। पक्षेण सह वर्तमानः सपक्षः। भिदन्तीति भेदनः, परेषां भेदनः परभेदः (त० पु०)। गुणोऽस्यास्तीति गुणी, तेन गुणिना। कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम्, तेन कार्मुकेण।

व्याकरणम्—कार्मुकेण कर्मन् + 'कर्मणि उकञ्' (५।१।१०३) इति उकञ्। सन्धानम्-सम् + धा + ल्युट्। एष्यति-इण् + लृट् + स्य + तिप्।

हिन्दी—जैसे फल (लोहे की बनी हुई पैनी नोंक=बाण का अगला भाग से युक्त तथा कङ्क पक्षी के पङ्ख से युक्त, शत्रुओं को ध्वंस करने वाला बाण प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष के साथ संयोग को प्राप्त करता है, वैसे ही जिसका (शिशुपाल ने पहले हाथी, घोड़े, प्रदेश आदि देकर अनेक रूप से) उपकार किया है, वह शत्रुओं को नष्ट करने वाला बाणासुर अपने मित्रों सहित, उस शौर्यादि गुणों से युक्त शिशुपाल से मिल जायगा (इसलिए शिशुपाल को अकेला समझकर पराजित होने वाला न समझिये)॥ ९७॥

किञ्च—

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः।
तमः स्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः॥ ९८॥

अन्वयः—ये च अन्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः तमः-स्वभावाः ते अपि प्रदोषम् एनम् अनुयायिनः।

बालबोधिनी—ये चान्ये=इतो भिन्नाः। कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः=कालयवनादिनामकाः प्रसिद्धाः राजानः। तमः स्वभावाः=तामसाः, क्रोधप्रकृतयः, अन्धकारस्वभावाश्च। सन्तीति शेषः। तेऽपि=सर्वेऽपि ते। प्रदोषं=प्रकृष्टदोषम्, अन्यत्र-रात्रिमुखं च। एनं=शिशुपालम्। अनुयायिनः=अनुगामिनः,

अनुयास्यन्ति । सदृशाः सदृशैर्युज्यन्त एवेति भावः । अत्र वस्तुना, यथा तमो रजनीमुखमनुगच्छति तथा कालयवनादयोऽपि राजान एनं शिशुपालमनुयास्यन्तीत्युपमालङ्कारो व्यज्यते ।

कोशः—'प्रदोषौ दुष्टरात्र्यंशौ' इति वैजयन्ती । 'राहौ ध्वान्ते गुणे तमः' इत्यमरः ।

समासः—कालयवनश्च शाल्वश्च रुक्मी च द्रुमश्चेति कालयवनरुक्मिद्रुमाः ते आदिर्येषां ते कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः (द्वन्द्वगर्भ ब० व्री०)। प्रकृष्टो दोषः यस्य यत्र वा स प्रदोषः, तं प्रदोषम् । अनुयास्यन्तीति अनुयायिनः ।

व्याकरणम्—प्रदोषम्–प्र+दुष्+घञ् । अनुयायिनः–अनु+या+'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) इति भविष्यदर्थे णिनिः । एनम्—'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' (२।३।७०) इति षष्ठीनिषेधाद् द्वितीया ।

हिन्दी—और जो कालयवन, शाल्व, रुक्मी तथा द्रुम आदि तामसिक प्रकृति वाले राजा लोग हैं, वे भी अधिक दोष युक्त उस शिशुपाल का उसी प्रकार अनुगमन करेंगे (अर्थात् उसके सहायक होकर हमारे विरुद्ध लड़ेंगे) जिस प्रकार अन्धकार सायंकाल का अनुसरण करता है ।

टिप्पणी—कालयवन—यह यवनों का राजा बड़ा पराक्रमी तथा अजेय था । कृष्ण से इसकी घोर शत्रुता थी । श्रीकृष्ण ने इसे दुर्जेय समझकर इसको मारने के लिए छल एवं चतुराई से काम लिया । वे कालयवन से जब युद्ध कर रहे थे तो युद्ध करते-करते एकदम संग्राम स्थल से भागने लगे । वे भागते-भागते उस गुफा में पहुँचे जहाँ तपःश्रान्त मुचुकुन्द सोये हुए थे । कालयवन भी उनके पीछे दौड़ता हुआ उसी गुफा में घुसा । कृष्ण तो पहले ही छिप गये थे, अतः कालयवन ने सोये हुए मुचुकुन्द को ही भूल से कृष्ण समझकर लात मारी । इससे मुचुकुन्द जग गये और जैसे ही उनकी दृष्टि कालयवन पर पड़ी कि तुरन्त कालयवन भस्म हो गया । क्योंकि मुचुकुन्द ने यह वर माँगा था कि जो मुझे सोते हुए को जगाये वह मेरे देखते ही भस्म हो जाय ।

शाल्व—यह शाल्व देश का राजा शिशुपाल का परम मित्र था । अतः रुक्मिणीहरणके समय से यह भी कृष्ण का शत्रु हो गया था । यह बड़ा मायावी था । इसने एक बार कृष्ण के ही सामने अपनी माया से वसुदेव बनाकर उनका सिर काट डाला । बाद में कृष्ण ने इसकी माया को नष्ट कर दिया ।

रुक्मी—यह रुक्मिणी का बड़ा भाई था जो कि अपनी बहिन रुक्मिणी को

विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहता था किन्तु कृष्ण ने बीच में ही रुक्मिणी के इच्छानुसार उसका हरण कर लिया। तभी से रुक्मी उनसे द्वेष करने लगा ॥ ९८ ॥

ननु बाणादयोऽस्माभिर्विहितसन्धयो न सम्प्रति विराध्यन्तीत्यत आह—

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि ।
आशु दीपयिताल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानलः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तेन कृतः अल्पः अपि उपजापः त्वयि आकोपवतः तान् अनिलः साऽग्नीन् एधान् इव आशु दीपयिता ।

बालबोधिनी—तेन = चैद्येन । कृतः = विहितः । अल्पोऽपि = स्वल्पोऽपि । उपजापः = भेदः, प्रपञ्चः । त्वयि = भवति आकोपवतः = सक्रोधान् । तान् = पूर्वोक्तान् बाणादीन् । अनिलः = वायुः । साग्नीन् = सवैश्वानरान्, अग्नियुक्तान् । एधान् = काष्ठानि । इव = यथा । आशु = शीघ्रम् । दीपयिता = क्षोभयिष्यति, प्रज्वलयिष्यति । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः । 'स्तोकाल्पक्षुल्लकाः' इत्यमरः । 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः । काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—आ समन्तात् कोपः आकोपः, आकोपः अस्ति एषां ते आकोपवन्तः तान् आकोपवतः । अग्निना सह वर्तमानाः साग्नयः तान् साग्नीन् । इन्ध्यन्ते अग्नयो यैस्ते एधाः, तान् एधान् ।

व्याकरणम्—आकोपवतः—आ + कोप + मतुप् । एधान्—आ + इन्ध + कः नलोपः । उपजापः—उप + जप + घञ् । कृतः—कृञ् + क्तः । दीपयिता—दीप् + णिच् + लुट्—तिप् ।

हिन्दी—हम लोगोंके साथ सन्धि किये हुए बाणासुरादि भी हमारे विरोधी हो जायेंगे यह कहते हैं—) उस शिशुपाल के द्वारा किया हुआ थोड़ा सा भी भेद, तुम्हारे विषय में पहले से ही क्रुद्ध उन बाणासुरादि को इस तरह से (तुम्हारे विरुद्ध) भड़का देगा जैसे कि अग्नियुक्त लकड़ियों को थोड़ा ही वायु प्रज्वलित कर देता है (अतः अभी शिशुपाल पर आक्रमण करने का समय नहीं है) ॥ ९९ ॥

ततः किं भवेदत आह—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

अन्वयः—बृहत्सहायः क्षोदीयान् अपि कार्यान्तं गच्छति, नगापगा महानद्या सम्भूय अम्भोधिम् अभ्येति।

बालबोधिनी— बृहत्सहायः=महासहायवान्। क्षोदीयानपि=क्षुद्रतरोऽपि। कार्यान्तं=कार्यपारम्। गच्छति=प्रयाति, प्राप्नोति। (तथाहि—) नगापगा=गिरि नदी। महानद्या=विस्ताराधिकया सागरगामिन्या गङ्गादिकया सरिता सह। सम्भूय=मिलित्वा। अम्भोधिं=सागरम्। अभ्येति=गच्छति, प्राप्नोति। अन्येन मिलित्वा यदि क्षुद्रस्यापि तादृशी शक्तिर्भवति तर्हि बलवतः चैद्यस्य शक्तेस्तु वार्तैव केति भावः। अत्र विशेषेण सामामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः। 'अथ च नदी सरित् तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी। स्रोतस्विनी द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्यमरः।

समासः—सह इति अयते वेति सहायः, बृहत् सहायो यस्य सः बृहत्सहायः (ब० व्री०)। कार्यस्यान्तः कार्यान्तः, तं कार्यान्तम् (त० पु०)। अतिशयेन क्षुद्रः क्षोदीयान्। अपां समूहः आपम्, आपेन सह गच्छतीति आपगा नगस्य आपगा नगापगा (त० पु०)। अम्भांसि धीयन्ते अस्मिन् इति अम्भोधिः, तम्-अम्भोधिम्। महती चाऽसौ नदी महानदी, तया महानद्या।

व्याकरणम्—सम्भूय–सम्+भू+क्त्वा–ल्यप्। गच्छति–गम्+लट्–तिप्। क्षोदीयान्–क्षुद्+ईयसुन्। अभ्येति अभि+इण्+लट्—तिप्।

हिन्दी—बड़े सहायकों वाला अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति भी कार्य के पार (अन्त) पहुँच जाता है अर्थात् अपना कार्य सिद्ध कर लेता है। जैसे कि (छोटी सी) पहाड़ी नदी (किसी गङ्गादि) बड़ी नदी से मिलकर समुद्र में पहुँच जाती है।

टिप्पणी—उद्धवजी के कहने का तात्पर्य यह है कि जब क्षुद्र वस्तु भी बड़ों की सहायता से अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है, तब महाबली शिशुपाल जैसा राजा बड़े-बड़े राजाओं की सहायता प्राप्त करके हमारे विरुद्ध कैसे सफल नहीं हो जायगा। अतः उसे इस समय जीतना सरल नहीं है॥ १००॥

किञ्चैवं सकलराजमण्डले युद्धवातावरणं समुत्पन्नं स्यादिति दर्शयितुमाह—

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः।
अभियुक्तं त्वयैनं गन्तारस्त्वामतः परे॥ १०१॥

अन्वयः—ये च तस्य मित्राणि नृपाः ये च अमित्राः नृपा ते उभये त्वया अभियुक्तम् एनं गन्तारः अतः परे त्वां (गन्तारः) ।

बालबोधिनी—ये च=यावन्त । तस्य=शिशुपालस्य । मित्राणि नृपाः= सुहृदो राजानः । ये च=यावन्तश्च । ते=तव । अमित्राः नृपाः=शत्रवो नृपाः । ते उभये=द्वयेऽपि ते राजानः । त्वया=भवता । अभियुक्तं= आक्रान्तम्, अभियातम् । एनं=चैद्यम्, शिशुपालम् । गन्तारः=अनुगमिष्यन्ति । अतः=एभ्यः । परे=भिन्नाः, तव मित्राणि, तस्यामित्राश्चेत्यर्थः । त्वां=भवन्तम् । गन्तारः=अनुयातारः, अनुगमिष्यन्ति । एवं च सर्वत्र समुत्पन्ने युद्धवातावरणे सकलं राजमण्डलं युद्धे एव संलग्नं स्यादनेन च युधिष्ठिरस्य यज्ञस्य तु ध्वंस एव भवेदित्येको भावः । न तवाधिका सहायसम्पदिति च द्वितीयः ।

कोशः—'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः । 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः ।

समासः—न मित्राणि अमित्राः । नॄन् पान्तीति नृपाः ।

व्याकरणम्—नृ+पा×'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । अभियुक्तम्—अभि+युज्+क्तः । गन्तारः-गम्+कर्तरि लुट्–झि ।

हिन्दी—जो उस शिशुपाल के मित्र तथा तुम्हारे शत्रु राजा हैं, वे सभी तुम्हारे चढ़ाई करने पर शिशुपाल की सहायता करेंगे । इनसे भिन्न राजा लोग अर्थात् तुम्हारे मित्र तथा शिशुपाल के शत्रु तुम्हारा साथ देंगे ।

टिप्पणी—यहाँ उद्धव जी के कथन से दो भाव अभिव्यक्त होते हैं—एक तो यह कि तुम्हारे शिशुपाल पर चढ़ाई से सम्पूर्ण राजाओं के युद्ध में लग जाने से युधिष्ठिर के यज्ञ में राजा लोग सम्मिलित नहीं हो सकेंगे, इससे यज्ञ में बड़ा विघ्न उपस्थित होगा । दूसरा यह कि आपको यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे सहायक अधिक राजा लोग हैं, शिशुपाल के नहीं । किन्तु वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि इस समय शिशुपाल के ही सहायक राजा लोग अधिक हैं, न कि आपके । अतः इस समय शिशुपाल पर चढ़ाई करना ठीक नहीं है ।। १०१ ।।

ततः किं स्यादित्याह—

मखविघ्नाय सकलमित्यमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त ? जातमजातारेः प्रथमेन त्वयाऽरिणा ।। १०२ ।।

अन्वयः—इत्थं मखविघ्नाय सकलं राजकम् उत्थाप्य हन्त ? अजातारेः त्वया प्रथमेन अरिणा जातम् ।

बालबोधिनी—इत्थम्=अनेन प्रकारेण। मखविघ्नाय=यज्ञविघाताय। सकलं=सम्पूर्णम्। राजकं=राजसमूहम्। उत्थाप्य=क्षोभयित्वा, चालयित्वा। हन्त—इति खेदेऽव्ययम्। महद्दुःखमस्तीति भावः। अजातारेः=अजातशत्रोः, युधिष्ठिरस्येत्यर्थः। त्वया=भवता, श्रीकृष्णेन। प्रथमेन = आद्येन, मुख्येन। अरिणा=शत्रुणा। जातम्=अजनि।

कोशः—'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः।

समासः—मखस्य विघ्नः मखविघ्नः, तस्मै—मखविघ्नाय (त०पु०)। राज्ञां समूहो राजकम्, तत्। न जातः अरिः यस्य सः अजातारिः, तस्य अजातारेः।

व्याकरणम्—इत्थम्—इदम्+'इदमस्थमुः' (५।३।२४) इति थमुप्रत्ययः। राजकम्—राजन्+'गोत्रोक्ष—' (४।२।३८) इति वुञ्। जातम्—जन्+नपुंसके भाव क्तः।

हिन्दी—इस प्रकार सम्पूर्ण राजमण्डल को यज्ञ के विघ्न के लिए क्षुभित करके आप ही अजातशत्रु युधिष्ठिर के प्रथम शत्रु हो जाओगे, यह दुःख की बात है॥ १०२॥

भवतु युधिष्ठिरोऽपि शत्रुः, को दोषस्तत्राह—

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्धं स बान्धवः।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते॥ १०३॥

अन्वयः—बान्धवः स धर्मराजः अतिभरक्षमस्कन्धं त्वां सहायं सम्भाव्य अध्वरधुरा विवक्षते।

बालबोधिनी—बान्धवः = बन्धुः। सः = लोकविदितः। धर्मराजः= युधिष्ठिरः। 'सुबान्धवः, इति पाठे—शोभनाः बान्धवाः त्वादृशाः यस्य सः तादृशः। अतिभरक्षमस्कन्धम् = महाभारवहनसमर्थस्कन्धम्., समानस्कन्धमित्यर्थः। त्वां=भवन्तम्। सहायं = सहकारिणम्। सम्भाव्य = निरूप्य, विचार्य। अध्वरधुरां=यज्ञभारम्। विवक्षते=वोढुमिच्छति। अतो विरोधे विश्वासघातो बन्धुद्रोहश्च भवेतामिति भावः। एतेन 'विनाप्यस्मदलं भूष्णुरिति,' 'यजतां पाण्डव.' इति च निराकृतम्। अत्र विशेषणसाम्यात् प्रस्तुतयागधर्मप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः' इति।

कोशः—'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः।

समासः—अतिशयितो भरः अतिभरः तस्य क्षमः स्कन्धो यस्य सः, तम् अतिभरक्षमस्कन्धम्।' अध्वानं=स्वर्मार्गं, राति=ददाति, इति अध्वरः; अध्वरस्य धूः अध्वरधुरा, ताम्—अध्वरधुराम् (त० पु०)। वोढुमिच्छति विवक्षते।

व्याकरणम्—बान्धवः—बधु + अण्। अध्वरधुराम्—अध्वर + 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५। ४। ७४) इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः समासान्तानां प्रकृतिलिङ्गत्वात् तत्पुरुषे परवल्लिङ्गत्वे टाप्। विवक्षते—वह् + सन् + लट्—त।

हिन्दी—(यदि युधिष्ठिर भी हमारे शत्रु बन जायें तब भी हानि क्या है? इस पर कहते हैं—) बन्धु वह धर्मराज युधिष्ठिर (यज्ञ-सम्बन्धी) महान् भार के वहन करने में समर्थ कन्धे वाले तुमको सहायक समझकर यज्ञ के भार को वहन करना चाहते हैं।

टिप्पणी—उद्धवजी के कथन का तात्पर्य यह है कि यदि आप युधिष्ठिर की सहायता करने के लिए यज्ञ में सम्मिलित नहीं होंगे तो इससे तुम्हारा धर्मराज युधिष्ठिर के साथ विश्वासघात होगा तथा शिशुपाल पर चढ़ाई करने से सम्पूर्ण राजाओं में युद्ध का उत्साह उत्पन्न कर देने से कोई भी राजा यज्ञ में नहीं पहुँचेगा, इससे तुम यज्ञ में विघ्नकारक बन जाओगे यह युधिष्ठिर के साथ एक प्रकार की शत्रुता ही होगी, जो कि अत्यन्त अनुचित है॥ १०३॥

नन्वङ्गीकृत्याकरणे दोषः, प्रागेव प्रत्याख्याने तु को दोष इत्यत आह—

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः॥ १०४॥

अन्वयः—महात्मानः भजमानान् रिपून् अपि अनुगृह्णन्ति सिन्धवः सपत्नीः नगनिम्नगाः अब्धिं प्रापयन्ति।

बालबोधिनी—महात्मानः = महीयांसः, निग्रहानुग्रहसमर्था इत्यर्थः। भजमानान् = शरणागतान्। रिपूनपि = शत्रूनपि। अनुगृह्णन्ति=दयन्ते। किमुत बन्धूनिति भावः। तथा हि सिन्धवः = महानद्यः, गङ्गादिसरितः। सपत्नीः=समानभर्तृकाः, एकपत्नीः। नगनिम्नगाः=पर्वतनदीः। अब्धिम् = सागरम्, स्वभर्तारं सरित्पतिम्। प्रापयन्ति = गमयन्ति। स्वसौभाग्यमपि स्वपत्नीभ्यः शरणागताभ्यः प्रयच्छन्तीत्यर्थः। अत्र विशेषेणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च नदे देशेभदानयोः' इति विश्वः। 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः।

समासः—महान् आत्मा येषां ते महात्मानः। निम्नं गच्छन्ति इति निम्नगाः, नगानां निम्नगाः नगनिम्नगाः, ताः—नगनिम्नगाः (ष० त०)। समानः पतिर्यासां ताः सपत्न्यः, ताः सपत्नीः।

व्याकरणम्—अब्धिम्—अप् + धा + 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इत्यधिकरणे किप्रत्ययः। प्रापयन्ति—प्र + आप् + णिच् + लट्-झि। सपत्नीः—समानः पतिर्यासां ताः, समानस्य सादेशः 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च। अनुगृह्णन्ति—अनु + गृह् + लट्-झि।

हिन्दी—(पहले यज्ञ-भार वहन करने को स्वीकार करके फिर छोड़ना तो दोष है, परन्तु पहले से ही यज्ञ-भार वहन का निषेध कर दिया हो तो हमारे ऊपर कोई दोष नहीं है, इस कृष्ण की शङ्का का निवारण करने के लिए कहते हैं—) महात्मा लोग शरण में आये हुए शत्रुओं पर भी अनुग्रह करते हैं। (जैसे कि गङ्गादि) महानदियाँ, सपत्नी रूप पहाड़ी नदियों को (भी, पति रूप) समुद्र के पास पहुँचा देती हैं। (अतः यज्ञ भार वहन करने के लिए निषेध करना भी अत्यन्त बुरा है) ॥ १०४ ॥

ननु सम्प्रत्युपेक्षितोऽपि पार्थः पश्चात्प्रार्थनया प्रसन्नो भविष्यतीत्यत आह—

चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—बलिनः अरिषु बलात्कारः चिरात् अपि सिद्धये (भवति, किन्तु-) विमनीकृताः सुहृदः छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः।

बालबोधिनी—बलिनः = बलवतः पुरुषस्य। अरिषु = शत्रुषु विषये। बलात्कारः=बलप्रयोगः, दण्डः। चिरादपि = चिरकालेनाऽपि विलम्बेनापि कृतः. सिद्धये=अभिमतनिष्पत्तये, विजयाय च। भवतीति शेषः। कालान्तरेणापि बलिष्ठः शत्रूनुत्साहेन वशीकरोतीत्यर्थः। अपि शब्दः 'बलिनः' इत्यनेनापि अन्वेतुमर्हः। विमनीकृताः=वैमनस्यं प्रापिताः, रोपिताः। सुहृदः=मित्राणि तु। छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः = अभिप्रायानुवर्तनेनाऽपि प्रसादयितुमशक्याः भवन्तीति शेषः। एतेन 'उत्तिष्ठमानस्तु परः' इति परिहृतम्।

कोशः—'बलवान्मांसलोंऽसलः' इत्यमरः। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः।

समासः—बलात्करणमिति बलात्कारः। दुःखेनापि साधयितुमशक्याः इति दुःसाध्या, छन्दस्यानुवृत्तिः छन्दानुवृत्तिः, छन्दानुवृत्त्या दुःसाध्याः—छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः। विषण्णं मनः येषां ते विमनसः, न विमनसः अविमनसः,अविमनसः विमनसः सम्पद्यमानाः कृताः इति विमनीकृताः। शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः।

व्याकरणम्—बलात्कारः—बलात् + कृ + भावे घञ्। बलिनः—बल + इनिः। विमनीकृता—वि + मनस् + च्विः + कृ + क्तः, 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' (५। ४। ५१) इति च्विप्रत्ययस्य सस्य च लोपः।

हिन्दी—(इस समय युधिष्ठिर की उपेक्षा करके भी शिशुपाल पर विजय प्राप्त करने के बाद उन्हें प्रार्थनादिके द्वारा अपने अनुकूल कर लेंगे, इस बात का खण्डन करते हैं—) बलवान् व्यक्ति का शत्रु पर देर से किया हुआ भी बल प्रयोग सिद्धि (विजय) के लिए होता है। अर्थात् बलवान् राजा यदि शत्रु पर देरी से भी आक्रमण करे तो भी वह विजय प्राप्त कर लेता है, परन्तु (पहले) रुष्ट किये हुए मित्र लोग, (बाद में) उनके अनुकूल आचरण (खुशामद आदि) करने पर भी प्रसन्न नहीं किये जा सकते हैं॥ १०५॥

ननु मित्रकार्याद् देवकार्यं बलीय इत्यत्राह—

मन्यसेऽरिवधः श्रेयान् प्रीतये नाकिनामिति।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम्॥ १०६॥

अन्वयः—नाकिनां प्रीतये अरिवधः श्रेयान् इति मन्यसे चेत् पुरोडाशभुजाम् इष्टम् कर्तुम् इष्टम् अलन्तराम्।

बालबोधिनी—नाकिनां=देवानाम्। प्रीतये=हर्षाय। अरिवधः=शत्रुवधः। श्रेयान्=प्रशस्ततरः। इति=इत्थम्, इत्येवम्। मन्यसे=विचारयसे, अवगच्छसि। चेत्=यदि। तर्हि—पुरोडाशभुजां=हविर्भुजाम्। (अत एव नाकिनाम्—) इष्टं =अभिमतम्। कर्तुं=विधातुम्। इष्टं=यागः। इष्टमिति पाठे यागमित्यर्थः। अस्य कर्तुमित्यनेन सम्बन्धः करणीयः। अलन्तराम्=अतिपर्याप्तम्। बुभुक्षितो हि किं शत्रुनाशेन कुरुते इति भावः। अथवा—शत्रुवधापेक्षयाऽपि देवानां यज्ञेनैव हर्षातिशयः, भुक्त्वापि शत्रुवधस्य सुकरत्वादिति भावः।

कोशः—'इष्टं यागादिकर्म यत्' इत्यमरः। 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः। 'पुरोडाशो हुतिर्भेदे चमस्यां पिष्टकस्य च। रसे सोमलताया हुतशेषे च कीर्तितः' इति विश्वः।

समासः—अरेः वधः अरिवधः (ष० त०)। न कम् (सुखम्) अकम् (दुःखम्) न विद्यमानम् अकं यस्मिन् सः नाकः, सः येषामस्ति वासत्वेन ते नाकिनः, तेषां नाकिनाम्। पुरोडाशान् भुञ्जते इति पुरोडाशभुजः, तेषां पुरोडाशभुजाम् (त० पु०)।

व्याकरणम्—इष्टम्—इष्+कर्मणि क्तः। इष्टम्—यज्+भावे क्तः 'वचिस्वपि यजादीनां किति' (६।१।१५) इति सम्प्रसारणम्। नाकिनाम्—नाक+इनिः। श्रेयान्—प्रशस्य+ईयसुन् 'प्रशस्यस्य श्रः' (५।३।६०) इति श्रादेशः। अलन्तराम्—अलम्+तरप्।

हिन्दी—(मित्र युधिष्ठिर के कार्य की अपेक्षा नारदोक्त शिशुपाल रूप कार्य को करना अच्छा है, इस मत का उद्धवजी खण्डन करते हैं—) यदि देवताओं की प्रसन्नता के लिए शत्रु (शिशुपाल) का वध श्रेष्ठ समझते हों तो भी हविष्य को खाने वाले देवों का अभीष्ट करने के लिए यज्ञ ही पर्याप्त है ॥ १०६ ॥

ननु देवा अमृताशनेनैव तृप्ताः किं तेषामेभिः पिष्टभक्षणलोभनैरत आह—

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अमृतं नाम सन्तः मन्त्रजिह्वेषु यत् जुह्वति (तत्) मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना शोभैव।

बालबोधिनी—अमृतं नाम=पीयूषं हि। सन्तः=विद्वांसः। मन्त्रजिह्वेषु=अग्निषु। यत्=पुरोडाशादिकम्। जुह्वति=प्रक्षिपन्ति, हविर्ददति। तदेवेति शेषः। मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना=मन्दराचलरूपमन्थनदण्डमथितसमुद्रवर्णनम्, मन्दराचलमथितात् समुद्रादमृतं समुत्पन्नमिति पौराणिककथनन्तु। शोभैव=अलङ्कार एव, अर्थवाद एव। अत एव हुतमेवामृतमिति भावः। उभयोर्वाक्ययोर्हेतुर्हेतुमद्भावात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। यदुक्तं साहित्यदर्पणे-'हेतुर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति।

कोशः—'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। 'मन्त्रजिह्वः सप्तजिह्वः सुजिह्वो हव्यवाहनः' इति वैजयन्ती। 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः।

समासः—मन्त्रा एव जिह्वा येषां ते मन्त्रजिह्वाः, तेषु मन्त्रजिह्वेषु (ब० व्री०)। मन्दर एव क्षुब्धः = मन्थनदण्डः, मन्दरक्षुब्धः, तेन क्षुभितश्चासौ

अम्भोधिश्च मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिः, तस्य वर्णना मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधि-वर्णना (त० पु०)।

व्याकरणम्—सन्तः—अस + कर्तृ—शतृ। जुह्वति—हु + लट्—झि + श्नुः, द्वित्वादिकम्। शोभा—शुभ + पचादित्वादच् + टाप्।

हिन्दी—(सदा अमृत का पान करने वाले देवों को पिष्ट (चूर्णादि) के भोजन से क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान करते हैं—) अमृत तो (वास्तव में), विद्वान् लोग अग्नियों में जो हवि डालते हैं वही है। मन्दराचल रूप मथनी से मथे गये समुद्र (से उत्पन्न अमृत) का वर्णन तो केवल शोभामात्र है।

टिप्पणी—पुराणों में कथा है कि मन्दराचल पर्वत को रई (मन्थन दण्ड) बनाकर तथा शेषनाग को विलोमनी (रस्सी) बनाकर देवता तथा राक्षसों ने मिलकर समुद्र मथकर अमृत को प्राप्त किया। उस अमृत को मोहिनी का रूप धारण करने वाले विष्णु भगवान् ने छल से वितरण करते हुए देवताओं को पिला दिया जिससे वे अमर हो गये। यहाँ उद्धव जी के कहने का तात्पर्य यह है कि समुद्र से अमृत निकला यह तो एक आलङ्कारिक वर्णन है, कथामात्र है। वास्तव में तो विद्वान् लोग मन्त्रपूर्वक अग्नि में जो आहुति डालते हैं वही अमृत है और उसी को देवता खाते हैं। मन्त्रजिह्वेषु—मन्त्र ही जिनकी जिह्वा है उन अग्नियों में। अग्नि की सात जिह्वाएँ कही जाती हैं—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
उग्रा प्रदीप्ता च कृपीटयोनेः सप्तैव कीर्त्ताः कथिताश्च जिह्वाः॥

मन्त्रोच्चारण पूर्वक डाली हुई आहुति को अग्नि इन्हीं सात जिह्वाओं से ग्रहण करके वायु, सूर्य आदि देवों तक पहुँचाता है। इसीलिये अग्नि को देवताओं का मुख कहते हैं—'अग्निमुखा वै देवाः' इति॥ १०७॥

किञ्च यात्रायां पूर्वकृतप्रतिज्ञाभङ्गः स्यादित्याह—

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्ते इति यत्त्वया।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृस्वस्रे प्रतिश्रुतम्॥ १०८॥

अन्वयः—प्रतीक्ष्यायै पितृस्वस्रे 'ते सूनोः शतमागांसि सहिष्ये' इति यत् त्वया प्रतिश्रुतम् तत् प्रतीक्ष्यम्।

बालबोधिनी—प्रतीक्ष्यायै=पूज्यायै, मान्यायै। पितृस्वस्रे=पितृभगिन्यै, शिशुपालजनन्यै सात्वत्यै। ते=तव। सूनोः=सुतस्य, शिशुपालस्य। शतं=शतसङ्ख्यकानि। आगांसि=अपराधान्। सहिष्ये=सोढाहे, क्षमिष्ये। इति=

इत्थम् । यत् = यद्धि । त्वया = भवता, कृष्णेन । प्रतिश्रुतं=प्रतिज्ञातम्, अभ्युपगतम् । तत्=तदपि । प्रतीक्ष्यं = प्रतिपालनीयम् । अन्यथा प्रतिज्ञाभङ्गरूपो महादोषः स्यादिति भावः । 'सूनोस्ते इति यत् त्वया, इत्यस्य स्थाने 'प्रत्यश्रौषीः किलेति यत्' पाठान्तरम् । तत्र-प्रत्यश्रौषीः=अङ्गीकृतवान्, किलेति सत्ये । इति क्रियान्तरसम्बन्धे वाक्यार्थपरामर्शकः ।

कोशः—'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः । 'भगिनी स्वसा' इत्यमरः ।

समासः—प्रतीक्ष्यते या सा प्रतीक्ष्या, तस्यै प्रतीक्ष्यायै । पितुः स्वसा पितृस्वसा, तस्यै पितृस्वस्रे ।

व्याकरणम्—सहिष्ये-सह+लृट्+इट् । प्रतीक्ष्यम्—प्रति+ईक्ष+'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) इति ण्यत् ।

हिन्दी—(शिशुपाल पर चढ़ाई करने में एक और भी बाधा है, यह कहते हैं–) अपनी पूज्य फूआ के लिए-'तुम्हारे पुत्र के सौ अपराधों को मैं क्षमा करूँगा' इस प्रकार जो आपने प्रतिवचन (आश्वासन) दिया । वह भी आपको पालन करना चाहिए ।। १०८ ।।

ननु शिशुपालस्यौद्धत्यस्यासह्यत्वात् प्रतिज्ञाभङ्गोऽपि सोढव्य इत्यत आह-

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ।। १०९ ।।

अन्वयः—सतः बुद्धिः तीक्ष्णा (स्यादिति विद्धि । तथापि-) अरुन्तुदा (स्यात्) कर्म प्रतापवत् (भवेत् तथापि—) शान्तं (स्यात्), मनः सोष्म (तथापि) उपतापि न । वाग्मिनः वाग् एका ।

बालबोधिनी—सतः=सत्पुरुषस्य । बुद्धिः=मतिः । तीक्ष्णा=निशिता, 'स्यादिति विद्धि' । (तथापि—) अरुन्तुदा=शस्त्रवन्मर्मच्छेदिनी । न=नैव स्यात् । कर्म=व्यापारः । प्रतापवत् = तेजस्वि । (भवेत्तथापि) शान्त=अक्षोभकरम् । (स्यत्) न तु सिंहादिवत्क्रूरं स्यादित्यर्थः । मनः=चित्तम् । सोष्म=अभिमानोष्णम् साभिमानं स्यात् । (तथापि—) उपतापि=वह्न्यादिवत्परसन्तापि, परक्लेशदम् । न=नैव भवेत् । वाग्मिनः=वक्तुः, वाग्=वाणी । एका=एकरूपा, सत्या । स्यादिति शेषः । वाग्मी सत्यं वदेदित्यर्थः । अत्र प्रकृतायाः वाचोऽप्रकृतानां बुद्धिकर्ममनसां च तुल्यधर्मसम्बन्धस्यावगतेर्दीपकालङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते' इति । बुद्धयादीनां शस्त्रादिव्यतिरेको व्यज्यते ।

कोशः—'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः।

समासः—अरुंस्तुदतीति अरुन्तुदा। उष्मणा सहितं सोष्म। उपतापयतीति उपतापि। प्रतपति अनेनेति प्रतापः, सोऽस्ति यस्मिन् तत् प्रतापवत्।

व्याकरणम्—अरुन्तुदा—अरु+तुद्+'विध्वरुषोस्तुदः' (३।२।३५) इति खच् प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषजन्तस्य मुम्' (३।३।६७)। उपतापि—उप+तप+णिनिः। वाग्मिनः—वाक्+ग्मिनिः।

हिन्दी—सत्पुरुष की बुद्धि तीक्ष्ण होती है (किन्तु) मर्मस्थल को भेदन करने वाली नहीं होती, कर्म प्रतापयुक्त होता है (तो भी) शान्त होता है (सिंहादि के समान हिंसक नहीं)। मन (कुल-शीलादि के अभिमान से) उष्ण होता है, (परन्तु दूसरों को) संतप्त करने वाला नहीं होता। (सत्य तथा उचित) वक्ता की वाणी एक ही होती है (सज्जन पुरुष जो एक बार कह देते हैं उसका पालन करते हैं)।

टिप्पणी—उद्धव जी का अभिप्राय यह है कि आपने अपनी फूआ से जो शिशुपाल के सौ अपराध तक क्षमा करने का वचन दिया है उसका पालन करना चाहिए॥ १०९॥

किञ्चाऽसमये चैद्यवधोऽशक्य इत्याह—

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि॥ ११०॥

अन्वयः—(किञ्च—) अह्नः भानुमान् इव स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्य अन्ताय समयावधिम् अप्राप्य भवान् अपि न अलम्।

बालबोधिनी—(किञ्च) अह्नः=दिवसस्य। भानुमानिव=सूर्य इव। स्वयङ्कृतप्रसादस्य = स्वयंकृतानुग्रहस्य। पक्षे स्वयङ्कृतप्रकाशस्य। तस्य= शिशुपालस्य अन्ताय = वधाय। पक्षे अवसानाय। समयावधिम् = वचनसीमानम्, नियतकालावसानञ्च। अप्राप्य = अलब्ध्वा। भवानपि = त्वमपि, श्रीकृष्णोऽपि। नालं = न समर्थः। तथा चायश एव नान्यत् किञ्चित्फलमिति भावः।

कोशः—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। 'घस्रो दिना-हनी वा क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः।

समासः—स्वयं कृतः प्रसादो यस्य सः स्वयङ्कृतप्रसादः, तस्य स्वयङ्कृतप्रसादस्य (ब० व्री०)। सम्यक् अयते गच्छतीति समयः, समयस्य अवधिः समयावधिः, तम्—समयावधिम् (त० पु०)। भानवः सन्ति यस्य सः भानुमान्।

व्याकरणम्—भानुमान्–भानु+मतुप्। अप्राप्य–नञ्+प्र+आप्+क्त्वा ल्यप्। अह्नः—अहन्+ङस् 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इति अल्लोपः।

हिन्दी—(नियत समय के विना शिशुपाल को मारना भी सम्भव नहीं यह कहते हैं) स्वयं (अपनी किरणों के द्वारा) प्रकाशित किये हुए दिन के सूर्य के समान अपने द्वारा अनुगृहीत उस शिशुपाल को समाप्त करने (मारने) के लिए आप भी समर्थ नहीं हैं (अतः शिशुपाल के वध के लिए समय की प्रतीक्षा करना आवश्यक है) ॥ ११० ॥

तर्हि सम्प्रति किं करणीयमित्याह—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

अन्वयः—कृत्यविदः प्रणिधयः तीर्थेषु अन्तः पदं कृत्वा महतः विद्विषदम्भसः तलं विदाङ्कुर्वन्तु।

सञ्जीविनी—(अतः सम्प्रति) कृत्यविदः = कार्यज्ञाः, विधिज्ञाः। प्रणिधयः=गूढपुरुषाः। तीर्थेषु=राज्ञां मन्त्र्याद्यष्टादश-स्थानेषु। जलपक्षे-जलावतारेषु च। अन्तः=अभ्यन्तरम्। पदं=स्थानम्, प्रवेशम्। जलपक्षे-पादप्रक्षेपम्। कृत्वा=विधाय। महतः=दुरवगाहस्य; पूज्यस्य च। विद्विषदम्भसः=शत्रुरूपजलस्य, शत्रुरूपजलाशयस्येत्यर्थः। तलं=स्वरूपम्, प्रतिष्ठाप्रमाणमिति यावत्। विदाङ्कुर्वन्तु=विदन्तु, जानन्तु। कीदृश्यः कियत्यो वा शक्य इति गवेषयन्त्वित्यर्थः। 'तीर्थेषु' इत्यस्य स्थाने 'तीर्थैः' इति पाठान्तरम्। मन्त्रिप्रभृतीन्यष्टादशतीर्थानि तेषां नीतिशास्त्रे संग्रहो यथा—

'मन्त्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः।
पञ्चमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तर्वंशिकस्तथा ॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसञ्चयकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपञ्चमः ॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु ॥' इति।

श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् । तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ।' इति ।

कोशः—'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इत्यमरः । 'यो नौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः ।

समासः—कृत्यं विदन्ति इति कृत्यविदः । तरन्ति एभिरिति तीर्थानि तेषु तीर्थेषु । प्रणिधीयन्ते इति प्रणिधयः । विद्विषन् एव अम्भः विद्विषदम्भः, तस्य विद्विषदम्भसः ।

व्याकरणम्—कृत्यविदः—कृत्य + विद् + क्विप् । महतः–मह + शतृ । कृत्वा—कृ + क्त्वा । विदाङ्कुर्वन्तु–विद् + आम् + कृ + लोट्–झि 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् (३।१।४१) इति निपातनात् सिद्धम् ।

हिन्दी—(तो अब शिशुपाल के विषय में क्या करना चाहिए यह कहते हैं–) जैसे चतुर लोग (तीर्थ) सीढ़ी आदि पर पैर रखकर (प्रवेश करते हुए गम्भीर जल की गहराई का पता लगा लेते हैं वैसे ही (हमारे) गुप्तचर शत्रु के मन्त्री आदि अठारह स्थानों में प्रवेश करके शत्रु के स्वरूप बलाबल का पता लगावें ।

टिप्पणी—उद्धव जी के कहने का आशय यह है कि हमारे गुप्तचर शत्रु के मन्त्री आदि अठारह तीर्थों में अच्छी तरह प्रवेश करके यह मालूम करें कि कौन शत्रु में अनुरक्त है, कौन विरक्त है, कौन इससे अपमानित हुआ है तथा किनको इससे भय है । पञ्चतन्त्र के तृतीय तन्त्र में शत्रु पक्ष के अठारह तीर्थ तथा अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थ बताये हैं—शत्रु पक्ष के अठारह तीर्थ ये हैं—(१) मन्त्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वेसिक, (७) प्रशासक, (८) लाने वाला, (९) रखने वाला, (१०) बतलाने वाला (प्रदेष्टा), (११) बलाध्यक्ष, (१२) गजाध्यक्ष, (१३) कोषाध्यक्ष, (१४) किले का अध्यक्ष, (१५) कारागाराध्यक्ष, (१६) सीमारक्षक, (१७) उद्धत, (१८) भृत्य । इनमें भेद डालने से शत्रु शीघ्र ही वश में हो जाता है । अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थ ये हैं— (१) पटरानी, (२) माता, (३) कञ्चुकी, (४) मालाकार, (५) शय्यारक्षक, (६) स्पर्शाध्यक्ष, (७) ज्योतिषी, (८) राजवैद्य, (९) पानी लाने वाला भिश्ती, (१०) पान लाने वाला, (११) आचार्य, (१२)

अङ्गरक्षक, (१३) स्थान चिन्तक, (१४) छत्रधर, (१५) विला-
(भोगपत्नी)। इनके विपरीत होने से अपनी पराजय होती है ॥ १११॥

प्रणिधयश्च राज्ञाऽवश्यमेव विधेया इति तत्प्रशंसामुखेनाह—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥

अन्वयः—अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना राजनीतिः अपस्पशा शब्दविद्या इव नो भाति।

बालबोधिनी— अनुत्सूत्रपदन्यासा=नीतिशास्त्राविरुद्धस्वल्पतमव्यवहारपूर्ण- नीतिपूर्वकसकलव्यवहाराः। यत् यस्य पुरुषस्य सामादेर्वा स्थानमर्थशास्त्रेनि- तत्रैव यस्यां निर्दिष्टमित्यर्थः। उक्तं च—

धार्मिकान् धर्मकार्येषु चार्थकार्येषु पण्डितान्।
क्लीबान् स्त्रीषु नियुञ्जीत नीचान् नीचेषु कर्मसु ॥
तत्र साम प्रयोक्तव्यं साधुषु गुणवत्सु च।
दानं लुब्धेषु भेदश्च शङ्कितेष्विति निश्चयः ॥
दण्डः सर्वेषु पतत्सु नित्यकालं दुरात्मसु। इति ॥

शब्दविद्यापक्षे—अनुत्सूत्रपदन्यासा—अनुत्सूत्राक्षरन्यासाख्यव्याख्याग्रन्थवि- पेता, सूत्रार्थप्रतिपादनपरकवृत्तिव्याख्यानभूतन्यासालङ्कृता। सद्वृत्तिः=शो- भृत्यामात्यादिजीविकायुता। शब्दविद्यापक्षे–सद्वृत्तिः=काशिकादिशोभनवृ- ग्रन्थोपेता। सन्निबन्धना=कार्यसमाप्तौ अनुजीविभ्यो दत्तगोहिरण्यादिपारि- षिकसहिता। अन्यत्र सन्निबन्धना=शोभनमहाभाष्याख्यनिबन्धसहिता। रा- नीतिः=राजवृत्तिः, राजव्यवहारः। अपस्पशा=गुप्तचररहिता। शब्दवि- पक्षे–अपस्पशा=पस्पशाह्निकरहिता, शास्त्रारम्भसमर्थकोपोद्घातसन्दर्भर- शब्दविद्येव=व्याकरणशास्त्रमिव। नो भाति=न शोभते। उक्तं च—

सर्वस्यैव शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते। इति।

तस्मात् गुप्तचरप्रेषणमनिवार्यम्। तद्विना राज्ञोऽन्धप्रायत्वादिति भा- अत्रापस्पशेत्यत्र जतुकाष्ठन्यायेन शब्दयोः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेषः। सद- सन्निबन्धनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदर्थश्लेषः। अनुत्सूत्रपदन्यासेत्यत्र द्वयोः सम्भवादुभयश्लेषः। शब्दविद्येवेति पूर्णोपमा च। सा च प्रधानेति तेषाम- भावेन सङ्करः।

कोशः—'वृत्तिः ग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती। 'यथार्थवर्णो मर्मज्ञः स्पशो हरक उच्यते।' इति हलायुधः। 'यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः। चारश्च गूढपुरुषः' इति चामरः।

समासः—सूत्राणि उत्क्रान्त उत्सूत्रः, न उत्सूत्रः अनुत्सूत्रः, पदानां न्यासः पदन्यासः, अनुत्सूत्रः पदन्यासः यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। शब्दविद्यापक्षे—सूत्राणि उत्क्रान्तानि उत्सूत्राणि, न उत्सूत्राणि अनुत्सूत्राणि, तानि पदानि यस्मिन् सः अनुत्सूत्रपदः, अनुत्सूत्रपदः न्यासो यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। सती वृत्तिर्यस्यां सा सद्वृत्तिः। निबध्यतेऽनेनेति निबन्धनम्, सत् निबन्धनं यस्यां सा सन्निबन्धना (ब० व्री०)। राज्ञां नीतिः राजनीतिः (त० पु०)। अपगतः स्पशो यस्यां साऽपस्पशा। शब्दविद्यापक्षे—अविद्यमानः पस्पशो यस्यां सा अ-पस्पशा। शब्दानां विद्या शब्दविद्या (त० पु०)।

व्याकरणम्—सद्वृत्तिः–सद्+वृत्+क्तिन्। सन्निबन्धना—सत्+नि+बन्ध+ल्युट+टाप्।

हिन्दी—(राजाओं को गुप्तचर अवश्य नियुक्त करने चाहिए यह कहते है—) नीतिशास्त्र के अनुकूल मार्ग से प्रतिकूल एक पैर भी जिसमें नहीं रखा जाता है, और भृत्यों के लिए जिसमें अच्छी नौकरी (वेतन) का प्रबन्ध है, तथा काम करने पर जिसमें नौकरों के लिए अच्छे इनाम का प्रबन्ध है, इस प्रकार की राजनीति भी गुप्तचरों (खुफिया पुलिस) बिना उसी तरह से शोभित (तथा फलित) नहीं होती है. जिस प्रकार सूत्रार्थप्रतिपादक न्यास ग्रन्थ से युक्त, सुन्दर काशिका नामक वृत्ति वाली तथा महाभाष्य नाम वाले सुन्दर निबन्ध से शोभित भी व्याकरण विद्या पस्पशाह्निक (महाभाष्य के प्रथमाध्याय का प्रथमाह्निक जिसमें व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के प्रयोजनों का—'रक्षोहागमलघ्व-सन्देहाः प्रयोजनम्' इत्यादि रूप से प्रतिपादन किया है) के बिना शोभित नहीं होती है ॥ ११२ ॥

शत्रुषु भेदश्च प्रयोक्तव्य इत्याह—

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—अज्ञातदोषैः दोषज्ञैः अभिव्यक्तशासनैः उभयवेतनैः शत्रोः सामवायिकः उद्दूष्य भेद्याः।

बालबोधिनी—अज्ञातदोषैः=परैरज्ञातस्वकर्मभिः, शत्रुभिरज्ञातः उभयवेतन-

लक्षणो दोषो येषां तैः। (स्वयञ्च–) दोषज्ञैः=शत्रुरहस्यज्ञैः, परमर्मज्ञैः। अभि-व्यक्तशासनैः=प्रकटितभेद्यराजामात्याद्यविश्वाससूचकतत्कूटलेखादिभिः, भेद्यस्य प्रकटितानि तदमात्याद्यविश्वासकराणि कूटलिखितानि यैस्तैः। उभयवेतनैः=शत्रु-पक्षात्मपक्षोभयवेतनग्राहिभिः। भेद्यराजनगरवासिभिरित्यर्थः। ये तत्त्वतो जिगीषु सम्बन्धिनः तत्कार्यसिद्धये शत्रुमण्डलं प्रविश्य सेवका इव तिष्ठन्ति ते उभयवेतना उच्यन्ते। तादृशैश्चरैरिति भावः भावः। शत्रोः=शत्रुसम्बन्धिनः। सामवायिकाः = प्रधानाः, सङ्घमुख्या अमात्यादयः। उद्दूष्य = भृशं दूष-यित्वा 'शत्रुपक्षमिलिता इमे सचिवाः' इति कूट–(मिथ्या–) लेखादिभिः दूषयित्वा। भेद्याः=शत्रुपक्षाद् विघटनीयाः। अभिव्यक्तशासनैरित्यस्य स्थाने अभित्यक्तशासनैरिति पाठे त्वसमर्थः—केनचित्कारणेन ये वध्यास्तेऽभित्यक्ता उच्यन्ते, तेषां हस्ते शासनानि=व्यवस्थापत्राणि अभित्यक्तशासनानि, तैः शासनैः पत्तलादिभिः व्यवस्थापत्रैः करणभूतैः।

कोशः—'कर्मण्या तु विधा-भृत्या भृतयो भर्म वेतनम्। भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वेशः पण इत्यपि' इत्यमरः।

समासः—न ज्ञातः, अज्ञातः, अज्ञात दोषो येषां तैः अज्ञातदोषैः (नञ् त० पु० गर्भ ब० व्री०)। दोषान् जानन्ति इति दोषज्ञाः तैः दोषज्ञैः। उभयत उभयतो वा वेतनं येषां ते उभयवेतनाः, तैः उभयवेतनैः (ब० व्री०)। अभि-व्यक्तानि शासनानि यैस्ते अभिव्यक्तशासनाः, तैः अभिव्यक्तशासनैः (ब०व्री०)। —समवायं=समूहम्, समवयन्ति=प्रविशन्ति इति सामवायिकाः।

व्याकरणम्—दोषज्ञैः—दोष+ज्ञा+'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) इति कः प्रत्ययः। सामवायिकाः—समवाय+'समवायान्समवैति' (४।४।४३) इति ठक्। भेद्याः—भिद्+ 'ऋहलोर्ण्यत्' (३ । १ । १२४) इति ण्यत्।

हिन्दी—जिनके दोषों को शत्रु नहीं जानते तथा जो स्वयं शत्रु के रहस्य को जानने वाले हैं। इस प्रकार के दोनों ओर से वेतन लेने वाले गुप्तचरों के द्वारा झूठे लेखादि को लिखकर शत्रु राजा के मन्त्री एवं प्रधान कर्मचारियों में अविश्वास उत्पन्न कराकर अलग करा देना चाहिए।

टिप्पणी—उद्धवजी कृष्ण से कह रहे हैं कि आप ऐसे गुप्तचरों को नियुक्त करें जो शत्रु के रहस्य को जानने में समर्थ हैं तथा शत्रु की प्रत्येक बात को जानते हैं, तथा शत्रु लोग, उन तुम्हारे गुप्तचरों के इस दोष को कि ये श्रीकृष्ण के गुप्तचर हैं नहीं जानते। जो गुप्तचर वस्तुतः आपके होने से आपके पास से

तो वेतन लेते ही हों साथ में शत्रु के दिखावटी नौकर बनकर उनसे भी वेतन ले रहे हों। इस प्रकार के गुप्तचर, शत्रु राजादि के द्वारा लिखे गये कपट लेखों को उसके मन्त्री आदि को दिखाकर 'राजा आप लोगों का विश्वास नहीं करता है किन्तु आप लोगों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहता है।' इस बात को प्रमाणित कर शत्रु पक्ष के मन्त्री तथा सेनापतियों को फोड़ डालें। अथवा—मन्त्रि-सेनापति आदि के द्वारा लिखे हुए झूठे लेखों को राजा को दिखाकर उन मन्त्री आदि के प्रति राजा के हृदय में अविश्वास उत्पन्न करके राजा के द्वारा उन मन्त्री आदि को अपने-अपने पदों से अलग करा दें जिससे कि मन्त्री, सेनापति आदि प्रधान लोग राजा के खिलाफ हो जायँ ॥ ११३ ॥

युधिष्ठिरपुरगमने चरविधाने च गुणान्तरमाह—

उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम्।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥

अन्वयः—उपायज्ञैः तव चरैः एकार्थानि राजन्यकानि आजातशात्रवी पुरीम् उपेयिवांसि कर्तारः।

बालबोधिनी—उपायज्ञैः=कार्यसाधनकुशलैः, क्रुद्धोऽयं ततः साम्ना वश्यः, लुब्धोऽयं ततो दानेन वश्यः, भीतोऽयं ततस्त्राणेन वश्यः, इत्यादिरूपं सामादिप्रयोगं ये जानन्तीत्यर्थः। चरैः=गूढचारिभिः गुप्तचरैः। एकार्थानि=त्वया सहैकप्रयोजनानि। राजन्यकानि = राजन्यसमूहाः, क्षत्रियसमूहाः। आजातशात्रवीं = युधिष्ठिर सम्बन्धिनीम्। पुरीम् = नगरीम्, हस्तिनापुरम्, इन्द्रप्रस्थमित्यर्थः। उपेयिवांसि = प्राप्नुवन्ति, आगतानि। कर्तारः=करिष्यन्ते। 'इन्द्रप्रस्थेऽस्माकं महत्कार्यं भविष्यति, तद् यज्ञयात्राव्याजेन सन्नद्धैर्भवद्भिरागन्तव्यम्' इति गूढं सन्दिश्य सर्वे राजानस्तत्र मेलयितव्या इत्यर्थः।

कोशः—'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। 'अर्थो हेतौ प्रयोजने। निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारद्रव्यवस्तुषु' इति हैमः। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्। स्थानीयं निगमः' इत्यमरः।

समासः—उपायं जानन्ति इति उपायज्ञाः तैः उपायज्ञैः। एकः अर्थो येषां तानि एकार्थानि (ब० व्री०)। अजातशत्रोः इयम् आजातशात्रवी, ताम्—आजातशात्रवीम्। राज्ञः अपत्यानि राजन्याः, राजन्यानां समूहाः राजन्यकानि।

व्याकरणम्—उपायज्ञैः—उपाय+ज्ञा+'आतोऽनुपसर्गे कः' (३। २।३) इति कः प्रत्ययः। चरैः—चर+अच्। आजातशात्रवीम्—अजातशत्रु+अण्+

ङीप् । 'अनुशतिकादीनाञ्च' (७।३।२०) इत्युभयपदवृद्धिः । राजन्यकानि—राजन्+यत्–'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजन्यराजराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ्' (४।२।३९) इति वुञ् । उपेयिवांसि—उप्+इण्+लिट्+क्वसुः ।

हिन्दी—कार्य साधन में कुशल तुम्हारे गुप्तचर तुम्हारे पक्ष में होकर युद्ध करना ही जिनका लक्ष्य है ऐसे उन राजाओं को युधिष्ठिर की राजधानी (हस्तिनापुर) में पहुँचायेंगे ।

टिप्पणी—आपके गुप्तचर, 'भगवान् श्रीकृष्ण की तरफ से आपको युद्ध करना है, अतः आप लोग अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर सेना के साथ युधिष्ठिर के यज्ञ के बहाने से चलें' इस प्रकार गुप्त रीति से आपके पक्ष वाले राजाओं को हस्तिनापुर में पहुँचायें ।

आजातशात्रवीं पुरीम्—युधिष्ठिर की नगरी में । यहाँ युधिष्ठर की नगरी से तात्पर्य हस्तिनापुर से है । वर्तमान हस्तिनापुर दिल्ली से उत्तर में लगभग ६० मील की दूरी पर स्थित है । परन्तु प्राचीन हस्तिनापुर वर्तमान दिल्ली का ही नामान्तर है ऐसा महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है ।। ११४ ।।

यज्ञे युद्धावकाशो मिलिष्यतीति वक्तुं तत्र महत्कलहबीजं सम्पादयति—

सविशेषं सुते पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ।। ११५ ।।

अन्वयः—पाण्डोः सुते भवति सविशेषं भक्तिं तन्वति (सति) तरलाः मत्सरिणः परे स्वयं वैरायितारः ।

बालबोधिनी—पाण्डोः=पाण्डुनामकस्य राज्ञः । सुते=पुत्रे, युधिष्ठिरे इत्यर्थः । भवति=पूज्ये त्वयि । सविशेषं=समधिकं यथा तथा । भक्तिं=पूजाम्, सत्कारम् । तन्वति=विस्तारयति सति । तरलाः=चञ्चलस्वभावाः । मत्सरिणः=अन्यशुभद्वेषिणः, परोत्कर्षासहिष्णवः । परे=चैद्यप्रमुखाः शत्रवः । स्वयं=स्वयमेव, आत्मनैव । वैरायितारः = वैरं कर्तारः, उपद्रवं करिष्यन्तीत्यर्थः । अत्र सविशेषग्रहणं तेषामपमानितां द्योतयति । सविशेषत्वाच्चाक्षमाः ।

कोशः—'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः । 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः ।

समासः—विशेषेण सह वर्तमानं यथा तथा सविशेषम् । मत्सरः अस्ति येषां ते मत्सरिणः । वैरं कर्तारः वैरायितारः ।

व्याकरणम्—सविशेषम्–सह+विशेष, सहस्य सादेशः । तन्वति–तन्+लट्+शतृ । मत्सरिणः—मत्सर+इनिः ।

हिन्दी—(वहाँ यज्ञ में भी शिशुपाल से युद्ध का अवसर मिल जायगा, इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—) पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के तुम्हारा विशेष सम्मान करने पर, चञ्चल स्वभाव वाले ईर्ष्यालु (तुम्हारे सम्मान को न चाहने वाले, शिशुपालादि) शत्रु लोग स्वयं ही (तुम्हारे साथ) विरोध करने लगेंगे (अर्थात् तुम्हारे विरुद्ध उपद्रव खड़ा कर देंगे) ॥ ११५ ॥

किं ते सर्वेऽपि वैरायिष्यन्ते ? नेत्याह—

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजो भूभुजः स्युः ।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—इह विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजः अपि ये भूभुजः आत्मविदः स्युः तैः बलिपुष्टकुलाद् अन्यपुष्टैः इव अचिरेण अस्मात् पृथक् भाविता ।

बालबोधिनी—इह = अस्मिन् । विपक्षमध्ये = शत्रुमध्ये । सहसंवृद्धियुजोऽपि=चैद्येन सहैश्वर्यंगता अपि; चैद्येन सह वृद्धा अपि । ये भूभुजः=ये राजानः आत्मविदः=स्वाभिजनवेदिनः, स्वस्वरूपवेदिनश्च । स्युः = भवेयुः । तैः=नृपैः । बलिपुष्टकुलात् = काकसमूहात् । अन्यपुष्टैरिव=परभृतैरिव, कोकिलैरिव । अचिरेण=सद्यः, शीघ्रम् । अस्मात् = विपक्षमध्यात् । पृथग्भविता=पृथग्भविष्यते । तेष्वपि केचिदस्माभिः सह मिलिष्यन्तीति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'पर्यन्तेर्यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति यस्य वैतालीयस्येति प्रागस्य योज्यम् ।

कोशः—'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इत्यमरः । 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः ।

समासः—आत्मानं विदन्तीति आत्मविदः । विरुद्धः पक्षः येषां ते विपक्षाः, विपक्षाणां मध्यं विपक्षमध्यम् तस्मिन् विपक्षमध्ये । सह संवृद्धया युज्यन्ते इति सहसंवृद्धियुजः । बलिभिः पुष्टा बलिपुष्टाः तेषां कुलं बलिपुष्टकुलं, तस्मात् बलिपुष्टकुलात् (त० पु०) । अन्यैः पुष्टाः अन्यपुष्टाः, तैः अन्यपुष्टैः ।

व्याकरणम्—भूभुजः—भू + भुज + क्विप् । अन्यपुष्टैः—अन्य + पुष् + क्तः । स्युः—अस् + लिङ्—झि—जुस् । भाविता—भू+भावे लुट् तिप् + चिण्वदिट् वृद्धिः ।

हिन्दी—इस शत्रु के पक्ष में, शिशुपाल के साथ समृद्धि को प्राप्त हुए भी, जो राजा अपने स्वरूप को जान लेंगे वे कौवों के समूह से कोयलों के समान इस शिशुपाल से शीघ्र ही अलग हो जायेंगे ॥ ११६ ॥

एवं सति यत्फलं सम्पद्यते तदाशीर्द्वारेणाह—

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—सहजचापलदोषसमुद्धतः चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः असुहृद्गणः तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभताम् ।

बालबोधिनी—सहजचापलदोषसमुद्धतः = स्वाभाविकचाञ्चल्यदोषदृप्तः । शलभपक्षे—नैसर्गिकानवस्थितत्वदोषप्रेरितः । चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः = विशीर्णदुर्बलसहायकवर्गः, भेदितदुर्बलपरिवारः । शलभपक्षे—विशीर्णदुर्बलपक्षबलः । असुहृद्गणः = शत्रुवर्गः । तव = भवतः, श्रीकृष्णस्य । दुरासदवीर्यविभावसौ = दुर्धर्षपराक्रमाग्नौ; प्रचण्डतेजोवह्नौ । शलभतां = पतङ्गताम् । लभतां = प्राप्नोतु, दह्यतामित्यर्थः । अत्र चापलमेव दोषः, तथा 'वीर्यमेव विभावसुः' इति रूपकालङ्कारः, द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'चपलः पारदे शीघ्रे दुर्विनीतेऽनवस्थिते' इति वैजयन्ती । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । 'वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोपि' इति विश्वः । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः ।

समासः—चपलस्य भावः चापलम्, सह जातं सहजम् सहजं तच्चापलं च सहजचापलम्, तदेव दोषः तेन समुद्धतः सहजचापलदोषसमुद्धतः । दुर्बलश्चासौ पक्षश्च दुर्बलपक्षः (क० धा०), तस्य परिग्रहः दुर्बलपक्षपरिग्रहः (ष० त०), चलितः दुर्बलपक्षपरिग्रहः यस्य सः चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः (त० पु० गर्भ ब० व्री०) । दुःखेन आसाद्यते इति दुरासदम्, दुरासदं च तद् वीर्यं च दुरासदवीर्यम् (क० धा०), तदेव विभावसुः तस्मिन्-दुरासदवीर्यविभावसौ (त० पु०) । शलभस्य भावः शलभता, ताम्-शलभताम् ।

व्याकरणम्—शलभताम्—शलभ + भावे तल् । लभताम्—लभ + कर्तरि लोट्-त ।

हिन्दी—(इस प्रकार परिणाम को, आशीर्वाद द्वारा बतलाते हुए उद्धवजी कहते हैं-) स्वाभाविक चञ्चलतारूप दोष से समुद्धत, दुर्बल होने से शिथिल पक्ष (सहायक वर्ग, पक्षा०—पङ्ख) वाला आपका शत्रुसमूह तुम्हारे असह्य पराक्रमरूपी अग्नि में पतङ्गता को प्राप्त होवे (पतङ्ग के समान जलकर नष्ट हो जाय) ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य।
जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोर-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां शुश्रुवान् सः ॥ ११८ ॥

इति माघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के मन्त्रवर्णनं
नाम द्वितीयः सर्गः।

अन्वयः—इति विशकलितार्थाम् अनुगतनयमार्गाम् दुर्नयस्य अर्गलां (अत एव) जनितमुदम् उच्छ्रितोरस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम् औद्धवीम् एनां वाचं शुश्रुवान् उच्चकैः उदस्थात्।

बालबोधिनी—सः=श्रीकृष्णः। इति=इत्थम्, अमुना प्रकारेण। विशकलितार्थाम्=विवेचितार्थाम्, पर्यालोचितकार्याम्, विशदाभिधेयाम्। अनुगतनयमार्गाम्=नीतिशास्त्रानुसारिणीम्। दुर्नयस्य=दुर्नीतेः, बलभद्राद्युक्तस्येत्यर्थः। अर्गलां=निवारयित्रीम्, प्रतिपन्थिनीम्। (अत एव) जनितमुदम्=हरेः कृतानन्दाम्। उच्छ्रितोरस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम्=समुन्नतवक्षःस्थलानवरतस्थितलक्ष्मीश्रुताम्, सदा सन्निहितत्वात् परं लक्ष्म्यैव श्रुतां न त्वन्ययेति मन्त्रगुप्तिः। औद्धवीं=उद्धवसम्बन्धिनीम्, उद्धवोक्ताम्। एनां=पूर्वोक्ताम्। वाचं=वाणीम्। शुश्रुवान्=श्रुतवान्। उच्चकैः=उन्नतः सन्। उदस्थात्=उत्थितः, सिंहासनादुत्थितवानित्यर्थः। अत्र 'विशकलितार्थाम्', 'अनुगतनयमार्गाम्', 'जनितमुदम्', इत्यादिविशेषणैः सर्वगुणयुक्तत्वादुद्धवगुरुनिरूपितं हरिरङ्गीकृत्य युधिष्ठिरगमनायोदचलदिति भावः। रूपकानुप्रासालङ्कारौ मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात्।

कोशः—'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया। इन्दिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा' इत्यमरः। 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः।

समासः—विशकलितः अर्थो यस्याः सा ताम्-विशकलितार्थाम् (ब० व्री०) नीयते अनेनेति नयः, नयस्य मार्गः नयमार्गः (ष० त०), अनुगतः नयमार्गः यया सा ताम्-अनुगतनयमार्गाम् (त० पु० गर्भ ब० व्री०)। जनिता मुत् यया सा जनितमुत्, ताम् जनितमुदम् (ब० व्री०)। उच्छ्रितं च तत् उरःस्थलं च उच्छ्रितोरःस्थलम् (क० धा०], तत्र नियतं निषण्णा सा चासौ श्रीश्चेति

उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीः, तया श्रुता ताम्—उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्ण-श्रीश्रुताम् (त० पु०) उद्धवस्य इयं औद्धवी ताम्—औद्धवीम् ।

व्याकरणम्—औद्धवीम्—उद्धव + अण् + 'ठिड्ढाणञ्' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । शुश्रुवान्—श्रु + लिट् + 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुः । उच्चकैः—उच्चैस् + 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (५।३।७१) इत्यकच् प्रत्ययः उदस्थात्—उद् + स्था + लुङ्—तिप् ।

हिन्दी—इस प्रकार स्पष्ट अर्थ वाली, राजनीति का अनुसरण करने वाली अर्थात् राजनीतिशास्त्र के अनुकूल (बलराम के नीतिशास्त्रविरुद्धवचनरूपी) दुर्नीति की विरोधिनी अत एव हर्षजनक तथा (श्रीकृष्ण की पत्नीरूप तथा) उनके) उन्नत वक्षःस्थल में सदा निवास करने वाली लक्ष्मी के द्वारा सुनी हुई उस उद्धव की वाणी को सुनने वाले वे श्रीकृष्ण भगवान् (अपने आसन से) उठ बैठे ।

टिप्पणी—यहाँ 'विशकलितार्थाम्' स्पष्ट तथा निश्चित अर्थ वाली तथा 'अनुगतनयमार्गाम्' नीतिशास्त्रानुकूल एवं 'जनितमुदम्' श्रीकृष्ण के हर्ष को उत्पन्न करने वाली, इत्यादि विशेषणों से यह भाव निकलता है कि उद्धव की युक्तियुक्त वाणी को सुनकर प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण उस वाणी को स्वीकार कर शीघ्र ही कार्यान्वित करने के लिए अपने आसन से उठ बैठे ।। ११८ ।।

इति निखिलशास्त्रनिष्णातानां पण्डितराज - श्रीरामलोटनअवस्थिमहोदयानां शिष्येण, श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठानां स्वधर्मधुरन्धराणां श्रीबाबू-रामशर्मणां पुत्रेण, श्रीबादामीदेवीगर्भसम्भवेन, बुलन्दशहरमण्ड-लान्तर्गतखैरपुरग्रामनिवासिना, मैनपुरीमण्डलान्तर्गत-शिरसागञ्जस्थार्यगुरुकुलमहाविद्यालयसाहित्य-प्रधानाध्यापकेन श्रीरामजीलालशर्मणा विर-चितायां शिशुपालवधमहाकाव्यस्य बालबोधिन्यां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

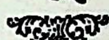


श्लोकानुक्रमणिका

—: ❀ :—

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२५



महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(तृतीयः सर्गः)



व्याख्याकारः—
श्री रामजीलाल शर्मा
साहित्य-दर्शनाचार्यः
साहित्यविभागाध्यक्षः
आर्य गुरुकुल महाविद्यालयः, सिरसागंज (मैनपुरी)



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरण)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

पञ्चम संस्करण १९९३

मूल्य १०.००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर,

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक—

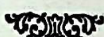
श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA

25



ŚIŚUPĀLAVADHAM

OF

MAHĀKAVI MĀGHA

With

'Balabodhini' Sanskrit-Hindi Commentaries

(Canto III)

By

Shri Ramjilal Sharma

Sahitya-Darshanacharya

Head of the Department of Sahitya

Arya Gurukul Mahavidyalaya, Sirsaganj (Mainpuri)



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

भूमिका

काव्यशास्त्र की उपादेयता

इस संसार में मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। जिसका मुख्य साधन वेद शास्त्रों का ज्ञान है। परन्तु वेद शास्त्रों के नीरस तथा कठिन होने से उन्हें वे ही मनुष्य पढ़ने तथा समझने में समर्थ हैं जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं परिपक्व है। कोमल बुद्धिवालों के लिये तो अत्यन्त सरल एवं सरस होने से काव्य ही एक ऐसा साधन है जो उन्हें धर्मादि की सुखपूर्वक प्राप्ति कराने में समर्थ है। जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव.................................।।' (सा० द० १।२)

भरत मुनि कहते हैं कि धर्मार्थियों को धर्म, कामार्थियों को काम, विद्याभिलाषुकों को विद्वत्ता तथा दीन-दुखियों को परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है। रुद्रट, भामह आदि सभी विद्वानों ने काव्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए इसकी प्रशंसा की है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। (का० प्र० १।२)

अर्थात् 'काव्य यश, धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमङ्गल का नाश, परमसन्तोष एवं कान्ता के समान हितोपदेश को देने वाला है।' पुराण एवं इतिहास आदि को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, दण्डी, बाण, हर्ष, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सहस्रों कवियों का यश आज भी इस संसार में विद्यमान है, एवं सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगा। एक-एक पद्य पर सहस्रों मुद्रायें आदि प्राप्त होने की कथायें राजतरङ्गिणी आदि में उपलब्ध हैं। श्रीहर्षादि से बाणादि को अतुल धन-लाभ होने की वार्ता से कौन अपरिचित है? सूर्यशतक (सूर्य-स्तुति) आदि से मयूरादि के कुष्ठ जैसे भयङ्कर रोगों का समूल विनाश हो जाना संसार प्रसिद्ध ही है। यही नहीं काव्य को आचार्यों ने ब्रह्मरूप में प्रतिपादित किया है—

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ।।

तभी तो—

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गम्.............................।।

यह कहना सङ्गत होता है।

यही कारण है कि परम प्रयास साध्य—योग, जप, तप, वेद, उपनिषद् तथा दर्शनादि के परिशीलन की अपेक्षा अत्यन्त सरल, सरस एवं ब्रह्मानन्द सहोदर काव्य-शास्त्र के परिशीलन में लोगों की अधिक प्रवृत्ति होती है।

काव्य के भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। दृश्य काव्य को ही रूपक कहते हैं। यह रूपक नाटकादि भेद से दस प्रकार का होता है। रूपकों के समान ही कुछ विशेषता लिए हुए नाटक आदि १८ प्रकार के उपरूपक भी होते हैं। द्वितीय श्रव्य काव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पद्यात्मक काव्य—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) कुलक, (४) कलापक, (५) सन्दानितक, (६) युग्मक, (७) मुक्तक भेद से सात प्रकार का होता है। गद्यात्मक काव्य—कथा तथा आख्यायिका भेद से दो प्रकार का माना गया है। श्रीविश्वनाथ जी के मत से गद्य—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिका प्राय और (४) चूर्णक भेद से चार प्रकार का होता है। गद्यपद्योभयात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं। यही चम्पू यदि राजस्तुतिपरक हो तो विरुद कहलाता है, और यदि अनेक भाषा निबद्ध हो तो यही करम्भक कहलाता है।

महाकवि 'माघ' का परिचय

महाकवि माघ के पिता—'दत्तक' बड़े उदार एवं दानी पुरुष थे। वे अपने यहाँ सबको आश्रय दिया करते थे, जिससे वे 'सर्वाश्रय-दाता' इस विरुद से विख्यात थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रभदेव' था जो श्री वर्मलात (वर्मनाभ, धर्मनाभ, धर्मलात) नामक राजा के मन्त्री थे। बस महाकवि 'माघ' के स्वरचित्त 'कवि–वंश–वर्णन' से इतना ही इनके विषय में परिचय प्राप्त होता है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि माघ के जन्म के समय में ही ज्योतिषियों ने इनकी जन्मपत्री को देखकर बतलाया था कि ये अपने जीवन में ही अत्यन्त गरीब हो जायँगे। इस बात को जानकर माघ के पिता ने एक लाख रुपया प्रतिमास के हिसाब से सौ वर्ष के लिए दस बारह करोड़ रुपया सोने की हाँड़ी में भरकर जमीन में गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र माघ को जीवन में कभी भी धन की कमी न पड़े। परन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार में लाखों रुपया दान में दे देना उनके लिये साधारण-सी बात थी। फल यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोजप्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार 'माघ' धारानरेश 'भोज' के राजकवि एवं प्रधान मन्त्री थे। अतः निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११.६४) इत्यादि पद्य को लिखकर पत्नी अपनी को उसे लेकर राजसभा में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। उसे लेकर रास्ते में आते हुए माघ की पत्नी ने उस सम्पूर्ण धन को याचकों के लिये बाँट दिया और घर जाने तक उसके पास कुछ भी न रहा। परन्तु घर तक याचकों का ताँता बँधा ही रहा। याचकों को देने के लिये अपने पास कुछ भी न देखकर महाकवि माघ ने अत्यन्त दुःख से अपने प्राण छोड़

दिये। प्रातःकाल भोज को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने महाकवि माघ का अग्नि-संस्कार किया। माघ की पत्नी उन्हीं के साथ सती हो गई। कुछ भी हो इस कथा से 'माघ' की दानशीलता का पता चलता है।

काव्य-गुणों की दृष्टि से शिशुपालवध की समीक्षा

वस्तु-संघटना—शिशुपालवध की कथा का आधार महाभारत के सभापर्व अध्याय ३३ से ४५ तक की कथा है। महाकवि माघ ने अपनी नवीन उद्भावनाओं से इस छोटी-सी कथा को एक बीस सर्ग के महाकाव्य का रूप दिया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक (आधिकारिक वस्तु में नायक से भिन्न किसी अन्य का वृत्त रहता है जिसका परम्परया सम्बन्ध काव्य के फल से रहता है। शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही आधिकारिक कथा है जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

इस महाकाव्य की कथा को देखने पर प्रतीत होता है कि यह एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। घटना-प्रधान काव्यों में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका समस्त वस्तु-विन्यास उस घटना पर ही केन्द्रित रहता है। परन्तु रामायण या बुद्धचरित जैसे व्यक्ति प्रधान महाकाव्यों में नायक के समस्त जीवन का परिचय मिलता है। यहाँ कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं पर रहती है। इस घटना-प्रधान शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही मुख्य घटना है। अन्य सभी प्रासङ्गिक वर्णन उसके पोषक के रूप में हैं।

यहाँ महाकवि माघ प्रबन्ध काव्य की इतिवृत्तनिर्वाहकता में सफल नहीं कहे जा सकते हैं। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। मूलकथा पहले, दूसरे तथा चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पाई जाती है। इसमें भी कई अप्रासङ्गिक वर्णनों का कवि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शेष चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का वर्णन आनुषङ्गिक है जिसका आवश्यकता से अधिक विस्तार आलोचकों को अत्यन्त खटकता है। यह कथा के प्रवाह को रोक लेता है। वीररस-प्रधान शिशुपालवध के पूरे ६ सर्गों में शृङ्गार लीलाओं का वर्णन वीररस को दबोच-सा लेता है। काव्य के मध्य भाग को पढ़ने पर पाठक यह समझने लगता है कि यह शृङ्गार का ही काव्य है। वस्तुतः यहाँ शृङ्गार-रस वीर-रस की चर्वणा में बाधक बन गया है।

प्रबन्ध काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात को स्वयं महाकवि माघ भी स्वीकार करते हैं—

> बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
> अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ २।७२ ॥

अर्थात् इच्छानुसार बहुत-सी असङ्गत बातें सरलता से कही जा सकती हैं परन्तु ऐसे प्रबन्ध को कहना कठिन है जिसमें पदार्थों की सङ्गति विच्छिन्न हुई हो।

वस्तुतः मुख्य घटना के साथ प्रासङ्गिक बातों का वर्णन वहीं तक उचित होता है जहाँ तक वे प्रासङ्गिक वर्णन मुख्य घटना को रोचक बनाकर श्रोताओं को भाव-मग्न करके रसानुभूति में सहायक सिद्ध हो सकें। अतः ये वर्णन पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं होने चाहिये और उनका विस्तार भी मुख्य घटना के अनुकूल होना चाहिए, अत्यधिक नहीं। माघ का यह अप्रासङ्गिक वर्णनों का अत्यधिक विस्तार कथा के प्रवाह में बाधक होकर रसानुभूति में भी बाधक बन गया है।

भावाभिव्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपालवध का प्रधान (अङ्गी) रस वीर है। शृङ्गार तथा रौद्रादि रस उसी में अङ्ग बनकर आये हैं। शिशुपालवध के इस वीर रस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासङ्गिक शृङ्गार लीलाओं के पूरे ६ सर्गों के विस्तृत वर्णन ने वीर रस को दबोच-सा लिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि माघ वीर रस के सफल चित्रकार नहीं हैं। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनों के सफल चित्रकार हैं। यहाँ दिग्दर्शन के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। वीर रस का उदाहरण लीजिये—

> आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
> मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
> आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
> दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥ १८।८० ॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत (विपक्षी) राजाओं की सेनाओं का बड़े-बड़े तरङ्गों वाली भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ इस प्रकार युद्ध होने लगा जिस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का समुद्र के बड़े-बड़े तरङ्गों वाले प्रवाहों से गम्भीर ध्वनि के साथ संघात (टक्कर) होता है।

माघ का अष्टादश सर्ग युद्धवर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के चित्रवत् वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। अन्यत्र भी माघ के वीर रस के चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। माघ के पद-विन्यास की धीर और गम्भीर गति उनके चित्र में एक अपूर्व शोभा को ला देती है। रावण के साथ वरुण के युद्ध का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है— युद्ध के समय वरुण रावण पर नागपाश फेंकता है, नागपाश रावण की ओर चलता है उसे देखकर रावण क्रोध से हुङ्कार करता है. तो नागपाश डरकर लौट पड़ता है और वह सर्पराजपाश भयभीत होकर वेगपूर्वक प्रहार करने वाले वरुण के गले में जाकर लिपट जाता है—

> रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
> प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभया प्रपेदिरे ॥ १।५६ ॥

माघ का मन वीर रस से भी अधिक शृङ्गार के वर्णन में रमता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उन्होंने सम्भोग शृङ्गार का ही अधिक वर्णन किया है। उनके षड्ऋतु वर्णन, वनविहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि सम्भोग शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं विप्रलम्भ शृङ्गार का भी वर्णन है। उनके शृङ्गारिक पद्यों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥ ३।१६॥

जिस-जिस प्रिया को प्रिय श्रीकृष्ण ने देखा उसने लज्जा से मुख को नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियाँ उस प्रियतम कृष्ण पर ईर्ष्यावश निर्भय होकर एक साथ अपने कटाक्षों से प्रहार करने लगीं।

और भी देखिये—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः॥११।१३॥

अर्थात् प्रातःकाल हो गया है। रात्रि की रतिक्रीडा से थककर सोये हुए दम्पत्तियों में से नायिकायें पहले जाग गयी हैं, परन्तु वे अपने शरीर को इसलिये नहीं हिलाती डुलाती हैं कि कहीं उनके हाथ के हट जाने से उनके प्रियतम की नींद न टूट जाय।

महाकवि माघ ने रसाभिव्यक्ति के अनुकूल भावाभिव्यञ्जना भी की है। वीर रस के स्थायिभाव उत्साह का बीज प्रथम सर्ग में दिखाया गया है। प्रथम सर्ग में उनके आलम्बन विभाव शिशुपाल का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल में युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के प्रति कठोर वचन उद्दीपन विभाव हैं और सप्तदश सर्ग में अनुभावों का वर्णन किया गया है। शृङ्गार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों का भी कवि ने सफल चित्रण किया है। परन्तु शृङ्गार के सञ्चारी भावों के चित्रण में वे इतने सफल नहीं हुए है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि माघ वीररस तथा शृङ्गाररस दोनों के ही सफल चित्रकार हैं। परन्तु उनका शृङ्गार अत्यन्त विलासमय हो गया है जो कि सहृदयों के हृदय में खटकता है। वस्तुतः माघ प्रेम के कवि न होकर प्रेमकला के कवि हैं। वे नायिका के हाव-भाव या नखशिख वर्णन आदि के द्वारा ही भाव पक्ष की कमी को पूरा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

माघ का प्रकृति-वर्णन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं तो षष्ठ सर्ग के प्रकृति-वर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। परन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग का प्रकृति-वर्णन सरल है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात-वर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है और वह भी सम्भोग शृङ्गार की प्रकृति।

किन्तु बीच-बीच में वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। माघ का प्रकृति-वर्णन मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—(१) यमक वाला प्रकृति-वर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति-वर्णन। प्रथम प्रकार में आनेवाला चतुर्थ सर्ग का प्रकृति-वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता है जब कि छठे सर्ग का प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। इस छठे सर्ग में दूसरी दो कोटियों के शृङ्गार का भी समावेश है। यमक, श्लेष और शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का वर्णन कितना सुन्दर है—

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाञ्जगतीधरम् ॥ ३।२५ ॥

चमकती हुई चञ्चल बिजलीवाली सघन बादलों से भरी मेघ पंक्ति अपने उचित समय पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई जैसे चञ्चल नेत्रों वाली, पुष्ट यौवन वाली नायिका अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा में न डालती हुई उसके पास में उपस्थित होती है।

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। पश्चिम दिशा अस्त होनेवाले निस्तेज सूर्य को इस प्रकार घर से निकाल देती है जिस प्रकार वेश्या धनरहित व्यक्ति को—'निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका' (९।१०)। प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से भागता हुआ इस तरह नजर आता है जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो—'उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।' ११।६५ ॥

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान के प्रकृति-वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकालीन सूर्य का बाल रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है।

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥ ११।४७ ॥

उदयाचल के शिखररूपी आङ्गन में रेंगता (घुटनों के बल चलता) हुआ कमलिनियों के द्वारा कमल रूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (अनुष्ण किरणाग्र) बालसूर्य पक्षियों के कलरव के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) आकाश की गोदी में जा रहा है। इस पक्ष में श्लेष अतिशयोक्ति तथा रूपक का सङ्कर पाया जाता है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैव निम्नगाः ॥ ४।४७॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी (रैवतक की) गोद में लेटा करती हैं। अतः ये रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति

समुद्र से मिलने जा रही हैं। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति-वर्णन का खास सौन्दर्य अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है।

बालबोधिनी की विशेषता

इस टीका में अवतरण, अन्वय, पर्याय, भावार्थ, कोश, समास, व्याकरण तथा हिन्दी अनुवाद एवं विषम स्थलों पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

समास विग्रह आदि में संक्षेप नहीं किया गया है किन्तु छात्रों की सुविधा के लिये प्रायः पूरा पूरा समास व विग्रह दिया गया है। पर्याय भी एक-एक शब्द के २–३ दिये हैं। इससे विद्यार्थियों को स्वयं पर्याय बनाने का अभ्यास हो सकेगा। पर्यायों में भी प्रचलित एवं सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याख्या में—छन्द, अलङ्कार तथा ध्वनि आदि का यथास्थान समुचित निर्देश किया गया है जिससे छात्र तथा अध्यापक सभी लाभ उठा सकें।

हिन्दी अनुवाद में अन्वय के अनुसार अक्षरशः अर्थ किया गया है जिससे कि छात्रों को शब्दार्थ समझने में कठिनाई न हो। कठिन स्थलों को सुबोध बनाने के लिये टिप्पणियों द्वारा अर्थ स्पष्ट किया गया है। सम्बन्धित पौराणिक कथायें भी टिप्पणी में दे दी गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में गवेषणापूर्ण भूमिका एवं कथासार भी राष्ट्रभाषा में लिखे गये हैं।

यद्यपि इस टीका के निर्माण में हमारा कोई आलोचनात्मक लक्ष्य नहीं रहा है। हाँ कवि के अन्तस्तल में पहुँचाने का अवश्य प्रयत्न किया है। इसी लिये हमें यत्र-तत्र व्याख्यानों का निराकरण करना पड़ा है जिससे कि पाठक गण इन व्याख्यानों से भ्रान्ति में न पड़कर वास्तविकता को समझें।

इस प्रकार यह संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। परीक्षार्थियों के लिए इतनी अधिक सुविधा अभी तक सुलभ किसी संस्करण में नहीं थी जैसी सुन्दर उपयोगी व्यवस्था बालबोधिनी में रखी गई है।

इस संस्करण से यदि विद्वानों एवं छात्रों को कुछ भी लाभ एवं सन्तोष हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूंगा।

विदुषां वंशवदः—
रामजीलाल शर्मा

संक्षिप्त कथासार

तृतीय सर्ग

[द्वारिकापुरी से श्रीकृष्ण भगवान् के प्रस्थान का तथा द्वारकापुरी एवं समुद्र का वर्णन ।]

उद्धव के राजनीति के वचनों को सुनकर शिशुपाल से साथ युद्ध का विचार स्थगित कर युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान किया। उन्होंने अनेक प्रकार के बहुमूल्य श्वेतच्छत्र, चामर, मुकुट, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, मुक्ताहार, कौस्तुभमणि, मेखला एवं पीताम्बर को धारण किया। साथ में सुदर्शनचक्र, कौमोदकी गदा, खड्ग, शार्ङ्ग धनुष और पाञ्चजन्य शङ्ख को ग्रहण किया। इसके बाद अप्रतिहत गति वाले रथ पर सवार हुए। उस पर वरुण की ध्वजा फहरा रही थी। उनके पीछे यादवों की विशाल सेना चल रही थी। उनको देखने के लिये नगर के नर-नारियों की भीड़ आगे निकलने वाली गलियों के रास्ते में पहले ही पहुँच जाती थी। भीड़ के कारण मन्द गति से जाते हुए रथ पर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण को यह ज्ञात भी नहीं हुआ कि वे कब द्वारका के बाहर निकल आये।

बाहर आने पर उन्होंने द्वारकापुरी को देखा, जो कि सुवर्णमयी होने से समुद्र के बीचों-बीच उसे विदीर्ण कर ऊपर निकली हुई वड़वानल की ज्वाला-सी शोभित हो रही थी। इसके बाजारों में दूकानों पर बहुमूल्य रत्नों के ढेर लगे हुए थे। उसकी अट्टालिकाएँ तथा परकोटे बहुत ऊँचे एवं चिकने थे तथा इन पर बनाये हुए चित्र सजीव जैसे प्रतीत होते थे। अप्सराओं के समान सुन्दर वहाँ की रमणियाँ सदा अपने मान को छोड़कर कामोत्कण्ठित रहती थीं। ऐसी द्वारकापुरी को देखते हुए जब भगवान् श्रीकृष्ण बाहर निकल आये तो द्वारकापुरी स्वयं उदास-सी हो गई।

वहाँ से आगे बढ़ने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने समुद्र को देखा। उसमें अनेक नदियाँ आकर मिल रही थीं उससे निकलते हुए फेन तथा चञ्चल तरङ्ग एवं गम्भीर ध्वनि, उसके मृगी का रोगी होने का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। वहाँ की शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु से सैनिकों का श्रम दूर हो जाता था। ऐसे समुद्रतट पर पड़ाव डालकर सैनिकों ने लवङ्ग के फूलों का कर्ण-भूषण पहना और छक कर नारियल का पानी पीया, कच्ची सुपारियों का भक्षण किया। इस प्रकार के कृत्य करते हुए वे समुद्र से बहुत दूर निकल गये।

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

तृतीयः सर्गः

अथ तृतीयसर्गमारभमाणो महाकविर्माघः श्रीकृष्णस्य हस्तिनापुरं प्रति प्रस्थानमाह—

कौबेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ १ ॥

अन्वयः—अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः (अत एव-) कौबेरदिग्भागम् अपास्य आगस्त्यं मार्गम् अवतीर्णः उष्णांशुः इव (स्थितः) हरिः हरिप्रस्थं प्रतस्थे ।

बालबोधिनी—अथ = उद्धववचनश्रवणानन्तरम् । अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः= निवृत्तरणरसिकत्वनिराकुलः । उक्तं हि पूर्वम्–'आसीत्कार्यद्वयाकुलः' इति । सम्प्रति तु शान्तक्रोधत्वात्प्रसन्न इति भावः । (अत एव-) कौबेरदिग्भागं=उत्तराशाम्, उत्तरायणमित्यर्थः । अपास्य = त्यक्त्वा । आगस्त्यं=अगस्त्यर्षिसेवितम् । मार्गं= पन्थानम्, दक्षिणं दिशम् । दक्षिणायनमित्यर्थः । अवतीर्णः =प्राप्तः । उष्णांशुरिव= सूर्य इव (स्थितः) । अनेन यथा सूर्ये दक्षिणायनं प्राप्ते सति तत्तेजः सह्यं भवति, परमुत्तरायणप्राप्त्यनन्तरं तु तदसह्यमेव भविष्यति, तथैव श्रीकृष्णस्य क्रोधोऽपि कार्यवशात्कियत्कालपर्यन्तं शान्तो जातः न त्वेकान्ततो निवृत्त इतिध्वनितम् । हरिः=श्रीकृष्णः । हरिप्रस्थं=इन्द्रप्रस्थम्, हस्तिनापुरम् । प्रतस्थे=प्रचचाल । उपमालङ्कारः । सर्गेऽस्मिन्निन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणादुपजातिवृत्तम् यदुक्तम्— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः,' 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' तथा 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ।

कोशः—'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः। 'इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः' इति हलायुधः।

समासः—कुबेरस्येयं कौबेरी, कौबेरी चासौ दिक् चेति कौबेरदिक् (क० धा०) तस्याः भागस्तम् कौबेरदिग्भागम् (ष० त०)। अगस्त्यस्यायमागस्त्यः, तम्—आगस्त्यम्। युद्धस्य अभिनिवेशः युद्धाभिनिवेशः (ष० त०), अपेतः युद्धाभिनिवेशः यस्य सः, अपेतयुद्धाभिनिवेशः (ब० व्री०), स चाऽसौ सौम्यश्च, अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः (क० धा०)।

व्याकरणम्—कौबेरदिक्—कुबेरशब्दात् 'तस्येदम्' (४।३।१२०)-इत्यणि कृते 'स्त्रियाः पुंवत्' (६।३।३३) इत्यादिना पुंवद्भावः। प्रतस्थे—प्र+स्था+लिट्—त—एश 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम्।

हिन्दी—इस (उद्धव के वचन सुनने) के बाद युद्ध का आग्रह दूर हो जाने से प्रसन्न तथा कुबेर की दिशा (उत्तरदिशा) के भाग अर्थात् उत्तरायण को छोड़कर अगस्त्य के मार्ग (दक्षिण दिशा) अर्थात् दक्षिणायन को प्राप्त हुए सूर्य के समान (सह्यतेज) श्रीकृष्ण भगवान् ने हस्तिनापुर को प्रस्थान किया॥ १॥

अथास्य प्रस्थानसन्नाहं वर्णयन्नादौ छत्रधारणमाह—

जगत्पवित्रैरपि तं न पादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे॥ २॥

अन्वयः—अर्कः जगत्पूज्यं तम् (अत एव) जगत्पवित्रैः अपि पादैः स्प्रष्टुं न अयुज्यत, यतः तस्य बृहत् पार्वणचन्द्रचारु आतपत्रं बिभराम्बभूवे।

बालबोधिनी—अर्कः=सूर्यः। जगत्पूज्यं=त्रैलोक्यवन्द्यम्। तं=श्रीकृष्णम्। (अत एव-) जगत्पवित्रैरपि=संसारपावनसमर्थैरपि। पादैः=चरणैः, किरणैश्च। स्प्रष्टुं=छोप्तुम्। न अयुज्यत=न योग्योऽभूत्। यतः=यस्मात् कारणात्। तस्य=श्रीकृष्णस्य। बृहत्=विपुलम्, विशालम्। पार्वणचन्द्रचारु=पूर्णिमाचन्द्रमनोहरम्, पूर्णेन्दुसुन्दरमित्यर्थः। आतपत्रं=छत्रम्। बिभराम्बभूवे=दध्रे। 'पार्वणचन्द्रचारु' इत्यत्र उपमालङ्कारः।

कोशः—'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। 'छत्रं त्वातपत्रम्' इत्यमरः।

समासः—जगतः जगति वा पवित्राः जगत्पवित्राः तैः जगत्पवित्रैः (षष्ठी सप्तमी वा तत्पुरुषः)। जगतः पूज्यः जगत्पूज्यः (ष० त०) तम्—जगत्पूज्यम्। पर्वणि भवः पार्वणः, पार्वणश्चासौ चन्द्रश्च पार्वणचन्द्रः (क०

धा०), स इव चारु पार्वणचन्द्रचारु (उपमित०)। आतपात् त्रायते इति आतपत्रम् ।

व्याकरणम्—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, 'सुपि' (३।२।४) इति योगविभागात् सुबन्ते उपपदे त्रैङः धातोः कप्रत्ययः। बिभराम्बभूवे भृञो धातोः कर्मणि लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (३।१।३९) इति विकल्पादाम्प्रत्ययः।

हिन्दी—(यात्रा की तैयारी का वर्णन करते हुए पहले छाता लगाने का वर्णन करते हैं—) सूर्य, संसार के पूजनीय उन श्रीकृष्ण भगवान् को, संसार को पवित्र करने वाली (या संसार में पवित्र) भी (अपनी) किरणों से छूने में समर्थ नहीं हुआ। क्योंकि उनके ऊपर विशाल तथा पूर्णिमा के चन्द्र के समान सुन्दर (अर्थात् शुभ्र) एवं मनोहर छाता लगा हुआ था ॥ २ ॥

अथास्य चामरधारणं वदति—

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः।
भेजेऽभितः पातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥ ३ ॥

अन्वयः—मृणालसूत्रामलं चलच्चामरयोः द्वयम् अन्तरेण स्थितः सः अभितः पातुकसिद्धसिन्धोः अम्बुराशेः अभूतपूर्वां रुचं भेजे।

बालबोधिनी—मृणालसूत्रामलं = बिसतन्तुविशदम्, पद्मिनीतन्तुनिर्मलम्। चलच्चामरयोर्द्वयम् = वीजनात् कम्पितप्रकीर्णयोर्द्वयम्। अन्तरेण = मध्ये। अभितःपातुकसिद्धसिन्धोः = उभयतःप्रविशत्त्रिपथगस्य, उभयतःपतनशीलदेवसरितः अम्बुराशेः=समुद्रस्य। अभूतपूर्वां=पूर्वमभूताम्। रुचं=कान्तिम्, शोभाम्। भेजे=आप। मृणालसूत्रामलमित्यत्रोपमा। अन्नान्यस्य शोभां कथमन्यो वहत्विति तत्सदृशरुचमवगमयत्हरेरम्बुराशेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयतीति निदर्शनालङ्कारः। सा चाम्बुराशेः सम्भावनामात्रोक्त्या अभितःपातुकसिद्धसिन्धुसम्बन्धमूलया असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या सङ्कीर्यते। निदर्शना चाऽत्र प्रधाना तत्पोषिका चातिशयोक्तिः।

कोशः—'मृणालं विसमब्जादिकदम्बे' इत्यमरः। 'चामरं तु प्रकीर्णकम्' इत्यमरः।

समासः—मृणालस्य सूत्रमिति मृणालसूत्रम् (ष० त०), तदिवामलं मृणालसूत्रामलम् तत्—मृणालसूत्रामलम् (उपमित-समासः)। द्वौ अवयवौ यस्य समुदायस्य तद् द्वयम्। चलन्ती च ते चामरे च चलच्चामरे (क० धा०) तयोः

चलच्चामरयोः। अभितः पातुकेति अभितःपातुका (सुप्सुपेति समासः) सिद्धानां सिन्धुः सिद्धसिन्धुः (ष० त०) अभितःपातुका सा चाऽसौ सिद्धसिन्धुश्च अभितःपातुकसिद्धसिन्धुः (क० धा०), अभितःपातुकसिद्धसिन्धु यस्य सः तस्य—अभितःपातुकसिद्धसिन्धोः (ब० व्री०)। पूर्वं भूता भूतपूर्वा, न भूतपूर्वा अभूतपूर्वा ताम्—अभूतपूर्वाम् (सुप्सुपेतिसमासः)।

व्याकरणम्—द्वयमिति—'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) इति द्वितीया। अभितः—'पर्यभिभ्यां च' (५।३।९) इति सूत्रेण तसिल् प्रत्ययः, सर्वोभयार्थवर्तमानाभ्यामिष्यते' इत्युभयार्थत्वम्। पातुकेति—'लषपतपद–' इत्यादिना उकञ् प्रत्ययः।

हिन्दी—(अब श्रीकृष्ण के चामरधारण का वर्णन करते हैं—) कमलनाल के तन्तुओं के समान शुभ्र (एवं निर्मल) तथा (डुलाने से) हिलते हुए दो चामरों के मध्य में स्थित उन श्रीकृष्ण भगवान् ने दोनों ओर से गिरने वाली आकाशगङ्गा (की धारा) वाले समुद्र की अभूतपूर्व (पहले कभी नहीं होने वाली) शोभा को धारण किया ॥ ३ ॥

अथाष्टभिः श्लोकैरस्य प्रसाधनविधिं वर्णयन् मुकुटधारणमाह—

चित्राभिरस्योपरिमौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि ॥ ४ ॥

अन्वयः—अस्य उपरि मौलिभाजां मणीनाम् अनणीयसीभिः चित्राभिः भाभिः अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः गोवर्धनस्य आकृतिः अन्वकारि।

बालबोधिनी—अस्य = श्रीकृष्णस्य। उपरि = ऊर्ध्वदेशे। मौलिभाजां = मुकुटावबद्धानाम्, मुकुटगतानाम्। मणीनां = रत्नानाम्, मरकतपद्मरागादीनामित्यर्थः। अनणीयसीभिः = महतीभिः, सान्द्राभिः। चित्राभिः = अनेकवर्णाभिः। भाभिः = प्रभाभिः; दीप्तिभिः। अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः = विविधगैरिकमनःशिलादिधातुसम्भिन्नशिलासङ्घस्य, नानागैरिकप्रभृतिधातुमिश्रितप्रस्तरसमूहस्य। गोवर्धनस्य = एतन्नामकपर्वतस्य। आकृतिः = आकारम्, स्वरूपम्; सादृश्यमित्यर्थः। अन्वकारि = अनुकृता। सादृश्यं धृतमित्यर्थः। उपमालङ्कारः। अस्य श्लोकस्य रचना न विद्वन्मनोरञ्जिनी। अत्र श्रीकृष्णस्य गोवर्धन उपमानम्, भासां तु धातवः। अत एव भाभिर्धातव एवानुकर्तुं योग्याः न तु गोवर्धनः। स तु कृष्णेनैवानुकर्तुमुचितः। अत इत्थं वक्तव्यम्—'मौलिमणि-

मरीचिभिः भूषितेन कृष्णेनानेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि' इति।

कोशः—'रत्नं मणिर्द्वयोः' इत्यमरः। 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः।

समासः—मौलिं भजन्तीति मौलिभाजः, तेषां मौलिभाजाम्। अनेके च ते धातवश्चेति अनेकधातवः (क० धा०), अश्मनां राशयः अश्मराशयः (ष० त०), अनेकधातुभिः छुरिताः अश्मराशयो यस्य स तस्य अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः (तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः)।

व्याकरणम्—मौलिभाजाम्—मौलि + भज + ण्विः + आम्, 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति ण्विप्रत्ययः। अन्वकारि—अनु + कृ + कर्मणि लुङ्।

हिन्दी—(अब आठ श्लोकों द्वारा कृष्ण की मण्डन क्रिया का वर्णन करते हुए पहले मुकुट-धारण का वर्णन करते हैं–) इन भगवान् कृष्ण के ऊपर (फैलती हुई) मुकुट में जड़े हुए रत्नों की विविध वर्ण वाली सान्द्र (सघन) कान्तियों ने अनेक धातुओं से मिश्रित (विविध रङ्ग वाले गेरु, मैनसिल आदि) पाषाणसमूहों से युक्त गोवर्धन पर्वत के सादृश्य को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

कुण्डले च धृते इत्याह—

तस्योल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा ।
अवाप बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनामिवोरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्य उरः उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् अवाप इव।

बालबोधिनी—तस्य—श्रीकृष्णस्य। उरः = वक्षःस्थलम्। उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा = देदीप्यमानसुवर्णकर्णवेष्टनाग्रभागस्यूतमरकतमणिदीप्त्या। बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् = शैशवाभ्यस्तमयूरबर्हनिर्मितमालिकाम्। अवाप = प्राप्तवत्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्।

कोशः—'कुण्डलं कर्णवेष्टनम्' इत्यमरः। 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्ये' इति यादवः। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः।

समासः—उल्लसन्ती च ते काञ्चनकुण्डले उल्लसत्काञ्चनकुण्डले (क० धा०) तयोः अग्रम्—उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रम् (ष० त०), तत्र प्रत्युप्ते (स० त०) ते च ते गारुत्मतरत्ने (क० धा०) तयोर्या भाः, तया उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्र-

प्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा (त० पु०)। बाल्ये उचितम् = बाल्योचितम् (स० त०) नीलकण्ठस्य पिच्छम्—नीलकण्ठपिच्छम् (ष० त०), बाल्योचितं च तत् नीलकण्ठपिच्छं च बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छम् (क० धा०) तेन निर्मिता अवचूडा—बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडा, तस्याः कलना ताम्—बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् (उत्तरपदलोपी ष० त०)।

व्याकरणम्—'बाल्य' इत्यत्र बालशब्दाद् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४) इति ष्यञ्प्रत्ययः। अवाप—अव + आप्लृ + लिट् + तिप् णल्।

हिन्दी—(अब कुण्डल पहनने का वर्णन करते हैं—) उन श्रीकृष्ण भगवान् का वक्षःस्थल चमकते हुए सुवर्णकुण्डलों के अग्रभागों में जड़े हुए पन्नारूप मणियों की कान्ति से बचपन (में धारण करने) के योग्य या (बचपन में) अभ्यस्त मयूर पङ्ख की माला-धारण को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—भगवान् श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल श्यामवर्ण का है, उसपर स्वर्णकुण्डलों में जड़े हुए हरे रङ्ग के मरकत मणि की कान्ति पड़कर ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो बचपन में पहनने योग्य मयूर-पङ्ख की माला पहने हुए हों ॥ ५ ॥

अङ्गदे च धृते इत्याह—

> तमङ्गदे मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया मणीनाम्।
> बंहीयसा दीप्तिवितानकेन चकासयामासतुरुल्लसन्ती ॥ ६ ॥

अन्वयः—तं मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया बंहीयसा मणीनां दीप्तिवितानकेन उल्लसन्ती अङ्गदे चकासयामासतुः।

बालबोधिनी—तं=श्रीकृष्णम्। मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया=मन्दराचलशिखराग्रसंघर्षणरूपशाणोल्लेखनया। बंहीयसा=बहुतरेण, घनेन। मणीनाम्=रत्नानाम्। दीप्तिवितानकेन=तेजःपुञ्जेन, प्रभामण्डलेन। उल्लसन्ती=दीप्यमाने, चकासमाने। अङ्गदे=केयूरे। चकासयामासतुः=आदीपयताम्, शोभितं चक्रतुः। श्रीकृष्णोऽङ्गदे धृतवानिति भावः। अमृतमथनकाले हि हरिबाहवः मन्थिता जाताः। तस्मिन् समये मन्दराचलसम्पेषणेनाङ्गदे उज्वले सम्पन्ने। अनेन कृष्णस्य शेषशयित्वं स्मार्यते।

कोशः—'केयूरमङ्गदं तुल्ये' इत्यमरः।

समासः—मन्दरस्य कूटानि मन्दरकूटानि (ष० त०), तेषां याः कोटयः मन्दरकूटकोटिकोटयः (ष० त०), तासां ताभिर्वा व्याघट्टना मन्दरकूटकोटिव्याघट्टना (त० पु०), सैव उत्तेजना तया मन्दरकूटव्याघट्टनोत्तेजनया। दीप्तेः वितानकम्—दीप्तिवितानकम् (ष० त०) तेन दीप्तिवितानकेन।

व्याकरणम्—चकासयामासतुः—'चकासृ दीप्तौ' इति धातोर्ण्यन्तादाम् उल्लसन्ती—उद् + लस + शतृ।

हिन्दी—उन श्रीकृष्ण भगवान् को मन्दराचल (के अधोभाग) के शिखरों के अग्रभाग के रगड़रूप शाणोल्लेख (शान चढ़ाने) से सघन (बढ़े हुए) मणियों के दीप्ति समूह से चमकते हुए दो केयूरों (बाजूबन्दों) ने शोभित किया। पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है॥ ६॥

अथास्य वलयधारणमाह—

निसर्गरक्तैर्वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैर्नखाग्रैः।
व्यद्योतताद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैरिवाऽसौ॥ ७॥

अन्वयः—असौ निसर्गरक्तैः वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः (अत एव) अद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैः इव नखाग्रैः व्यद्योतत।

बालबोधिनी—असौ=श्रीकृष्णः। निसर्गरक्तैः=स्वभावलोहितैः। (किञ्च) वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः कटकप्रोतपद्मरागमणिकिरणसम्मिलितैः। (अत एव-) अद्यापि=साम्प्रतमपि। अपीति विस्मये। सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैः=हिरण्यकशिपूरोविदारणोत्पन्नरुधिरक्षालितैः। इव, स्थितैः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। नखाग्रैः=कररुहाग्रैः। व्यद्योतत=शुशुभे। श्रीकृष्णः कटके धृतवानित्यर्थः। 'अद्योतत' इति पाठेऽपि तुल्य एवार्थः। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'पुनर्भवो कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—निसर्गेण रक्ताः निसर्गरक्ताः तैः निसर्गरक्तैः (तृ० त०)। वलययोः अवनद्धाः वलयावनद्धाः (स० त०), ते च ते ताम्राश्मानः वलयावनद्धताम्राश्मानः (क० धा०) तेषां रश्मयः—वलयावनद्धताम्राश्मरश्मयः (ष० त०) तैः छुरितैः वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः (तृ० त०)। नखानाम् अग्राणि नखाग्राणि, तैः (ष० त०)। सुराणाम् अरिः सुरारिः (ष० त०) तस्य वक्षः सुरारिवक्षः (ष० त०), तस्य विक्षोभः, सुरारिवक्षोविक्षोभः (ष० त०)

तेन जाता सा चाऽसौ असृक् च, सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक् (क० धा०) स्नपितैः सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैः (तृ० त०)।

व्याकरणम्—स्नपितैः—'ष्णा शौचे' इति धातोः ण्यन्तात् क्तः, 'अर्तिह्रीव्ली रीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ' (७।३।३६) इति पुगागमः, मितां ह्रस्वः, । व्यद्योतत— वि + द्युत–लङ्— त ।

हिन्दी—वह (भगवान् श्रीकृष्ण) स्वभाव से लालवर्ण तथा कङ्कणों में जड़ित पद्मरागमणियों की किरणों से मिश्रित अत एव इस समय भी हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल के विदीर्ण करने से उत्पन्न रक्त से रँगे हुए के समान मालूम पड़ने वाले नाखूनों के अग्रभागों से शोभित हो रहे थे (अर्थात् श्रीकृष्णजी ने कङ्कण धारण किये) ॥ ७ ॥

अथास्य हारधारणमाह—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तमालनीलम् आमुक्तमुक्ताऌतम् अस्य वक्षः, आकाशगङ्गापयसः उभौ प्रवाहौ व्योम्नि पृथक् पतेताम् यदि तेन उपमीयेत ।

बालबोधिनी—तमालनीलम्=तमालाख्यतरुवन्नीलवर्णम् । आमुक्तमुक्तालतम्=आसञ्जितमुक्ताहारम्, बद्धमौक्तिकहारम् । अस्य=श्रीकृष्णस्य । वक्षः=उरः । आकाशगङ्गापयसः=स्वर्गनदीजलस्य । उभौ=द्वौ । प्रवाहौ=स्रोतसी । व्योम्नि=आकाशे । पृथक्=भिन्नौ, विश्लिष्टौ । पतेताम्=प्रवहेताम् । यदि=चेत् । तेन=आकाशेन । उपमीयेत=समीक्रियेत, सदृशीक्रियेत । नास्योपमानं किञ्चित् पश्याम इति भावः । अयं मुक्ताहारं धृतवानित्यर्थः । अत्र व्योमगङ्गाप्रवाहद्वयासम्बन्धेऽपि सम्भावनायां सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः ।

कोशः—'प्रवाहस्तु प्रवृत्तौ स्यादपि स्रोतसि वारिणः' इत्यमरः ।

समासः—तमाल इव नीलम्—तमालनीलम् (उपमित०) । आमुक्ते च ते मुक्तालते आमुक्तमुक्तालते (क० धा०) ते स्तः यस्मिन् तत् आमुक्तमुक्तालतम् (ब० व्री०) । आकाशस्य गङ्गा आकाशगङ्गा (ष० त०) तस्याः पयः आकाशगङ्गापयः (ष० त०) तस्य–आकाशगङ्गापयसः ।

व्याकरणम्—पतेताम्—पत + सम्भावनायां लिङ् + तस् ।

हिन्दी—(अब मुक्ताहार पहनने का वर्णन करते हैं—) तमाल वृक्ष के समान श्यामवर्ण तथा मोतियों की माला पहने हुए भगवान् कृष्ण का वक्षस्थल, यदि आकाशगङ्गा के दो प्रवाह आकाश में अलग-अलग दोनों ओर से गिरें तो उस आकश के साथ उपमित हो सकता है (अर्थात् कृष्ण ने मोतियों के हार को धारण किया) ॥ ८ ॥

अथास्य कौस्तुभमणिधारणमाह—

तेनाम्भसां सारमयः पयोधेर्दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः ।
अन्तर्वसन्बिम्बगतस्तदङ्गे साक्षादिवालक्ष्यत यत्र लोकः ॥ ९ ॥

अन्वयः—तेन दीधितिदीपिताशः पयोधेः अम्भसां सारमयः मणिः दध्रे, यत्र बिम्बगतः लोकः तदङ्गे साक्षात् अन्तर्वसन् इव अलक्ष्यत ।

बालबोधिनी—तेन = श्रीकृष्णेन । दीधितिदीपिताशः = स्वमरीचिप्रकाशितकाष्ठः दिगन्तविश्रान्ततेज इत्यर्थः । पयोधेः = जलधेः, समुद्रस्य । अम्भसां = जलानाम् । सारमयः = सारस्य विकारः सारमयः अथवा प्रधानभूतः । मणिः = समुद्रमन्थनोत्थः कौस्तुभमणिः । दध्रे = धृतः । यत्र = मणौ । बिम्बगतः = प्रतिबिम्बगतः, प्रतिबिम्बित इत्यर्थः । लोकः = बाह्यप्रपञ्चः । तदङ्गे = श्रीकृष्णशरीरे । साक्षात् = बहिः प्रत्यक्षेण लक्ष्यमाण इत्यर्थः । अन्तर्वसन् = अन्तर्गतः । लोक इव = जगदिव । अलक्ष्यत = अदृश्यत । यत्र कौस्तुभमणौ प्रतिबिम्बितो बाह्यलोकस्तदङ्गे एव प्रतिफलितः कुक्षिस्थलोक इवादृश्यतेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः ।

समासः—दीधितिभिः दीपिता आशा येन सः दीधितिदीपिताशः (ब० व्री०)। बिम्बं गतः बिम्बगतः (द्वि० त०) ।

व्याकरणम्—सारमयः—सारशब्दाद् विकारार्थे शुद्धे स्वार्थे वा मयट् प्रत्ययः । दध्रे–धृञ् धारणे कर्मणि लिट्–त–एश् । अलक्ष्यत–लक्ष+कर्मणि लङ्–त ।

हिन्दी—उन श्रीकृष्ण ने (अपनी) किरणों से दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, समुद्र के जलों के साररूप (कौस्तुभ) मणि को धारण किया । जिस (कौस्तुभ मणि) में प्रतिबिम्बित बाह्यजगत् भीतर स्थित (कुक्षिस्थ लोक की तरह से दीखता था ॥ ९ ॥

अस्य रसनाधारणमाह—

मुक्तामयं सारसनावलम्बि भाति स्म दामाप्रपदीनमस्य ।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैस्त्रिस्रोतसः सन्ततधारमम्भः ॥ १० ॥

अन्वयः—अस्य मुक्तामयं सारसनावलम्बि आप्रपदीनं दाम अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतम् ऊर्ध्वम् उच्चैः त्रिस्रोतसः सन्ततधारम् अम्भ इव भाति स्म ।

बालबोधिनी—अस्य=श्रीकृष्णस्य । मुक्तामयं=मुक्ताप्रचुरम् । सारसनावलम्बि=कटिसूत्रावलम्बि । आप्रपदीनं=पादाग्रगामि । दाम=मुक्तासरः । अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतं = अङ्गुष्ठनिःसृतम् । ऊर्ध्वं=ऊर्ध्वप्रवाहम् । उच्चैः=उन्नतम् । त्रिस्रोतसः=त्रिपथगायाः, मन्दाकिन्याः । सन्ततधारं=अविच्छिन्नप्रवाहम् । अम्भ इव=जलमिव । भाति स्म = शोभते स्म शुशुभे । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'क्लीबे सारसमं चाथ पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिषु' इत्यमरः । 'पादाग्रं प्रपदं पादः' इत्यमरः ।

समासः—मुक्ताः प्रकृताः (प्राचुर्येण प्रोताः) यत्र तत् मुक्तामयम् । सारसने सारसनं वा अवलम्बते इति सारसनावलम्बि (उपपदसमासः) । पदस्य प्रारम्भः प्रपदम्, आ (समन्तात्) प्रपदं प्राप्नोतीति आप्रपदीनम् (आदि त० पु०) । अङ्गुष्ठात् निष्ठ्यूतम्—अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतम् (प० त०) ।

व्याकरणम्—मुक्तामयम्—मुक्ताशब्दात् 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (५।४।२१) इति मयट् । आप्रपदीनम्—आ+प्र+पद+खश्—ईन् ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् की मोतियों से प्रचुरतया ग्रथित करधनी पर (से नीचे की ओर) लटकने वाली तथा पादाग्र तक पहुँचने वाली मोतियों की लड़ी (विष्णु अवतार भगवान् कृष्ण के) अँगूठे से निकले हुए निरन्तर प्रवाहित जल जैसी शोभित होती थी ॥ १० ॥

अथ हरेः पीतवस्त्रधारणमाह—

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्चूरपिशङ्गवासाः ।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः ॥ ११ ॥

अन्वयः—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्तिः कर्चूरपिशङ्गवासाः सः, विसृत्वरैः अम्बुरुहां रजोभिः चित्रः यमस्वसुः उदभार इव रराज ।

बालबोधिनी—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्तिः=असितमणिकुट्टिमश्यामदेहः । पुनः कथंभूतः—कर्चूरपिशङ्गवासाः = हरितालवत्पीताम्बरः । सः = श्रीकृष्णः ।

विसृत्वरैः = प्रसरणशीलैः, विसारिभिः । अम्बुरुहां=कमलानाम्, अम्बुजानाम् । रजोभिः= परागैः । चित्रः=चित्रवर्णः । यमस्वसुः = यमुनायाः । उदभारः= जलराशिः । इव = यथा । रराज=शुशुभे । स पीतवस्त्रं दधारेति भावः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'हरितालं तु कर्चूरम्' इति वैजयन्ती । 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः ।

समासः—नीला चाऽसौ मूर्तिश्च नीलमूर्तिः (क० धा०) इन्द्रनीलस्य स्थलम्— इन्द्रनीलस्थलम् (ष० त०), इन्द्रनीलस्थलमिव नीलमूर्तिः यस्य सः— इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्तिः (ब० व्री०) । कर्चूरमिव पिशङ्गं वासो यस्य सः— कर्चूरपिशङ्गवासाः (ब० व्री०) । यमस्य स्वसा यमस्वसा (ष० त०), तस्याः यमस्वसुः । उदकस्य भारः—उदभारः (ष० त०) ।

व्याकरणम्—विसृत्वरैः—वि-पूर्वात् सृधातोः 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) इति क्वरप्, ततस्तुगागमे रूपम् । उदभारः—'मन्थौदनसक्तु-विन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च' इत्युदकस्योदादेशः ।

हिन्दी—इन्द्रनीलमणि के फर्श के समान श्याम शरीर वाले तथा हरिताल के समान पीत वस्त्र वाले वे श्रीकृष्ण भगवान्, फैलने वाले कमलों के परागों से विचित्र यमुना की जलराशि के समान शोभित होते थे ॥११॥

विविधभूषणभूषितस्य हरेः शोभामाह—

प्रसाधितस्यास्य मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता साऽनन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रसाधितस्य अस्य मधुद्विषः अन्या एव लक्ष्मीः अभूत्, इति एतत् युक्तम्, हि सा अशेषे वपुषि (वसति किञ्च—) अखिललोककान्ता, इतरा तु अनन्यकान्ता उरसि ।

बालबोधिनी—प्रसाधितस्य = अलङ्कृतस्य । अस्य = पूर्वोक्तस्य । मधु-द्विषः=मधुदैत्यरिपोः श्रीकृष्णस्य । अन्यैव=अपरैव, असदृशी विभिन्ना च । लक्ष्मीः = शोभा, पद्मा च । अभूत् = अभवत् । इत्येतद् युक्तमेव = उचितमेव । अवर्णनीयैव कान्तिर्यदभूत्, तद् भूषितत्वाद् युक्तमेवेति भावः । हि = यस्मात् । सा=प्रसाधनरूपा लक्ष्मीः । अशेषे = सम्पूर्णे । वपुषि = शरीरे । वसतीति शेषः । किञ्च—अखिललोककान्ता=समग्रलोकप्रिया । भगवतः कृष्णस्य शोभा हि सर्वस्यैव मनोहारिणी । सर्व एवास्य देहभूषां कामयते इति भावः । इतरा =

प्रसाधनेतरा पद्मा रूपा हरेः धर्मपत्नीत्यर्थः । तु=पुनः । अनन्यकान्ता= अनन्यप्रिया । अनन्यकामेति पाठेऽनन्याभिलषणीया, किन्तु तस्यैवेति भावः । उरसि=हृदि । उरस्येव वसतीत्यर्थः । प्रसाधितस्य श्रीकृष्णस्याभाधारितं शोभा जातेति भावः । अत्र श्लेषेण लक्ष्मीशब्देन वाच्यायाः शोभायाः प्रतीयमानया श्रिया सहाभेदाध्यवसायादियमन्यैव लक्ष्मीरित्यभेदे भेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

कोश.—'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः ।

समासः—मधुं द्वेष्टीति–मधुद्विट् (उपपदसमासः), तस्य मधुद्विषः। अखिलश्चाऽसौ लोकश्च अखिललोकः (क० धा०) तस्य कान्ता अखिललोककान्ता (ष० त०) अन्यस्य कान्ता अन्यकान्ता (ष० त०), सा न भवतीति अनन्यकान्ता (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—मधुद्विषः—मधु+द्विष्+क्विप्+ङस् ।

हिन्दी—विविध भूषणों से भूषित इन श्रीकृष्ण भगवान् की लक्ष्मी (शोभा, पक्षा०—कमलारूपप्रिया) दूसरी ही हुई यह उचित ही था, क्योंकि यह शोभा सम्पूर्ण शरीर में थी और समस्त लोकों की प्रिया (कान्ता) थी, परन्तु दूसरी तो केवल इनके हृदय में थी और किसी दूसरे की भी (पत्नी) नहीं थी ॥१२॥

अथैनमेवार्थभङ्ग्यन्तरेणाह—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ॥ १३ ॥

अन्वयः—कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य आनन्दिताशेषजना सर्वाङ्गसङ्गिनी लक्ष्मीः अपरा एव बभूव ।

बालबोधिनी—कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य = अररविस्तृतमनोहरवक्षःस्थलस्थितलक्ष्मीप्रियस्य । तस्य = श्रीकृष्णस्य । आनन्दिताशेषजना=हर्षितसकललोका । सर्वाङ्गसङ्गिनी = सम्पूर्णशरीरव्यापिनी। लक्ष्मीः=शोभा, रमा च । अपरा=अद्वितीया । एवेति निश्चये । बभूव= अभूत् । पूर्वोक्तरीत्यातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

कोशः—'कपाटमररं तुल्ये' इत्यमरः । 'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् । कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्' इत्यमरः ।

समासः—कपाटमिव विस्तीर्णम्–कपाटविस्तीर्णम् (उपमितसमासः), कपाटविस्तीर्णं च तन्मनोरमं च तच्चोरःस्थलं चेति कपाटविस्तीर्णमनोरमो-

स्थलम् (क० धा०), तस्मिन् स्थिता श्रीः ललना यस्य स तस्य कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य (ब० व्री०)। आनन्दिताः अशेषजनाः यया सा आनन्दिताशेषजना सर्वाङ्गे सर्वाङ्गमिति वा सङ्गिनी सर्वाङ्गसङ्गिनी

व्याकरणम्—बभूव—भू+लिट्–तिप्—णल् ततो वुगागमः।

हिन्दी—किवाड़ के समान विस्तृत एवं मनोहर वक्षःस्थल पर विराजमान लक्ष्मीरूप पत्नी वाले उन श्रीकृष्ण भगवान् की, सकल व्यक्तियों को आनन्दित करने वाली तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त अन्य ही लक्ष्मी (शोभा, पक्षा०—प्रिया) हुई ॥ १३ ॥

अथ तरुण्य एनं परिवव्रुरित्याह—

प्राणच्छिदां दैत्यपतेर्नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः स्तनौ तरुण्यः परिवव्रुरेनम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—भूषणताम् उपेयुषां दैत्यपतेः प्राणच्छिदां नखानां क्षतेन प्रकाशकार्कश्यगुणौ स्तनौ दधानाः तरुण्यः एनं परिवव्रुः।

बालबोधिनी—भूषणतां=मण्डनताम्। उपेयुषां=प्राप्तवताम्। न तु प्रहरणवतामिति भावः। दैत्यपतेः=हिरण्यकशिपोः। प्राणच्छिदां=प्राणमुषाम्, प्राणापहारिणाम्। वज्रादपि कठोराणामिति भावः। नखानां=करजानाम्। क्षतेन=व्रणेन। प्रकाशकार्कश्यगुणौ=प्रकटकाठिन्यगुणौ स्तनौ=कुचौ, स्तनानित्यर्थः। दधानाः=धारयन्त्यः तरुण्यः युवतयः, सुन्दर्यः। एनं=श्रीकृष्णम्। परिवव्रुः=पर्यवारयन्, वेष्टयामासुः। क्वचित् पूर्वार्धे=दैत्याधिपप्राणमुषां नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेनेति पाठस्तत्रभूषणतामुपेयुषेति 'क्षतेन' इत्यस्य विशेषणम्। अन्यत् सुगमम्। 'स्तनौ' इत्यत्र जातावेकवचने प्राप्ते जातिभूयस्सु स्तनादिषु जातेर्द्वित्वविशिष्टत्वाद् द्विवचनम्। यथाह वामनः—'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः' इति। अत्र हरिनखानां नरहरिनखभेदेऽप्यभेदोक्त्या, स्तनयोश्च तादृक्काठिन्याऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्ती, तयोश्चाङ्गाङ्गिभावेन स्थितत्वादङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

कोशः—'स्तनौ कुचौ' इत्यमरः। 'तरुणी युवतिः समे' इत्यमरः।

समासः—दैत्यानां पतिः दैत्यपतिः (ष० त०), तस्य दैत्यपतेः। प्राणान् छिनत्तीति प्राणच्छित्, ते प्राणच्छिदः, तेषां—प्राणच्छिदाम्। प्रकाशः कार्कश्यगुणो ययोस्तौ प्रकाशकार्कश्यगुणौ (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—तरुणी—तरुणशब्दाद् 'वयसि प्रथमे' (४।१।२०) इति ङीप्। प्राणच्छिदाम्—प्राण + छिद्–क्विप् 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इति क्विप्,

हिन्दी—(अब युवतियां भगवान् श्रीकृष्ण के चारों तरफ घिर आई यह कहते हैं—) भूषणता को प्राप्त तथा दैत्यराज हिरण्यकशिपु के प्राणों को हरने वाले (अर्थात् वज्र से भी कठोर) नखों के घाव से स्पष्ट रूप से कठोरता को प्रकट करने वाले स्तनद्वय को धारण करती हुई युवतियों ने इन (भगवान् श्रीकृष्ण) को चारों तरफ से घेर लिया ॥ १४ ॥

अथ तरुणीनां मध्यं वर्णयति—

आकर्षतेवोर्ध्वमतिक्रशीयानत्युन्नतत्वात्कुचमण्डलेन
ननाम मध्योऽतिगुरुत्वभाजा नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अत्युन्नतत्वात् ऊर्ध्वम् आकर्षता इव अतिगुरुत्वभाजा कुचमण्डलेन नितान्तम् आक्रान्त इव अतिक्रशीयान् अङ्गनानां मध्यः ननाम।

बालबोधिनी—अत्युन्नतत्वाम्=अत्युच्चैस्त्वात्। ऊर्ध्वमाकर्षता—उन्नमयता, उत्प्लावयता। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। अतिगुरुत्वभाजा—अतिस्थूलेन, अतिप्रवृद्धत्वभाजा च। कुचमण्डलेन—स्तनमण्लेन। नितान्तं=अत्यर्थम् आक्रान्त इव=पीडित इव। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। अतिक्रशीयान्=अत्यन्तकृशतरः मुष्टिग्राह्यः, क्षीणश्च। अङ्गनानां=सुन्दरीणाम्, कामिनीनाम्। मध्यः=मध्यमः, कटिप्रदेशः। ननाम=नम्रीभूतः, प्रणतश्च। क्वचित् पूर्वार्द्धे 'मपिक्रशीयानभ्युन्नतत्वात्' इति पाठः' तत्र अपीति निरोधे, शेषं सुगमम्। अत्रोत्प्रेक्षयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितत्वात्संसृष्टिः। किञ्च—मध्यकुचमण्डलयोर्विशेषणसाम्यादरिविजिगीषुराजप्रतीतेः समासोक्तिः सा च प्रधाना, उत्प्रेक्षे च तत्वोषकत्वादप्रधाने। एवमनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

समासः—अतिगुरुत्वं भजतीति अतिगुरुत्वभाक् तेन अतिगुरुत्वभाजा (उपपदसमासः)।

व्याकरणम्—आकर्षता—आङ्+कृष विलेखने+शतृ। अतिगुरुत्वभाजा—अतिगुरुत्व+भज+ण्विः 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति।

हिन्दी—अत्यन्त ऊँचा होने से ऊपर को खींचे हुए की तरह से स्थित तथा अत्यन्त स्थूल स्तनमण्डल के द्वारा अत्यन्त दबे हुए के समान तथा अत्यन्त कृश स्त्रियों का मध्य भाग नम्र हो गया ॥१५ ॥

अथ श्रीकृष्णस्याङ्गनानां च परस्परं प्रेक्षणादिकमाह—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥ १६॥

अन्वयः—प्रियः यां यां कातराक्षीं प्रैक्षत, सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव। अन्याः आहितेर्ष्याः (सत्यः) तत्रान्तरे निःशङ्कं समं कटाक्षैः अमुं जघ्नुः।

बालबोधिनी—प्रियः=श्रीकृष्णः। यां यां कातराक्षीं=यां यां चञ्चलनयनाम्। प्रैक्षत=अद्राक्षीत्, आलोकयत। सा सा=पूर्वोक्ता सा साङ्गना। ह्रिया=लज्जया। नम्रमुखी=आनतानना; अधोमुखी। बभूव=सञ्जाता, अभूत्। स्वभाव एवायं स्नेहस्य, यत्प्रियावलोकनेनावनतवदनत्वम्। अनेन कार्यद्वारा लज्जासाध्वसभावोदय उक्तः। अन्यासामीर्ष्याभावोदयमाह—अन्याः=अप्रेक्षिताङ्गनाः, अनवलोकितस्त्रियः। आहितेर्ष्याः=समत्सराः, कृताक्षमाः सत्यः। तत्रान्तरे=तस्मिन्नेवावसरे। निःशङ्कं निर्भयं यथा स्यात् तथा। समं=युगपत्। कटाक्षैः=अपाङ्गदर्शनैः, वक्रदृष्टिभिः। अमुं=श्रीकृष्णम्। जघ्नुः=अताडयन्, सरोषमद्राक्षुः। कातराक्षीमित्यस्य स्थाने कातराक्षीति पाठान्तरे चकितलोचना सतीत्यर्थः। 'आहितेर्ष्याः' इत्यस्य स्थाने 'आहितेर्ष्यैः' इति पाठे समत्सरैरित्यर्थः, कटाक्षैरित्यस्य विशेषणं ज्ञेयम्। 'प्रियः' इत्यस्य स्थाने प्रियामिति पाठान्तरे प्रेयसीमित्यर्थः।

कोशः—'क्लीबेऽन्तरे चावकाशे तादर्थ्येऽवसरेऽवधौ' इति वैजयन्ती। 'कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने' इत्यमरः। 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्यात्' इति।

समासः—आहिता ईर्ष्या याभिस्ताः—आहितेर्ष्याः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—यां याम्—इत्यत्र 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति वीप्सायां द्विर्भावः, एकपदम्। एवं 'सा सा' इत्यत्रापि वीप्यासां द्विर्भावः।

हिन्दी—(श्रीकृष्ण तथा अङ्गनाओं के परस्पर प्रेक्षण का वर्णन करते हैं—) प्रिय श्रीकृष्ण ने जिस-जिस सुन्दरी को देखा; वह लज्जा से नम्रमुखी हो गई, तथा (जिनको श्रीकृष्ण ने नहीं देखा था वे) दूसरी सुन्दरियाँ ईर्ष्यायुक्त होकर एक साथ इन्हें निःशङ्क होकर कटाक्षों से आहत करने लगीं (कटाक्ष करती हुई श्रीकृष्ण को देखने लगीं)॥ १६॥

अथ श्रीकृष्णस्य पञ्चभिः श्लोकैः दिव्यास्त्रसन्निधानं वर्णयन्नादौ चक्रधारणमाह—

तस्यातसीसूनसमानभासो भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
चक्रेण रेजे यमुनाजलौघः स्फुरन्महावर्त इवैकबाहुः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अतसीसूनसमानभासः तस्य एकबाहुः भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन चक्रेण स्फुरन्महावर्तः यमुनाजलौघ इव रेजे ।

बालबोधिनी—अतसीसूनसमानभासः=अतसीप्रसूनसमानकान्तेः, क्षुमापुष्पसमकान्तेः । तस्य=श्रीकृष्णस्य । एकबाहुः=एकभुजः । भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन=आवर्तमानकिरणनिकरचक्रवालेन । चक्रेण=सुदर्शनेन । स्फुरन्महावर्तः=भ्राम्यत्कुम्भनीकः, चलन्महाभ्रमः । यमुनाजलौघः=कालिन्दीजलपूरः । इव—यथा । रेजे=शुशुभे । श्रीकृष्णश्चक्रं दधावित्यर्थः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'अतसी स्यादुमा क्षुमा' इत्यमरः । 'सूनं प्रसवपुष्पयोः' इति मेदिनी । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । 'चक्रवालं तु मण्डलम्' इत्यमरः । स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इत्यमरः ।

समासः—अतस्याः सूनमिति अतसीसूनम् (ष० त०) तेन समाना भाः यस्य स तस्य अतसीसूनसमानभासः (ब० व्री०) । एकश्चाऽसौ बाहुश्च एकबाहुः (द्विगुः) । मयूखानाम् आवलयः मयूखावलयः (ष० त०) तासां मण्डलम्–मयूखावलिमण्डलम् (ष० त० भ्राम्यच्चाऽसौ मयूखावलिमण्डलम्–भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलम् (क० धा०) तेन–भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन । महांश्चाऽसौ आवर्तश्च महावर्तः (क० धा०), स्फुरन्महावर्तो यस्य सः स्फुरन्महावर्तः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—स्फुरन्–स्फुर+शतृ । भ्राम्यन्–भ्रमु+श्यन् 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (७।३।७४) इति दीर्घः । रेजे–राजृदीप्तौ इति धातोः लिट्-त-एश् 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति विकल्पेन एत्वेऽभ्यासलोपे च ।

हिन्दी—(अब पाँच श्लोकों में कृष्ण के दिव्यास्त्रों के धारण करने का वर्णन करते हुए पहले चक्रधारण को बतलाते हैं–) अलसी अर्थात् तीसी के फूल के समान (श्याम) कान्ति वाले उन श्रीकृष्ण भगवान् की एक भुजा, घूमते हुए किरणसमूह के घेरे वाले सुदर्शन चक्र से, स्फुरित होते हुए महाभँवर वाले यमुना के जलप्रवाह के समान शोभित होती थी ॥ १७ ॥

अथास्य गदासन्निधानमाह—

विरोधिनां विग्रहभेददक्षा मूर्तेव शक्तिः क्वचिदस्खलन्ती ।
नित्यं हरेः सन्निहिता निकामं कौमोदकी मोदयति स्म चेतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—विरोधिनां विग्रहभेददक्षा, क्वचिदस्खलन्ती, नित्यं हरेः सन्निहिता (अत एव) मूर्ता शक्तिः इव (स्थिता) कौमोदकी हरेः चेतः निकामं मोदयति स्म ।

बालबोधिनी—विरोधिनां = शत्रूणाम् । विग्रहभेददक्षा = शरीरविदारणसमर्था । अपरं कीदृशी—क्वचित् = क्वापि । अस्खलन्ती = अप्रतिहता, सर्वत्र लब्धप्रसरेत्यर्थः । नित्यं = सदैव । सन्निहिता = समीपस्था, करस्थेति भावः (अत एव) मूर्ता = मूर्तिमती, देहधारिणी । शक्तिः = वपुःसामर्थ्यम् । इव स्थितेत्युत्प्रेक्षायाम् । साऽपि शत्रुनाशचतुरा सदा समीपस्था अस्खलिता च । कौमोदकी हरेः गदा । हरेः = कृष्णस्य । चेतः = मनः, चित्तम् । निकामं = अतिशयेन, भृशम् । मोदयति स्म = अतूतुषत्, तोषयामास । स गदां दधारेति भावः । हरेरस्त्रविषयेऽमरकोषे उक्तम्—

'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनः ।
कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः ॥
चापः शार्ङ्गम्' इति ।

कोशः—'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः ।

समासः—विग्रहस्य भेदः विग्रहभेदः (ष० त०) तत्र दक्षा विग्रहभेददक्षा (स० त०) । कुमोदको विष्णुः, तस्येयं कौमोदकी ।

व्याकरणम्—मोदयति स्म—इत्यत्र 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति लट् प्रत्ययः ।

हिन्दी—(अब गदा धारण करने का वर्णन करते हैं—) शत्रुओं के शरीर (पक्षा०—विरोध) को नष्ट करने में समर्थ, तथा कहीं भी निष्फल न होने वाली, सदा (भगवान् श्रीकृष्ण के) समीप (हाथ में) रहने वाली (अत एव) मूर्तिमती शक्ति के समान 'कौमोदकी' नाम की गदा भगवान् कृष्ण के मन को प्रसन्न करती थी (श्रीकृष्णजी ने कौमोदकी नाम की गदा को धारण किया) ॥ १८ ॥

अथास्य नन्दकखड्गसन्निधानमाह—

न केवलं यः स्वतया मुरारेरनन्यसाधारणतां दधानः ।
अत्यर्थमुद्वेजयिता परेषां नाम्नाऽपि तस्यैव स नन्दकोऽभूत् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अनन्यसाधारणतां दधानः (तथापि) यः केवलं स्वतया मुरारेः नन्दकः न (किन्तु—) परेषाम् अत्यर्थम् उद्वेजयिता (सन्) अत एव—नाम्ना अपि तस्यैव (नन्दकः) स नन्दकः अभूत् ।

बालबोधिनी—अनन्यसाधारणतां=भगवदेकविषयत्वम् । दधानः=बिभ्राणः। (तथापि—) यः=खड्गः । केवलम्=इति निर्णीतेऽव्ययम् । स्वतया= आत्मीयत्वेनैव, स्वत्वेनैव । मुरारेः=मुरदैत्यरिपोः, श्रीकृष्णस्य । नन्दकः= आनन्दयिता । न = नहि । (किन्तु—) परेषां = शत्रूणाम् । अत्यर्थम्= अतिशयेन । उद्वेजयिता = भीषयिता, खेदजनकः, सन् । अत एव—नाम्नापि= नामधेयेनाऽपि । नन्दयतीति नन्दक इत्यन्वर्थसंज्ञाबलेनापि । तस्यैव = श्रीकृष्णस्यैव । नन्दकः =नन्दयिता । सः =लोकप्रसिद्धः पूर्वोक्तः । नन्दकः=नन्दकनामकः खड्गः । अभूत्=अभवत् । सन्निहितो बभूवेत्यर्थः । अनन्यसाधारणत्वपरोद्वेजकत्वपदार्थाभ्यां विशेषणगत्या तदीयतासमर्थनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

कोशः—'निर्णीते केवलं त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः ।

समासः—अन्यस्य साधारणः—अन्यसाधारणः (ष० त०), न अन्यसाधारणः अनन्यसाधारणः (नञ् त० पु०), तस्य भावस्ताम्—अनन्यसाधारणताम् ।

व्याकरणम्—उद्वेजयिता—उत्पूर्वाद् 'ओविजी भयसंचलनयोः' इति धातोः तृचि रूपम् ।

हिन्दी—अनन्य साधारणता को धारण करता हुआ (केवल भगवान् श्रीकृष्ण से ही सम्बन्ध रखता हुआ) भी जो केवल आत्मीय होने से ही कृष्ण का आह्लादक नहीं हुआ, परन्तु शत्रुओं का अत्यन्त उद्वेजक होता हुआ, अपने नाम से भी कृष्ण का ही आनन्ददायक हुआ (श्रीकृष्ण ने अपने नन्दक नामक खड्ग को पास में रखा) ॥ १९ ॥

अथास्य शार्ङ्गसन्निधानमाह—

न नीतमन्येन नतिं कदाचित् कर्णान्तिकप्राप्तगुणं क्रियासु ।
विधेयमस्याभवदन्तिकस्थं शार्ङ्गं धनुर्मित्रमिव द्रढीयः ॥ २० ॥

अन्वयः—अन्येन कदाचित् नतिं न नीतम्, क्रियासु कर्णान्तिकप्राप्तगुणं, विधेयं द्रढीयः शार्ङ्गं धनुः मित्रम् इव अस्य अन्तिकस्थम् अभवत् ।

बालबोधिनी—अन्येन = कृष्णवर्जमन्यपुरुषेण; मित्रपक्षे–मित्रद्विष्टेन पुरुषान्तरेण । नतिम्=आकर्षणम्; पक्षान्तरे भेदेन स्वानुकूल्यम् । न नीतम्=न प्रापितम् । क्रियासु=रणक्रियासु; पक्षान्तरे–हिताहितकृत्येषु । कर्णान्तिकप्राप्त-गुणं = कर्णप्रदेशप्राप्तमौर्विकम्; पक्षान्तरे–कर्णगोचरप्राप्तौदार्याद्रोहादिकम् । विधेयम्=क्रियासु वश्यम्, भगवता कृष्णेनाक्रष्टुं शक्यम् । पक्षान्तरे–आदेशकरम् । द्रढीयः=अभङ्गुरम्, दृढतरम्; पक्षान्तरे—सदलम्, अविचलम् । शार्ङ्गं= शृङ्गस्य विकारः, शार्ङ्गं नाम । धनुः=चापः । मित्रमिव=सुहृदिव । अन्तिकस्थं– सन्निहितम् । अभवत्=अभूत् । रथस्योपरि स्थापितमित्यर्थः । यथा मित्रं मित्रस्यान्तिकस्थं भवति एवमस्य तदभूदिति भावः । पूर्णोपमालङ्कारः ।

कोशः—'मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः' इत्यमरः । 'धनुः चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम् । इष्वासः' इत्यमरः । 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः ।

समासः—कर्णस्य अन्तिकः कर्णान्तिकः (ष० त०), कर्णान्तिकं प्राप्तो गुणो यस्य तत्—कर्णान्तिकप्राप्तगुणम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—अभवत्—भू + लङ्—तिप्, अट् । द्रढीयः=दृढ + इयसुन् 'रः ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः ।

हिन्दी—(कृष्ण से अतिरिक्त) किसी दूसरे से नहीं झुकने वाला (बाण-प्रक्षेप के समय) कान तक पहुँची हुई डोरी वाला तथा—रणादि कार्यों में वशीभूत एवं दृढतम शार्ङ्ग नामक धनुष; दूसरे किसी के द्वारा भेद डालकर अपने अनुकूल नहीं किये जाने वाले तथा कान तक पहुँचे हुए, सत्परामर्शादिगुण वाले—अर्थात् सत्-परामर्श देने वाले, एवं कार्य में वशीभूत दृढतम मित्र के समान, इन श्रीकृष्ण भगवान् के पास में स्थित हुआ (श्रीकृष्ण भगवान् ने शार्ङ्ग नाम के धनुष को पास में रखा) ॥ २० ॥

अथास्य पाञ्चजन्यसन्निधानमाह—

प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः ।
मन्दानिलापूरकृतं दधानो निध्वानमश्रूयत पाञ्चजन्यः ॥ २१ ॥

अन्वयः—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः (तथा) मन्दानिलापूरकृतं निध्वानं दधानः पाञ्चजन्यः अश्रूयत ।

बालबोधिनी—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः = दीर्घगम्भीरमेघवद्धीरध्वनिः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः = श्रीकृष्णसमुद्रसमीपस्थराजहंसः। (तथा-) मन्दानिलापूरकृतं = स्वल्पनिश्वासपवनाध्मातजनितम्। निध्वानं = शब्दं दधानः = बिभ्राणः सन्। पाञ्चजन्यः = तन्नामकः शङ्खः। अश्रूयत = आकर्णितः, श्रूयते स्म। अत्र पाञ्चजन्योत्पन्नशब्दश्रवणादुपचारेण स एवाश्रूयत इत्युक्तम्। पाञ्चजन्योऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः। क्वचित् 'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः' इत्यस्य स्थाने 'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदनादधीरम्' इति पाठान्तरम्, तत्र पदमिदं निध्वानमित्यस्य विशेषणम्, दीर्घमधुरमेघघोषगम्भीरमित्यर्थः। अत्र 'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः' इत्यत्रोपमालङ्कारः, 'कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः' इत्यत्र च श्लिष्टपरम्परितरूपकम्।

कोशः—'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः। स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः' इत्यमरः। 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः' इत्यमरः।

समासः—धियं रातीति धीरः (मनोहरः), अम्बुदस्य इव धीरः अम्बुदधीरः (उपमितसमासः), मन्द्रश्चासौ अम्बुदधीरश्चाऽसौ नादश्च मन्द्राम्बुदधीरनादः (क० धा०), स प्रवृद्धो येन सः—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः, (ब० व्री०) कृष्ण एवार्णवः कृष्णार्णवः (रूपकसमासः) तस्य अभ्यर्णः कृष्णार्णवाभ्यर्णः (ष० त०) तत्र चरतीति–कृष्णार्णवाभ्यर्णचरः, स चाऽसौ एकहंसश्च (क० धा०) कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः। मन्दश्चाऽसौ अनिलश्च मन्दानिलः (क०धा०) मन्दानिलस्य आपूरः मन्दानिलापूरः (ष० त०), तेन कृतः मन्दानिलापूरकृतः (तृ० त०) तम्—मन्दानिलापूरकृतम्।

व्याकरणम्—अभ्यर्णः—अभि + अर्द + क्तः 'अभेश्चाविदूर्ये' (७।२।२५) इतीडभावः, 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) इति नत्वम्। पञ्चजने भवः पाञ्चजन्यः 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च वक्तव्यम्' इति ञ्यप्रत्ययः। अश्रूयत—श्रू + कर्मणि लङ्–त।

हिन्दी—बढ़े हुए गम्भीर बादल के समान मधुर ध्वनि वाला, कृष्णरूपी समुद्र के समीप रहने वाला, हंस रूप तथा मन्द-मन्द वायु के भरने से उत्पन्न ध्वनि को धारण करता हुआ पाञ्चजन्य नामक शङ्ख सुनाई पड़ा॥ २१॥

अथ रथारूढस्य कृष्णस्य शोभामाह—

रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम्।
महारथः पुष्परथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरूढः॥ २२॥

अन्वयः—महारथः रथाङ्गी इष्टसिद्धेः सम्पादकं सर्वासु दिक्षु अप्रतिषिद्धमार्गं क्षिप्रं पुष्यरथम् अधिरूढः क्षपानाथ इव रराज।

बालबोधिनी—महारथः = रथिकविशेषः, सर्वविधयुद्धव्यवहारज्ञः शूरः। रथाङ्गी = चक्रपाणिः श्रीकृष्णः। इष्टसिद्धेः = अभिलषितनिष्पत्तेः। साधकं = सम्पादकम्। उभयत्र समान एवार्थः। पुष्येन्दुयोगे प्रारब्धं कार्यं न निष्फलं भवतीत्यर्थः। उक्तं च—"पुष्यः सर्वार्थसाधकः" इति। सर्वासु = सकलासु। दिक्षु = आशासु। अप्रतिषिद्धमार्गम् = अनिवारितपथम्, अनिषिद्धगमनम्। उक्तमपि—'पुष्यो हस्तो मैत्रमप्याश्विनं च चत्वार्याहुः सर्वदिग्द्वारकाणि' इति। क्षिप्रं = द्रुतगामिनम्, अन्यत्र—क्षिप्रसंज्ञकम्। पुष्यरथं = क्रीडारथम्। अधिरूढः = आरूढ सन्, अन्यत्र—पुष्यनक्षत्रगतः। क्षपानाथः = चन्द्रः। इव = यथा। रराज = रेजे, शुशुभे। उपमालङ्कारः। को नाम महारथः? अत्र ब्रूमः—

आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युध्येत यो नरः।
स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥ इति।

कोशः—'असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत्' इत्यमरः। 'क्षिप्रं चाश्विदिनेशपुष्यम्' इति च।

समासः—इष्टस्य सिद्धिः इष्टसिद्धिः (ष० त०), तस्याः इष्टसिद्धेः। महान् रथो यस्य सः महारथः (ब० व्री०)। न प्रतिषिद्धः अप्रतिषिद्धः (नञ् त० पु०), अप्रतिषिद्धो मार्गः यस्य स तम्—(ब० व्री०), पक्षान्तरे—अप्रतिषिद्धः मार्गो येन स तम्—अप्रतिषिद्धमार्गम्। पुष्य इव रथः तम्—पुष्यरथम्। अन्यत्र—पुष्यः रथ इव पुष्यरथः (उपमितसमासः)।

व्याकरणम्—रराज—'राजृ दीप्तौ' इति धातोः लिट्—तिप्-णल्।

हिन्दी—महारथी सुदर्शन चक्रधारी (भगवान् श्रीकृष्ण), मनोरथ सफल करने वाले तथा सब दिशाओं में विना रोक-टोक जाने वाले एवं वेग से चलने वाले पुष्य नामक रथ पर आरूढ़ होकर ऐसे शोभित हुए जैसे—मनोरथ सफल करने वाले, सब दिशाओं की यात्रा में प्रशस्त तथा क्षिप्रसंज्ञक पुष्य नक्षत्र पर पहुँचा हुआ चन्द्रमा शोभित होता है॥ २२॥

अथास्य गरुडसन्निधानमाह—

ध्वजाग्रधामा ददृशेऽथ शौरेः संक्रान्तमूर्तिर्मणिकुट्टिमेषु।
फणावतस्त्रासयितुं रसायास्तलं विविक्षन्निव पन्नगारिः॥ २३॥

अन्वयः—अथ शौरेः ध्वजाग्रधामा मणिमेदिनीषु संक्रान्तमूर्तिः (सन्) पन्नगारिः फणावतः त्रासयितुं रसायाः तलं विविक्षिन् इव ददृशे।

बालबोधिनी=अथ=रथारोहणानन्तरम्। शौरेः = कृष्णस्य। ध्वजाग्रधामा = पताकास्थानः; पताकाग्रस्थितः। पुनः कीदृशः—मणिमेदिनीषु = स्फटिककुट्टिमेषु, मणिमयबद्धभूमिषु। संक्रान्तमूर्तिः=प्रतिबिम्बितशरीरः सन्। पन्नगारिः=नागान्तकः, गरुडः। फणावतः = सर्पान्। त्रासयितुं=भीषयितुम्, द्रावयितुम्। रसायाः तलम्=पातालम्। विविक्षन्=प्रवेष्टुमिच्छन्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। ददृशे=जनैः दृष्टः। सोऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः। क्वचिदुत्तरार्धे—'रसातलान्नागकुलानि जित्वाऽत्यर्थं प्रयास्यन्निव पन्नगारिः' इति पाठान्तरम्। अर्थस्तु सुगमः। उत्प्रेक्षालङ्कारः। विविक्षन्निव जनैः दृष्टः। गरुडः कृष्णस्य समीपस्थो जात इति भावः।

कोशः—'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः। नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नगाशनः' इत्यमरः। 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—ध्वजस्य अग्रं ध्वजाग्रम् (ष० त०); ध्वजाग्रम् धाम यस्य सः ध्वजाग्रधामा (ब० व्री०)। मणीनां मेदिन्यः मणिमेदिन्यः (ष० त०) तासु मणिमेदिनीषु। पन्नगानाम् अरिः पन्नगारिः (ष० त०)।

व्याकरणम्—विविक्षन्—विश् + सन् + लट्—शतृ। ददृशे—दृश् + कर्मणि लिट्–त–एश्।

हिन्दी—इस (भगवान् श्रीकृष्ण के रथ पर सवार हो जाने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान् की ध्वजा के अग्रभाग में रहने वाला, मणियों से रचित (खचित) फर्शों में प्रतिबिम्बित शरीर वाला, (अत एव–) सर्पों को पीड़ित करने के लिए पाताल में प्रवेश करते हुए के समान गरुड को मनुष्यों ने देखा (गरुड भी उनके समीप उपस्थित हुआ)।

टिप्पणी—जिस देवता की जो सवारी है उसी सवारी का चिह्न उस देवता की ध्वजा पर रहता है। भगवान् विष्णु की सवारी गरुड है, इसलिए उनकी ध्वजा पर गरुड का चित्र बना रहता है जिससे उन्हें गरुडध्वज कहते हैं। इसी प्रकार वृषभध्वजादि का भी अर्थ समझ लेना चाहिये॥ २३॥

प्रस्थितस्य तस्य पटहप्रणादं वर्णयति—

यियासतस्तस्य महीन्द्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः।
जलान्तराणीव महार्णवौघः शब्दान्तराण्यन्तरयाञ्चकार॥ २४॥

अन्वयः—यियासतः तस्य महीन्द्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः महार्णवौघः जलान्तराणीव शब्दान्तराणि अन्तरयाञ्चकार।

बालबोधिनी—यियासतः = यातुमिच्छतः, इन्द्रप्रस्थं जिगमिषतः। तस्य= श्रीकृष्णस्य। महीन्द्ररन्ध्रभिदापटीयान् = पर्वतबिलभेदनसमर्थतरः, गिरिकन्दर-विदारणसमर्थः। पटहप्रणादः = आनकशब्दः, दुन्दुभिरवः। महार्णवौघः = समुद्र-प्रवाहः। जलान्तराणीव = अन्यानि जलानीव। शब्दान्तराणि = अन्यान् शब्दान्, अश्वह्रेषितगजगर्जितरथचीत्कारादीनि। अन्तरयाञ्चकार=अपजुह्नुवे, आच्छादयामासेत्यर्थः। उपमालङ्कारः।

कोशः—'आनकः पटहोऽस्त्री' इत्यमरः। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धि-भेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि' इत्यमरः।

समासः—महीन्द्राणां रन्ध्राणि महीन्द्ररन्ध्राणि (ष० त०) तेषां भिदा महीन्द्ररन्ध्रभिदा (ष० त०) तत्र पटीयान्-महीन्द्ररन्ध्रभिदापटीयान् (स० त०)। पटहस्य प्रणादः पटहप्रणादः (ष० त०)। महांश्चासौ अर्णवः महार्णवः (क० धा०) तस्य ओघः महार्णवौघः (ष० त०)। अन्यानि जलानि जलान्तराणि (सुप्सुपेति समासः)। एवमेव-अन्यान् शब्दान् शब्दान्तराणि (सुप्सुपा समासः)।

व्याकरणम्—भिदा—षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४) इत्यङ्-प्रत्ययः। 'अन्तरयाञ्चकार—अन्तर्धानार्थादन्तरशब्दात्—'तत्करोति तदाचष्टे' (ग० सू०) इति ण्यन्ताल्लिट्।

हिन्दी—गमन के लिए इच्छुक उन (भगवान् श्रीकृष्ण) का पर्वतों की गुफाओं को विदारण करने में समर्थ, नगाड़े के शब्द ने अन्य शब्दों को इस प्रकार दबा लिया, जिस प्रकार महासमुद्र का जलप्रवाह (ज्वार-भाटा) दूसरे जलों को दबा लेता है (भगवान् का नगाड़ा बजने लगा, जिसके बजने के शब्द से दबे हुए अन्य बाजों के शब्द सुनाई नहीं पड़ते थे ॥ २४ ॥

अथ श्रीकृष्णस्य गमनं वर्णयति—

यतः स भर्ता जगतां जगाम धर्त्रा धरित्र्याः फणिना ततोऽधः।
महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे ॥ २५ ॥

अन्वयः—जगतां भर्ता सः, यतः जगाम, ततः अधः धरित्र्याः धर्त्रा फणिना महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे।

बालबोधिनी—जगतां=लोकानाम् । भर्ता=धारयिता । सः=श्रीकृष्णः। यतः=येन मार्गेण, यस्मिन् प्रदेशे वा। जगाम=अगच्छत् । ततः=तेन मार्गेण, तस्मिन् प्रदेशे वा। अधः=अधो भागे पाताले इत्यर्थः। धरित्र्याः= भूमेः। धर्त्रा = धारयित्रा। फणिना = शेषेण। महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं = महागौरवकुब्जीभूतफणादशशतसाहाय्यव्याकुलभुजम्। प्रसस्रे = प्रसृतम् । श्रीकृष्णश्चचालेति भावः । अत्र विशिष्टप्रसरणाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ।

कोशः—'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः।

समासः—महांश्चाऽसौ भरः महाभरः (क० धा०) तेन आभुग्नं यत् शिरःसहस्रं (तृ० त०) तस्य साहायके व्यग्राः भुजाः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजम् ।

व्याकरणम्—साहायक-'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' (५।१।१३२) इति वुञ् प्रत्ययः । प्रसस्रे-प्र+सृ+भावे लिट्-त-एश् ।

हिन्दी—जगतों (तीनों लोकों) को धारण करने वाले वे श्रीकृष्ण जिस भूभाग से चले उसके नीचे पाताल में पृथिवी को धारण करने वाले शेषनाग, महान् भार से दबे जाते हुए हजारों शिरों की सहायता में, भुजाओं के व्याकुल होते हुए, आगे सरके ॥ २५ ॥

अथाऽस्य सैन्यानुगमनमाह—

अथोच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि ।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—अथ उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि सैन्यानि सोमान्वयं तं सुनीतिभाजं क्रियाफलानीव अन्वयुः ।

बालबोधिनी—अथ=श्रीकृष्णप्रस्थानानन्तरम् । उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि = उन्नतद्वारदारुसम्पर्कविनाशभयावनम्रीकृतपताकानि। सैन्यानि=सेनाः । सोमान्वयं=सोमवंश्यम् । तं=श्रीकृष्णम् । सुनीतिभाजं= सुष्ठु नीतिमन्तम् । क्रियाफलानीव=कर्त्तव्यफलानीव । सामाद्युपायप्रयोगजनित-हिरण्यभूमिमित्रादिलाभा इव । अन्वयुः=अनुजग्मुः । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः । वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—उच्चकैः तोरणम्—उच्चकैस्तोरणम् (क० धा०), तेन तस्मिन् वा सङ्गः (तृ० त०, स० त० वा) तेन भङ्गः—उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गः, तस्माद् यद् भयम्–(ष० त०) तेन अवनम्रीकृतानि केतनानि यैस्तानि (ब० व्री०) (ष० त०)। शोभना चाऽसौ नीतिश्च सुनीतिः (प्रादिसमासः), सुनीतिं भजते इति सुनीतिभाक् (उपपदसमासः) तम्—सुनीतिभाजम्। सोमस्य अन्वयः सोमान्वयः, तम्—सोमान्वयम् (ष० त०)।

व्याकरणम्—सुनीतिभाजम्–सुनीति + भज + ण्विः 'भजो ण्विः' (३।२६२) इति। अन्वयुः—अनु + या + लङ्–झि 'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११) इति झेर्जुस्।

हिन्दी—इस (श्रीकृष्ण भगवान् के चलने) के बाद ऊँचे तोरणों में टकराकर टूटने के भय से पताकाओं को झुकाते हुए सैनिक लोग; चन्द्रवंशी उन श्रीकृष्ण भगवान् के पीछे इस प्रकार से चले, जिस प्रकार श्रेष्ठ नीति वाले पुरुषों के पीछे कर्मों के फल चलते हैं ॥ २६ ॥

अथाऽस्य रथैः सुवर्णभूमिरेणुक्षोदनमाह—

श्यामारुणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः।
आनेमिमग्नैः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे रथौघैः ॥ २७ ॥

अन्वयः—श्यामारुणैः वारणदानतोयैः आलोडिताः (अत एव) शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः काञ्चनभूपरागाः आनेमिमग्नै रथौघैः चुक्षुदिरे।

बालबोधिनी—श्यामारुणैः=कृष्णलोहितैः। वारणदानतोयैः=करिमदजलैः। आलोडिताः=मिश्रिताः, पङ्किताः, पङ्कत्वं प्रापिता इत्यर्थः। अत एव–) शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः=मयूरबर्हचूर्णद्युतयः। काञ्चनभूपरागाः=सुवर्णभूमिरेणव। आनेमि = नेमिपर्यन्तम्। मग्नैः = ब्रुडितैः। रथौघैः=स्यन्दनसमूहैः। चुक्षुदिरे=क्षुण्णाः, पिष्टा इत्यर्थः। 'चुक्षुभिरे' इति पाठे क्षोभिता इत्यर्थः। 'शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः' इत्यत्रोपमालङ्कारः। परागाणां विशिष्टपेषणसम्बन्धाऽभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तया च महती गजसम्पत्तिर्व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

कोशः—'नेमि स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः। 'स्यन्दनो रथः' इत्यमरः।

समासः—श्यामाश्च ते अरुणाश्च श्यामारुणाः तैः श्यामारुणैः (क० धा०) दानस्य तोयानि दानतोयानि (ष० त०), वारणानां दानतोयानि वारणदान-

तोयानि (ष० त०), तैः: वारणदानतोयैः । शितिः कण्ठो यस्य स शितिकण्ठः (ब०व्री०) तस्य यत् पिच्छं तस्य क्षोदाः शितिकण्ठपिच्छक्षोदाः (ष० त०) ते इव द्योतन्ते इति शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः (उपपदसमासः)। काञ्चनस्य भूः काञ्चनभूः (ष० त०) तस्याः परागाः काञ्चनभूपरागाः (ष० त०)। नेमिमभिव्याप्येति आनेमि (अव्ययीभावः)। रथस्य ओघाः रथौघाः (ष० त०) तैः रथौघैः।

व्याकरणम्—क्षोदद्युतः + क्षोद + द्युत + क्विप् + जस् । चुक्षुदिरे-क्षुदिर कर्मणि लिट्–झ–इरेच् ।

हिन्दी—श्यामता से युक्त लाल वर्ण वाले हाथियों के मदजल से मिश्रित तथा—मयूर–पिच्छ के समान कान्ति वाली सुनहरी भूमियों की धूलियां, नेमि-पर्यन्त धँसे हुए रथों के समूहों से पिस गई ।। २७ ।।

अथ सुवर्णभूरेणोः महाजनशिरोऽलङ्घनमाह—

न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नैवोद्धतिमाजगाम।
अचेष्टताष्टापदभूमिरेणुः, पदाहतो यत् सदृशं गरिम्णः ।। २८ ।।

अन्वयः—अष्टापदभूमिरेणुः पदाहतः (अपि सन्)महाजनानां शिरांसि न लङ्घयामास, (किञ्च–) उद्धतिं नैव आजगाम, यत्– गरिम्णः सदृशम् अचेष्टत ।

बालबोधिनी—अष्टापदभूमिरेणुः=सुवर्णभूधूलिः । पदाहतः=चरणताडितोऽपि सन् । 'खुराहतः' इति पाठान्तरे शफताडितः इत्यर्थः । महाजनानां=बहुजनानाम्, पूज्यानां च । शिरांसि=मस्तकानि । न लङ्घयामास=न लङ्घितवान्, नाधिरुरोहेत्यर्थः किञ्च–उद्धतिं=उत्पवनम्, दर्पं च । नैव=नहि आजगाम = ययौ, प्राप्तवान् । (कुतः–) यत् = यस्मात् कारणात् गरिम्णः=गुरुत्वगुणस्य, माहात्म्यस्य च । सदृशम्=अनुरूपं यथा स्यात्तथा अचेष्टत=चेष्टयामास । अकरोदिति भावः अलङ्घनव्यापारे गुरुत्वस्योद्धतेः प्रतिबन्धकत्वात् । अत्रानोद्धत्यादिप्रस्तुतसुवर्णपरागविशेषणसाम्यादप्रस्तुतजन-प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ।

कोशः—'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयोः रजः' इत्यमरः । 'पादः पदोऽङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम् । चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—अष्टसु धातुषु पदं=प्रतिष्ठा यस्य तद् अष्टापदम्, तस्य भूमिः (ष० त०) तस्याः रेणुः अष्टापदभूमिरेणुः (ष० त०)। पदैः पद्भिः वा आहतः पदाहतः (तृ० त०)। महान्तश्च ते जनाश्च महाजनाः (क० धा०), तेषां महाजनानाम्।

व्याकरणम्—लङ्घयामास—लघि + लिट्-अस्तेरनुप्रयोगः; 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३।१।३५) इत्याम्प्रत्ययः। आजगाम—आङ्+गम्+लिट्-तिप्+णल्। अचेष्टत-चेष्ट+लङ्-त+अडागमः।

हिन्दी—स्वर्ण भूमि की धूलि ने पैरों से ताडित होने पर भी बड़े लोगों के मस्तकों को आक्रान्त नहीं किया। (उड़कर मनुष्यों के मस्तक पर नहीं पड़ी) और औद्धत्य को प्राप्त नहीं किया (ऊपर को नहीं उड़ी, पक्षा०—गर्व को प्राप्त नहीं किया, क्योंकि उसने अपने गौरव के अनुरूप ही किया (अर्थात् जो उसके गौरव के अनुरूप था वही किया)।

टिप्पणी—प्रायः धूलि मनुष्य; घोड़े आदि के पैरों की ठोकर से आहत होकर सिर पर को उड़ा करती है। जैसा कि धूलि के विषय में माघ ने ही कहा है—'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति' (२।४६)। परन्तु सुवर्ण की धूलि अति भारी होने से उड़ नहीं सकती अतः वह सैनिकों के सिरों पर उड़कर नहीं गिरी। इस प्रकार धूलि के व्यवहार से प्रतीत होता है कि जो महान् होते हैं वे दूसरों से अपमानित किये जाने पर भी न उनके सिर पर चढ़ते हैं और न किसी प्रकार से गर्व करते हैं॥ २८॥

अथाऽस्याश्वान् वर्णयति—

निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिन्मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादान्।
ध्रुवं गुरून्मार्गरुधः करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुं तुरगास्तदीषुः॥ २९॥

अन्वयः—तुरगाः यदुभिः कथञ्चित् निरुध्यमानाः यत् अग्रपादान् मुहुः उच्चिक्षिपुः तत् ध्रुवं मार्गरुधः गुरून् करीन्द्रान् उल्लङ्घ्य गन्तुम् ईषुः।

बालबोधिनी—तुरगाः=अश्वाः। यदुभिः=यादवैः, अश्वारूढैरित्यर्थः। कथञ्चित्=महता प्रयत्नेन। निरुध्यमानाः=संयम्यमानाः, वल्गाकर्षणेन वार्यमाणाः। यत्=यस्मात् कारणात्। अग्रपादान्=अग्रचरणान्। मुहुः=शश्वत्, वारं वारम्। उच्चिक्षिपुः=ऊर्ध्वीचक्रुः, उत्क्षिप्तवन्तः। तत्=तस्मात् कारणात्। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। अहमिति शङ्के इत्यर्थः। इदं निश्चितमितिवार्थः।

मार्गरुधः=मन्दगमनेन मार्गरोधिनः । गुरून्=महतः, पूज्यांश्च । अलङ्घ्यानपीति भावः । करीन्द्रान्=गजेन्द्रान् । उल्लङ्घ्य=अतिक्रम्य । गन्तुम्=यातुम् । ईषुः =इच्छन्ति स्म । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारेण मार्गरोधका गुरवोऽपि परैरुल्लङ्घ्यन्ते। इति वस्तुध्वनिः।

कोशः—'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः । 'घोटके वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः' इत्यमरः ।

समासः—अग्राश्च ते पादाश्च अग्रपादाः (क० धा०) तान्—अग्रपादान्। मार्गं रुन्धन्तीति मार्गरुधः तान्—मार्गरुधः (उपपदसमासः) । करिषु करीणां वेन्द्राः तान्—करीन्द्रान् (स०, ष० वा त० पु०) ।

व्याकरणम्—उच्चिक्षिपुः—उद्+क्षिप प्रेरणे लिट्—झि—उस् । मार्गरुधः- मार्ग + रुध+क्विप्+शस् । ईषुः—इषु इच्छायाम्+लिट्—झि—उस् ।

हिन्दी—(सेना में वर्तमान) घोड़े (अश्वारोही) यादवों के द्वारा किसी प्रकार (बड़े प्रयत्न से) रोके जाते हुए भी जो अगले पैरों को बार-बार ऊपर उठाते थे मानो वह निश्चय ही (मन्द मन्द गमन वाले) विशालकाय गजराजों को लांघकर ही जाना चाहते थे ॥ २९ ॥

अथ मातृभिर्मार्गप्रक्रीडितशावकापसारणमाह—

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः ।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः ॥ ३० ॥

अन्वयः—आयतवल्गम् यत्ननिरुद्धवाहैः तुरङ्गिभिः अग्रे अवेक्षितान् रेणुभिः प्रक्रीडितान् पृथुकान् जनन्यः तूर्णम् एत्य पथिभ्यः निन्युः ।

बालबोधिनी—आयतवल्गम्=आकृष्टरश्मि यथा भवति तथा । यत्ननिरुद्धवाहैः=दुर्वारवेगत्वादतिप्रयत्नधृताश्वैः । तुरङ्गिभिः=अश्वसादिभिः, अश्ववारैः। अग्रे=पुरो देशे । अवेक्षितान्=अवलोकितान् । रेणुभिः=धूलिभिः । प्रक्रीडितान्=विहृतान्, क्रीडाकरानित्यर्थः । पृथुकान्=शिशून् । जनन्यः=मातरः। तूर्णम्=शीघ्रम्, झटिति । पथिभ्यः=मार्गेभ्यः । निन्युः=अपसारयाञ्चक्रुः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।

कोशः—'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः । 'शीघ्रं त्वरितं लघु क्षिप्रमरं द्रुतम् । सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च' इत्यमरः ।

समासः—आयता वल्गा यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा आयतवल्गम्। यत्नेन निरुद्धाः वाहाः यैस्तैः यत्ननिरुद्धवाहैः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—प्रक्रीडितान्—प्र+क्रीड+कर्तरि+क्तः। तूर्णम्—त्वर+क्तः, ऊठ्, तस्य नत्वम्। निन्युः—णीञ् प्रापणे+लिट्-झि-उस्।

हिन्दी—लगाम खींचकर प्रयत्नपूर्वक घोड़ों को रोकने वाले घुड़सवारों के द्वारा देखे गए तथा (मार्ग में) धूलि से खेलते हुए बच्चों को (उनकी) माताएँ आकर झट से रास्ते से उठा ले गईं ॥ ३० ॥

अथ श्रीकृष्णदर्शनार्थं जनसमूहागमनमाह—

दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमाराद‌नघं जनौघाः।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अनघं मुरारिं दिदृक्षमाणाः जनौघाः प्रतिरथ्यम् आराद् ईयुः, अहो अनल्पा प्रीतिः संस्तुतम् अपि नवं नवं करोति।

बालबोधिनी—अनघं = अकलङ्कम्, पुण्यभाजम्। मुरारिं=मुरनामकदैत्यशत्रुम्। दिदृक्षमाणाः = द्रष्टुमिच्छन्तः, द्रष्टुकामाः। जनौघाः = जनसमूहाः। प्रतिरथ्यं=प्रतिमार्गम्। आराद् = समीपम्। ईयुः = जग्मुः। क्वचित् 'ईयुः' इत्यस्य स्थाने 'आपुः' इति पाठान्तरम् तत्राजग्मुरित्यर्थः। अत्र केचिद् 'आराद्' इत्यस्य दूरमित्यर्थं कुर्वन्ति। ननु सर्वे एव नगरनिवासिनो दिवानिशं भगवन्तमीक्षन्ते, तत्किमिति तेषां तदालोकनकुतूहलमित्याशङ्क्य पूर्वार्धसाधकमर्थान्तरमाह—अहो= चित्रम्, आश्चर्येऽव्ययमिदम्। अनल्पा=महती। प्रीतिः=प्रेम। अनेकशः = बहुबारम्। संस्तुतमपि=परिचितमपि वस्तु। जनेनेति शेषः। नवं नवं करोति= प्रत्यग्रीकरोति। आभीक्ष्ण्येन नवं करोतीत्यर्थः। यथा परमप्रेमास्पदं वस्तु नित्यदृष्टमप्यदृष्टचरमिव प्रतिक्षणं दिदृक्षते तथैव भगवान् श्रीकृष्णोऽपीति भावः। अत्र विशेषरूपस्य पूर्वार्धस्य सामान्यरूपेणोत्तरार्धार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः।

कोशः—'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः। 'रथ्याः प्रतोली विशिखा' इत्यमरः।

समासः—जनानाम् ओघाः जनौघाः (ष० त०)। रथ्यायाम् रथ्यायामिति प्रतिरथ्यम् (यथार्थेऽव्ययीभावः)।

व्याकरणम्—दिदृक्षमाणाः—दृश्+सन्+लट्-शानच् 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (१।३।५७) इत्यात्मनेपदम्। ईयुः—इण्+लिट्-झि-उस् 'दीर्घ इणः किति' (७।४।६९) इत्यभ्यासदीर्घः। अनेकशः—'बह्वल्पार्थाच्छस्कारका-

दन्यतरस्याम्' इति शस् प्रत्ययः। नवं नवं अत्र 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति द्विर्भावः।

हिन्दी—निर्दोष भगवान् श्रीकृष्ण को देखने के इच्छुक जनसमुदाय प्रत्येक गली में (भगवान् श्रीकृष्ण के) समीप में आगये। आश्चर्य है कि अत्यधिक प्रेम अनेक बार परिचित वस्तु को भी नवीन बना देता है ॥ ३१ ॥

नीरन्ध्रसेनापरिवृतस्यास्य रथमन्दगमनाज्ञानमाह—

उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरसौ निरुच्छ्वासमनीकिनीभिः।
रथस्य तस्यां पुरि दत्तचक्षुर्विद्वान् विदामास शनैर्न यातम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—विद्वान् (अत एव-) तस्यां पुरि दत्तचक्षुः, असौ निरन्तराभिः अनीकिनीभिः निरुच्छ्वासं वर्त्म उपेयुषः रथस्य शनैः यातं न विदामास।

बालबोधिनी—विद्वान् = अभिज्ञः (अत एव–) तस्यां = पूर्वोक्तायाम्। पुरि=नगर्याम्, द्वारकायामिति भावः। दत्तचक्षुः=निहितलोचनः, द्वारावतीगतहृदय इत्यर्थः। असौ=श्रीकृष्णः निरन्तराभिः=नीरन्ध्राभिः, बहुलाभिः। अनीकिनीभिः=सेनाभिः। निरुच्छ्वासं=अतिसङ्कटम्, अतिसङ्कीर्णम्। वर्त्म= मार्गम्। उपेयुषः=प्राप्तस्य, गतस्य। रथस्य=स्यन्दनस्य। शनैः=मन्दं मन्दम्। यातं=गमनम्। न विदामास=न विवेद। सङ्कटे हि मार्गे शनैर्गच्छन् वाही याति न वेति न बुध्यते। वस्तुतस्त्वत्र व्यासङ्गादेवासंवेदनं न तु तत्त्वज्ञानादिति भावः। 'विद्वान् विदामास' इत्यत्रानुप्रासः। अत्रावेदने पदार्थस्य व्यासङ्गस्य हेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

कोशः—'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः' इत्यमरः।

समासः—निर्गतम् अन्तरम् आसामिति निरन्तराः ताभिः निरन्तराभिः (प्रादिसमासः)। निर्गतः उच्छ्वासो यत्र तत् निरुच्छ्वासम् (प्रादिसमासः)।

व्याकरणम्—विद्वान्-विद्+शतृ–वसुः 'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) इति। यातम्—या भावे क्तः। विदामास–विद्+लिट्–तिप्–णल्+लिटि परतोऽस्तेरनुप्रयोगः। 'उषविद्जागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (३।१।३८) इति लिट्यां वा।

हिन्दी—विद्वान् (अत एव–) उस नगरी द्वारकापुरी (के देखने) में लगाये हुए नेत्र वाले अर्थात् सजाई हुई द्वारकापुरी को देखते हुए वे भगवान्

श्रीकृष्ण परस्पर में सटी हुई सेनाओं से ठसाठस भरे हुए मार्ग को प्राप्त रथ की मन्द गति को नहीं जान सके ॥ ३२ ॥

अथैकत्रिंशच्छ्लोकैर्द्वारिकां वर्णयति—

मध्ये-समुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा ।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्वा जलमुल्ललास ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मध्येसमुद्रम्, काञ्चनवप्रभासा ककुभः पिशङ्गीः कुर्वती या जलं भित्वा तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला इव उल्ललास ।

बालबोधिनी—मध्येसमुद्रं–समुद्रस्य मध्ये । काञ्चनवप्रभासा=हेमप्राकार-प्रभया; सुवर्णप्राकारदीप्त्या । ककुभः=दिशः पिशङ्गीः=पिङ्गलवर्णाः; पीताः । कुर्वती=कुर्वाणा । या=या नगरी द्वारका । जलं=समुद्रोदकम् । भित्वा=विदार्य । उत्थितेति शेषः । तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव=वडवानलशिखेव । उल्ललास= उद्बभासे; दिदीपे । उत्प्रेक्षालङ्कारः । ईदृग्ज्वालाया अप्रसिद्धत्वेनोपमानत्वा-योगात् । तथा चाहाश्र दण्डी—

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ काव्या० २।२३४॥

कोशः—'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरिताश्च ताः' इत्यमरः । वह्नेः द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—समुद्रस्य मध्ये इति मध्येसमुद्रम् (अव्ययीभावः) । काञ्चनस्य वप्रम्—काञ्चनवप्रम् (ष० त०), तस्य भाः तया—काञ्चनवप्रभासा (ष० त०) हूयते इति हव्यम्, हव्यं वहतीति हव्यवाहः=अग्निः (उपपद-समासः), तुरङ्गस्य कान्ता तुरङ्गकान्ता (ष० त०) तस्याः मुखम्—तुरङ्ग-कान्तामुखम् (ष० त०) तस्मिन् हव्यवाहः (स० त०) तस्य ज्वाला (ष० त०) तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला । केचन तु—तुरङ्गकान्तया तुल्यं मुखं यस्य स चाऽसौ हव्यवाहः तस्य ज्वाला 'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला'— इति विग्रहमाहुः ।

व्याकरणम्—मध्ये समुद्रम्—'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) इति विकल्पादव्ययीभावः । पिशङ्गी—'पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकेन ङीप् । उल्ललास—उद्+लस+लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—(अब इकत्तीस श्लोकों में द्वारकापुरी का वर्णन करते हैं—) समुद्र के बीच अपने सोने के परकोटे की कान्ति से दिशाओं को पीला बनाती

हुई जो द्वारकापुरी (समुद्र) के जल को भेदन करके (ऊपर उठी हुई) बडवानल की लपट के समान शोभित हो रही थी।

टिप्पणी—पिशङ्गी—यहाँ पर म०म० मल्लिनाथ जी ने–'गौरादित्वान्ङीष्' ऐसा लिखा है, जो कि चिन्त्य है। वस्तुतः 'पिशङ्ग' शब्द गौरादि गण में पठित नहीं है। इसलिए यहाँ 'ङीष्' भी नहीं होता है। यहाँ तो 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' (४।१।३९) सूत्र पर पठित 'पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम्' इस वार्तिक से ङीप् होता है ॥ ३३ ॥

अन्यच्च कीदृश्यसावित्याह—

कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव ॥ ३४ ॥

अन्वयः—भूमिभृतां सहस्रैः कृतास्पदा तथा उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः, पृथ्वी या अनिर्विदा विधात्रा पृथिव्याः प्रतियातना इव विदधे।

बालबोधिनी—भूमिभृतां=राज्ञाम्, पर्वतां च। सहस्रैः=सहस्रसङ्ख्याकैः। कृतास्पदा=कृताधिष्ठाना; विहितावस्थितिः। तथा—उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः=समुद्रजलपरिवेष्टितस्वरूपा। पृथ्वी=विस्तीर्णा; पृथुः। या=द्वारकापुरी। अनिर्विदा=अखिन्नेन। विधात्रा=विश्वसृजा; ब्रह्मणा। पृथिव्याः=मेदिन्याः, भूमेः। प्रतियातनेव=प्रतिकृतिरिव। विदधे=चक्रे, कृता। अत्र पृथिवीप्रतिनिधित्वोत्प्रेक्षया नगर्याः वैचित्र्यविस्तारादिवस्तु व्यज्यते।

कोशः—'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमरः। 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः' इत्यमरः। 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इति भूपर्यायेष्वमरः।

समासः—कृतम् आस्पदं यत्र सा कृतास्पदा (ब० व्री०)। भूमिं बिभ्रतीति भूमिभृतः, तेषां भूमिभृताम् (उपपदसमासः)। उदकमस्यास्तीति उदन्वान्, तस्य अम्भांसि उदन्वदम्भांसि (ष० त०) तैः परिवीता मूर्तिः यस्याः सा—उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः (ब० व्री०)। निर्विद्यते इति निर्विद्, न निर्विद् अनिर्विद्–तेन अनिर्विदा (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—भूमिभृताम्—भूमि + डुभृञ् भरणे + क्विप् + तुगागमः। अनिर्विदा—न + निर् + विद् + 'सत्सूद्विष—' (३।२।६१) इति क्विप्। उदन्वद्—'उदन्वानुदधौ च' (८।२।१२) इति निपातनात् साधुः। पृथिवी—

प्रयेरोणादिकः पिवन् + 'पिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीप् । विदधे— वि+डुधाञ् धारणपोषणयोः + कर्मणि लिट्—त—एश् ।

हिन्दी—हजारों राजाओं की निवासभूमि समुद्र के जल से परिवेष्टित स्वरूप वाली (तथा) विशाल जिस द्वारकापुरी को खेदरहित ब्रह्मा ने हजारों पर्वतों से युक्त (अधिष्ठित) तथा समुद्र-जल से परिवेष्टित पृथिवी की मानो प्रतिकृति के समान बनाया था ।। ३४ ।।

अपरं कीदृशीत्याह—

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्-प्रसरस्य सीमा ।
अदृश्यतादर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥ ३५ ॥

अन्वयः—त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा, या आदर्शतलामलेषु जलधेः जलेषु स्वः छाया इव अदृश्यत ।

बालबोधिनी—त्वष्टुः=विश्वकर्मणः । सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य=निरन्तराभ्यासप्राप्तक्रियाकौशलसम्पत्तिप्रकर्षस्य । सीमा=अवधिः । अप्रतिमेति भावः । ततोऽन्यद् विधात्रा भूतले न किञ्चित् सुन्दरं निर्मितमिति भावः । या=द्वारकापुरी । आदर्शतलामलेषु=दर्पणपृष्ठस्वच्छेषु । जलधेः=समुद्रस्य । जलेषु=नीरेषु । स्वः=स्वर्गस्य । अव्ययमिदम् । छायेव=प्रतिबिम्बमिव । अदृश्यत=दृष्टा, आलोक्यत । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः । 'छाया त्वनातपे कान्तौ प्रतिबिम्बार्कजाययोः' इति वैजयन्ती । 'देवशिल्पिन्यपि त्वष्टा' इत्यमरः ।

समासः—शिल्पे (शिल्पविषये) शिल्पस्य वा विज्ञानम्—शिल्पविज्ञानं (स० त० वा ष० त०) तस्य सम्पत् (ष० त०) तस्याः प्रसरः (ष० त०) शिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरः, सदा अभ्यासः सदाभ्यासः (विशेषणसमासः) तेन गृहीतः (तृ० त०) स चाऽसौ शिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरः (क० धा०) तस्य सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य । आदर्शस्य तलम् (ष० त०), आदर्शतलमिवामलानि—आदर्शतलामलानि, तेषु—आदर्शतलामलेषु (उपमितसमासः) ।

व्याकरणम्—अदृश्यत—दृशिर् प्रेक्षणे + कर्मणि लङ् + यक् + त ।

हिन्दी—विश्वकर्मा के निरन्तर अभ्यास से प्राप्त निर्माणकला की चातुर्यसम्पत्ति के उत्कर्ष की चरम अवधि रूप जो द्वारकापुरी, दर्पण के तल के समान स्वच्छ समुद्र के जल में स्वर्ग की मानो छाया के समान दृष्टिगोचर होती थी ।

टिप्पणी—विश्वकर्मा देवताओं के कारीगर हैं ॥ ३५ ॥

अपरं कीदृशीत्याह—

रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय यस्याः पितेव प्रतिपादितायाः ।
प्रेम्णोपकण्ठं मुहुरङ्कभाजो रत्नावलीरम्बुधिराबबन्ध ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अम्बुधिः पिता इव वराय रथाङ्गभर्त्रे अभिनवं प्रतिपादितायाः अङ्कभाजः यस्या उपकण्ठं मुहुः प्रेम्णा रत्नावलीः आबबन्ध ।

बालबोधिनी—अम्बुधिः=समुद्रः । पितेव=जनक इव । वराय=श्रेष्ठाय, जामात्रे च । अभिनवं=तत्कालं यथा भवति तथा । प्रतिपादितायाः=दत्तायाः । अङ्कभाजः=समीपवर्तिन्याः, पक्षान्तरे—उत्सङ्गवर्तिन्याः । यस्याः=पुर्याः द्वारकायाः । उपकण्ठं=समीपं, पक्षान्तरे=कण्ठे च । मुहुः=वारं वारम् । प्रेम्णा=स्नेहेन । रत्नावलीः=मणिपङ्क्तीः । आबबन्ध==व्यरचयत्, बन्धयामास । श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कारः ।

कोशः—'वरो जामातरि श्रेष्ठे' इति विश्वः । 'अङ्कः समीपे उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः ।

समासः—रथस्य अङ्गम्—रथाङ्गम् (ष० त०) तस्य भर्ता (ष० त०) तस्मै रथाङ्गभर्त्रे । अङ्कं भजते इति अङ्कभाक् तस्याः अङ्कभाजः (उपपद-समासः) । कण्ठस्य समीपे उपकण्ठम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः) ।

व्याकरणम्—आबबन्ध—आङ्+बधबन्धने+लिट्—तिप्—णल् ।

उपकण्ठम्— एकत्र (अन्तिके इत्यस्मिन्नर्थे) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अपरत्र (कण्ठे इत्यस्मिन्नर्थे) विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।

हिन्दी—समुद्र, सुदर्शन चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण के लिए तत्काल दी गयी तथा समीपवर्तिनी जिस द्वारकापुरी के समीप में प्रेम से रत्नावलियों को इस प्रकार बाँध (बिखेर) देता था, जिस प्रकार कि एक पिता, जामाता के लिए तुरन्त दी हुई तथा गोद में रहने वाली कन्या के कण्ठ में प्रेम से रत्नों के हार को बाँध (पहना) देता है ॥ ३६ ॥

पुनः कीदृशीत्याह—

यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वहमन्वकारि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन यस्याः वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रः अन्वहम् अन्वकारि ।

बालबोधिनी—चलद्वारिधिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन = प्रचलज्जलधितरङ्गपरम्परोत्पतत्कम्बुपूगव्याप्तेन । यस्याः = द्वारकायाः पुर्याः । वप्रेण = प्राकारेण । पर्यन्तचरोडुचक्रः = निकटवर्तितारकसमूहः । सुमेरुवप्रः = हेमाद्रिसानुः । अन्वहम् = अहन्यहनि, अहर्दिवम् । अन्वकारि = अनुकृतः । सुमेरुसाम्याद् वप्रस्य तत्तुल्यमौन्नत्यं व्यज्यते ।

कोशः—'शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियौ' इत्यमरः । 'सानुप्राकारयोर्वप्रम्' इति सज्जनः । मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः ।

समासः—वारिधेः वारयः वारिधिवारयः (ष० त०), तेषां वीचयः वारिधिवारिवीचयः (ष० त०), चलन्त्यश्च ताः वारिधिवारिवीचयः चलद्वारिधिवारिवीचयः (क० धा०), तासां छटाः चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटाः (ष० त०) ताभिः आकुलम् (तृ० त०) तेन—चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटाकुलेन । उडूनां चक्रम्—उडुचक्रम् (ष० त०), पर्यन्ते चरतीति—पर्यन्तचरम् (उपपदसमासः), पर्यन्तचरम् उडुचक्रं यस्य सः पर्यन्तचरोडुचक्रः (ब० व्री०) । सुमेरोः वप्रः सुमेरुवप्रः (ष० त०) । अहनि अहनीति अन्वहम् (अव्ययीभावः)

व्याकरणम्—अन्वहम्—'अव्ययं विभक्ति—' (२ । १ । ६) इत्यादिनाऽव्ययीभावः । 'अनश्च' (५ । ४ । १०८), 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' (५ । ४ । १०९) इति समासान्तो टच् प्रत्ययः । अन्वकारि—अनु+कृ+कर्मणि लुङ्—त ।

हिन्दी—चलती हुई समुद्र–जल की तरङ्गों से उछलते हुए शङ्खों के समूहों से व्याप्त जिस द्वारकापुरी के परकोटे ने चारों तरफ घूमते हुए नक्षत्रों वाले सुमेरु पर्वत का अनुकरण किया ॥ ३७ ॥

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ॥ ३८ ॥

अन्वयः—यत्र वणिक्पथे पूगकृतानि अलोलद्युतिभाञ्जि रत्नानि, लोलैः (अत एव –) भ्रमागतैः अम्बुभिः मुष्णन् अम्बुराशिः रत्नाकरताम् अवाप ।

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां पुरि, द्वारकायामित्यर्थः । वणिक्पथे=आपणे । पूगकृतानि = पुञ्जीकृतानि, राशीकृतानि । तथा–अलोलद्युतिभाञ्जि=

स्थिरप्रभावन्ति । रत्नानि = मणीन् । लोलैः=चञ्चलैः । (अत एव-) भ्रमागतैः = जलनिर्गममार्गागतैः, जलनालकप्रविष्टैः । अम्बुभिः = जलैः। मुष्णन् = अपहरन् । अम्बुराशिः=अर्णवः, समुद्रः । रत्नाकरतां=मणिनिल यत्वम् । अवाप =प्राप्तवान्, लेभे । न तु स्वभावतो रत्नाकर इति भावः।

कोशः—'भ्रमाश्च जलनिर्गमाः' इत्यमरः । 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीर क्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमरः ।

समासः—वणिजां पन्थाः वणिक्पथः (ष० त०) तस्मिन्–वणिक्पथे। अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि कृतानि पूगकृतानि (क० धा०)। अलोला च चाऽसौ द्युतिश्च अलोलद्युतिः (क० धा०) तां भजन्ते यानि तानि अलोल द्युतिभाञ्जि (उपपदसमासः) । भ्रमैः आगतैः भ्रमागतैः (तृ० त०)। अम्बूनां राशिः (ष० त०) अम्बुराशिः । रत्नानाम् आकरः रत्नाकरः (ष० त०), तस्य भावस्ताम् रत्नाकरताम् ।

व्याकरणम्—अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि कृतानि पूगकृतानि—'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' (२।१।५९) इति समासः । अवाप—अव+आप्लृ + लिट्- तिप्–णल् ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में बाजारों में ढेर किये हुए, स्थिर कान्ति वाले रत्नों को नालियों के द्वारा आये हुए (अपने) चञ्चल जलों से चुराते हुए जलराशि समुद्र ने रत्नाकरता (रत्नों का स्थान इस भाव) को प्राप्त किया ॥ ३८ ॥

अपरं कीदृशीत्याह—

अम्भश्च्युतः कोमलरत्नराशीनपांनिधिः फेनपिनद्धभासः ।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्पं विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यत्र अपांनिधिः, अम्भश्च्युतः (अत एव –) फेनपिनद्धभासः कोमलरत्नराशीन् आतपे दातुमिव अधितल्पं तरङ्गहस्तैः विस्तारयामास ।

बालबोधिनी—यत्र = यस्यां पुरि । अपांनिधिः = समुद्रः । अम्भश्च्युतः= जलस्राविणः (अत एव–) फेनपिनद्धभासः = डिण्डीराच्छादितदीप्तीन्, पिहितकान्तीन् । कोमलरत्नराशीन् = उत्तमरत्नसमूहान् । आतपे = प्रकाशे दातुं = शोषणार्थं निधातुम् । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । अधितल्पं = तल्पेषु अट्टेषु उपतल्पमिति पाठे तल्पस्य समीपे; अट्टसमीपे इत्यर्थः । तरङ्गहस्तैः=वीचिकरैः

विस्तारयामास=प्रसारितवान्। 'विसारयामास' इति पाठान्तरे विचिक्षेपेत्यर्थः। क्लिन्नं हि वस्तु अवश्यमेवातपे स्थाप्यते इति भावः। अत्रातपे दातुमिवेति फलोत्प्रेक्षा। 'तरङ्गहस्तैः' इत्यत्र च रूपकम्। किञ्चात्रातपदानस्य तरङ्गहस्तसाध्यत्वेनानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः। तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। 'प्रकाशो द्योत आतपः' इत्यमरः। भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः' इत्यमरः। 'पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—अम्भश्च्योतन्तीति अम्भश्च्युतः, तान्–अम्भश्च्युतः (उपपद-समासः) फेनैः पिनिद्धा भासो येषां तान्–फेनपिनद्धभासः (ब० व्री०)। कोमलानि च तानि रत्नानि कोमलरत्नानि (क० धा०), तेषां राशयः, कोमलरत्नराशयः तान्–कोमलरत्नराशीन् (ष० त०)। तल्पेषु इति अधितल्पम् (अव्ययीभावः)। उपतल्पमिति पाठे—तल्पस्य समीपे उपतल्पम्। (अव्ययीभावः)। तरङ्गा एव हस्ताः तैः तरङ्गहस्तैः (रूपकसमासः)।

व्याकरणम्—पिनद्ध—अपिपूर्वाण् 'णहबन्धने' इति धातोः कर्मणि क्तः, 'वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः। विस्तारयामास–वि+स्तृञ्+लिट्–तिप्–णल्+अस्तेरनुप्रयोगः।

हिन्दी—जिस नगरी में समुद्र, जलों को टपकाते हुए तथा फेनों (समुद्रजल के झागों) से आच्छादित कान्ति वाले उत्तम रत्नसमूहों को, मानो धूप देने के लिए अटारियों के ऊपर अपने तरङ्गरूपी हाथों से फैला देता था ।। ३९ ।।

पुनः कीदृशीत्याह—

यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य।
महोर्मिभिर्व्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडादिवाभ्यासगतैर्विलिल्ये ॥ ४० ॥

अन्वयः—सागरस्य महोर्मिभिः यच्छालम् उत्तुङ्गतया विजेतुं दूराद् उदस्थीयत; अभ्यासगतैः व्याहतवाञ्छितार्थैः व्रीडादिव विलिल्ये।

बालबोधिनी—सागरस्य=समुद्रस्य। महोर्मिभिः=महातरङ्गैः। यच्छालैः=यत्प्राकारम्। उत्तुङ्गतया=औन्नत्येन गुणेन। विजेतुम्=परिभवितुम्; लघूकर्त्तुमित्यर्थः। फलोत्प्रेक्षा। दूरात्=सुदूरप्रदेशात्। उदस्थीयत=उत्थितम्। अभ्यासगतैः=समीपगतैः। व्याहतवाञ्छितार्थैः=असम्पन्नमनोरथैः; भग्नमनोरथैः। व्रीडात्=लज्जायाः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम् हेतूत्प्रेक्षात्र। विलिल्ये=

विलीनम् । यः किल केनचिद् गुणेन जिगीषितं न जयति सोऽवश्यमेव ह्रियाऽदर्शनं याति । अत्रोभयोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वेन स्थितत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

कोशः—'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः । 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः ।

समासः—यस्याः शालः यच्छालः तम्—यच्छालम् (ष० त०) । वाञ्छिताः अर्थाः वाञ्छितार्थाः (क० धा०), व्याहताः वाञ्छितार्थाः येषां ते व्याहतवाञ्छितार्थाः (ब० व्री०) । अभ्यासं गतैः अभ्यासगतैः (द्वि० त०) ।

व्याकरणम्—उदस्थीयत—उद्+स्था+भावे लङ्–त–यक् अडागमः । विलिल्ये—वि + लीङ् श्लेषणे+भावे लिट्–त–एश् ।

हिन्दी—समुद्र की बड़ी-बड़ी तरङ्गें जिस द्वारकापुरी के परकोटे को ऊँचाई में मानो जीतने के लिए दूर से ऊपर की ओर उठीं, परन्तु समीप में आये हुए तथा (परकोटे के बहुत ऊँचा होने के कारण) नष्ट अभिलाष वाली वे तरंगें मानो लज्जा से विलीन हो गयीं ।। ४० ।।

पुनस्तामेव वर्णयति—

कूतूहलेनेव जवादुपेत्य प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः ।
रसन्नरोदीद् भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या बहिरम्बुवाहः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अम्बुवाहः कुतूहलेन इव जवात् उपेत्य यस्याः प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः बहिः (एव) रसन् अम्बुवर्षव्याजेन भृशम् अरोदीत् ।

बालबोधिनी—अम्बुवाहः = मेघः । कुतूहलेन=कौतुकेन; प्रवेशोत्कण्ठयेति भावः । इवेति हेतूत्प्रेक्षायाम् । जवात्=वेगात् । उपेत्य=समीपमागत्य । 'उपेतः' इति पाठान्तरे समीपं गतं इत्यर्थः । यस्याः=द्वारकायाः पुर्याः । प्रकारभित्त्या = शालकुड्येनम् । सहसा = झटिति; बलात् । निषिद्धः=निवारितः । बहिः=बहिःप्रदेशे एव । रसन्=गर्जन्; पक्षान्तरे=दुःखात् क्रन्दन् । अम्बुवर्षव्याजेन = वारिधारावृष्टिच्छलेन । भृशम् = अत्यर्थम् । अरोदीत्=अश्रूणि मुक्तवान् । यः किल कौतुकादागतः प्रवेशान्निषिध्यते सोऽवश्यमेव परिभवात् तारस्वरेण रोदिति । अत्राम्बुवर्षव्याजेनोत्पादितस्यापह्नुतेरुक्तश्लेषोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात्सङ्करः ।

कोशः—'कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्' इत्यमरः । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः ।

समासः—अम्बु वहतीति अम्बुवाहः (उपपदसमासः) । प्राकारस्य भित्तिः

प्राकारभित्तिः तया प्राकारभित्त्या (ष० त०)। अम्बुनो वर्षम्—अम्बुवर्षम्, तस्य व्याजेन—अम्बुवर्षव्याजेन (ष० त०)।

व्याकरणम्—अम्बुवाह–अम्बु+वह+अण् 'कर्मण्यण्' (३।२।१) इति। अरोदीन्—रुदिर्+लङ् 'रुदश्च पञ्चभ्यः (७।३।९८) इतीडागमः।

हिन्दी—बादल मानो उत्कण्ठापूर्वक वेग से समीप में आकर जिसके पर-कोटे की दीवार से अचानक रोका हुआ, बाहर ही शब्द करता (गर्जता, पक्षा०—चिल्लाता) हुआ, पानी बरसाने के बहाने से रोता था ॥ ४१ ॥

अपरं कीदृशीत्याह—

यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः॥ ४२ ॥

अन्वयः—यदङ्गनारूपतायाः भेदकं कञ्चिद् गुणम् इच्छतीभिः अप्सरोभिः, आराधितः मनुः स्वाः प्रजाः सनिमेषचिह्नाः चक्रे अद्धा।

बालबोधिनी–यदङ्गनारूपसरूपताया=द्वारकानगरीसुन्दरीसौन्दर्यसादृश्यात्। रूपं सौन्दर्यमाकारो वा। भेदकं=व्यावर्तकम्। विशेषकारिणम्। कञ्चिद् गुणं=यं कमपि धर्मम्। इच्छतीभिः=कामयमानाभिः, अपेक्षमाणाभिः। अप्सरोभिः=स्वर्वेश्याभिः। आराधितः=प्रार्थितः। मनुः=मानुषसृष्टिकर्ता। स्वाः=स्वकीयाः, आत्मीयाः। प्रजाः=मानुषलक्षणाः सन्ततीः। सनिमेष-चिह्नाः=नेत्रसङ्कोचविकासोपलक्षिताः। चक्रे=चकार। अद्धा=निश्चितम्, तत्त्वमित्युत्प्रेक्षा। एतेन पुरस्त्रीभ्योऽप्सरसामनिमेषत्वं विशेषो न त्वन्यः कश्चिदिति रूपातिशयस्तासामुक्तः। कटाक्षेक्षणादियोगाच्च भङ्ग्या तासामेवाप्सरोभ्यो विशेपो ध्वनितः।

कोशः—'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः' इत्यमरः। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। 'प्रजा लोके च सन्ताने' इति च मेदिनी।

समासः—यस्याम् अङ्गनाः यदङ्गनाः (स० त०) तासां रूपं यदङ्गनारूपम् (ष० त०) तस्य सरूपता यदङ्गनारूपसरूपता (ष० त०) तस्याः यदङ्गना-रूपसरूपतायाः। निमेष एव चिह्नं निमेषचिह्नम् (रूपकसमासः) तेन सह वर्तन्ते याः ताः सनिमेषचिह्नाः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—सनिमेषचिह्नाः—निमेषचिह्नेन सह वर्तन्ते यास्ताः सनिमेष-चिह्नाः 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिसमासः। चक्रे—कृञ+लिट्–त–एश्।

हिन्दी—जिस नगरी में (वर्तमान) नारियों के सौन्दर्य के सादृश्य से भेद करने वाले किसी धर्म को चाहने वाली अप्सराओं से प्रार्थित (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मा ने अपनी प्रजा (अर्थात् द्वारका की सुन्दरियों) को नेत्रसङ्कोच-विकास (पलकें गिराना रूप) चिह्न वाला बना दिया। यह निश्चित ही है ॥ ४२ ॥

अपरं कीदृशीत्याह—

स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः।
आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यत्र क्षणदासु नार्यः स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः विनिह्नुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः आरुह्य नभोगताः देव्य इव व्यराजन्।

बालबोधिनी—यत्र = यस्यां पुरि। क्वचिद् यस्यामित्येव पाठः। क्षणदासु = रात्रिषु। नार्यः = स्त्रियः। स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः = उल्लसच्छिशिरकिरणकरनिकरैः। विनिह्नुताः = अपह्नुताः। स्फाटिकसौधपङ्क्तीः = स्फटिकोपलरचितसौधमालाः। आरुह्य = अधिरुह्य। नभोगताः = व्योमस्थिताः। देव्य इव = देवाङ्गना इव। व्यराजन् = बभुः। सौधानामग्रहणादभ्रङ्कषत्वाच्च तत्र लक्ष्यमाणाः स्त्रियः खेचर्य इव रेजुरित्यर्थः। अत्र विनिह्नुताः—अपह्नुताः, तदेकरूपतापत्तेरगृह्यमाणा इत्यर्थः। अत एकरूपताग्रहणात्सामान्यालङ्कारः। नभोगतत्वोत्प्रेक्षायाश्च सामान्यसापेक्षत्वात्सङ्करः। सामान्यलक्षणं यथा—'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति।

कोशः—'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। 'क्षणदा क्षपा' इत्यमरः। 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः श्रेणी' इत्यमरः।

समासः—तुषाराः अंशवो यस्य सः—तुषारांशुः (ब० व्री०), तस्य मरीचयः (ष० त०) तेषां जालानि (ष० त०) तुषारांशुमरीचिजालानि, स्फुरन्ति च तानि तुषारांशुमरीचिजालानि (क० धा०) तैः स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः। स्फटिकानां विकाराः स्फाटिकाः, स्फाटिकाश्च ते सौधाश्च स्फाटिकसौधाः (क० धा०) तेषां पङ्क्तयः स्फाटिकसौधपङ्क्तयः (ष० त०) ताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः।

व्याकरणम्—देव्यः—देवशब्दस्य पचादिषु देवडिति पाठात् 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्। व्यराजद्—वि + राज् + लङ्—झि + अडागमः।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में रात्रियों में स्त्रियाँ चमकते हुए चन्द्रमा के किरण समूहों से छिपी हुई (अर्थात् दोनों के समान शुभ्र वर्ण होने से एकरूप

होने के कारण अभिन्न होती हुई) श्वेत संगमरमर के महलों की श्रेणियों पर चढ़कर मानों आकाशस्थ देवाङ्गनाओं के समान शोभित होती थीं ॥ ४३ ॥

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र ।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—यत्र प्रतिक्षपम् कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु हर्म्यतलेषु उच्चैः प्रणाल्यः पातिपयोमुचः अपि पयसां समूहम् ऊहुः ।

बालबोधिनी—यत्र = यस्यां पुरि । प्रतिक्षपं=क्षपासु, अनुनिशम् । कान्तेन्दु-कान्तोपलकुट्टिमेषु = मनोरमचन्द्रकान्तमणिबद्धभूमिषु । हर्म्यतलेषु = सौधपृष्ठेषु । उच्चैः = उन्नताः । प्रणाल्यः = जलमार्गाः अधःपातिपयोमुचः = अधश्चरमेघाः । अपीति विरोधे । अधःकृतमेघमण्डलत्वादज्ञातवृष्टिपाता अपीत्यर्थः । विरोधाभासोऽलङ्कारः । पयसां = जलानाम् । समूहम् = राशिम्, पूरम् । ऊहुः = वहन्ति स्म, बभ्रुः । अत्र सौधानां प्रणालीनां च तादृगौन्नत्यपयःपूरासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः ।

कोशः—'कुट्टिमं बद्धभूमिः स्यात्' इति हलायुधः । द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः ।

समासः—क्षपासु इति प्रतिक्षपम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः) । इन्दुकान्ताश्च ते उपलाश्चेति—इन्दुकान्तोपलाः (क० धा०) कान्ताश्च ते इन्दुकान्तोपलाः कान्तेन्दुकान्तोपलाः (क० धा०) तेषां कुट्टिमानि (ष० त०) तानि सन्ति येषु तेषु—कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु (ब० व्री०) । हर्म्याणां तलानि हर्म्यतलानि तेषु—हर्म्यतलेषु (ष० त०) । पयोमुञ्चन्तीति पयोमुचः (उपपदसमासः) । अधःपतन्तीति अधःपातिनः (उपपदसमासः) अधःपातिनश्च ते पयोमुचश्च—अधःपातिपयोमुचः (क० धा०), अधःपातिपयोमुचो यासां ताः अधःपातिपयोमुचः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—पयोमुचः—पयस् + मुच्लृ + क्विप् । ऊहुः—वह + लिट्—झि—उस् 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६ । १ । १५) इति सम्प्रसारणम् ।

हिन्दी—जिस द्वारका में प्रत्येक रात्रि में मनोरम चन्द्रकान्त मणि से बने हुए फर्शों वाले महलों की ऊपरी छतों पर ऊँची, जल बहाने की नालियाँ, नीचे स्थित मेघों वाली (जिनके नीचे मेघ बरसते हैं ऐसी) होती हुई भी जल-समूहों को धारण करतीं (बहातीं) थीं ।

टिप्पणी—यद्यपि द्वारकापुरी के महल इतने ऊँचे थे कि बादल भी उनसे नीचे ही रह जाते थे जिससे वर्षा का जल उनकी छतों पर कभी नहीं गिरता था। परन्तु चन्द्रकान्तमणियों से बनी हुई छतों पर चन्द्रमा की किरण निरन्तर पड़ते रहने के कारण वे चन्द्रकान्तमणियाँ द्रवित होती रहती थीं जिससे उन छतों के पनाले निरन्तर बहते रहते थे ॥ ४४ ॥

पुनः कीदृशीत्याह—

रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—यत्र अधिगृहं गृहिण्यः (अत एव–) रतौ ह्रिया दीपान् निशाम्य, जालागताभ्यः वैदूर्यकुड्येषु (संक्रान्ताभ्यां:, अत एव–) बिडालेक्षणभीषणाभ्यः शशिद्युतिभ्यः बिभ्युः ।.

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां पुरि । अधिगृहं=गृहेषु । गृहिण्यः=कुलाङ्गनाः। (अत एव–) रतौ=रतिकाले । ह्रिया = लज्जया । दीपान्=प्रदीपान्। निशाम्य=निर्वाप्य । क्वचित् 'निशाम्य' इत्यस्य स्थाने 'निशम्य' इति पाठान्तरम्, तच्च समीचीनमेव, शमेर्मित्वाद्ध्रस्वादेशो युक्तः । निशाम्येति तु चिन्त्यमेव। जालागताभ्यः=गवाक्षविवरप्रविष्टाभ्यः । वैदूर्यकुड्येषु=बालवायजभित्तिषु संक्रान्ताभ्य इति शेषः । (अत एव–) बिडालेक्षणभीषणाभ्यः=मार्जारनेत्र-भयङ्कराभ्यः । शशिद्युतिभ्यः=चन्द्रकान्तिभ्यः । बिभ्युः=भीताः मौग्ध्यादिति भावः । अत्र वैदूर्यविषये महाभाष्यमनुसृत्य श्रीमल्लिनाथा आहुः—

विदूरात्प्रभवन्तीति वैदूर्याणि । अत्र विदूरशब्दो बालवायस्यादेशः पर्यायो वा तत्रोपचरितो वा । तेन बालवायाद् गिरेरसौ प्रभवति न विदूरान्नगरात् तत्र तु संस्क्रियते इत्याक्षेपः प्रयुक्तः । यदुक्तम्—

बालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा ।
न वै तत्रैति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् ॥ इति ॥

अत्र लज्जावारणाय दीपनिर्वापणे न केवलं तदसिद्धिः प्रत्युत भयं चोत्पन्नमित्यनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः । यदुक्तम्—

विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् ।
विरूपघटना या स्याद्विषमालङ्कृतिर्मता ॥

कोशः—'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः। 'जालं गवाक्ष आनायः' इति विश्वः। 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः।

समासः—गृहेषु इति अधिगृहम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः)। जालम् आगताभ्य इति जालागताभ्यः (द्वि० त०)। विदूरात्प्रभवन्तीति वैदूर्याणि, तेषां कुड्यानि (ष० त०) तेषु—वैदूर्यकुड्येषु। शशिनो द्युतयः शशिद्युतयः (ष० त०) ताभ्यः शशिद्युतिभ्यः।

व्याकरणम्—बिभ्युः—ञिभी भये + लिट्—झि—उस्।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में घरों में अङ्गनाएँ रतिकाल में लज्जा के कारण जलते हुए दीपकों को बुझाकर गवाक्षों से आई हुईं तथा वैदूर्यमणि (इसे वैदूर्य, लहसुनियाँ तथा बालवायज भी कहते हैं) से बनी हुई भीतों में संक्रान्त होने से बिल्ली की आँखों के समान भयङ्कर चन्द्रमा की कान्तियों (किरणों) से डरती थीं।

टिप्पणी—विदूर शब्द से प्रभव अर्थ में 'विदूराञ्ञ्यः' (४।३।८४) से ञ्य-प्रत्यय होकर वैदूर्य शब्द निष्पन्न होता है। कुछ लोग विदूर नगर में उत्पन्न या संस्कृत होने से वैदूर्य कहते हैं जो कि चिन्त्य है। वस्तुतः यहाँ महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जो इसका स्पष्टीकरण किया है वही ग्राह्य है। उनका भाव यह है—यह बालवाय नामक पर्वत में उत्पन्न होता है। बालवाय को विदूर आदेश होता है अथवा बालवाय का पर्याय विदूर है। अथवा बालवाय से उत्पन्न मणि को विदूर नगर में तराशा जाता रहा हो। किसी भी तरह उसका सम्बन्ध होने से ही प्रभव अर्थ में प्रत्यय होकर वैदूर्य बनता है। यह कुछ पीले रङ्ग का रेखादार पत्थर होता है। रोशनदान की जालियों से जब चन्द्रमा की किरणें वैडूर्य की भित्तियों पर पड़ती हैं तो बिल्ली की आँखों जैसी प्रतीत होती हैं॥ ४५॥

पुनः कीदृश्यसावित्याह—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गा सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः॥ ४६॥

अन्वयः—यस्यां गृहेषु अतिश्लक्ष्णतया, आलेख्यं विधातुम् अशक्नुवन्तः युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः रत्नभित्तीः सजीवचित्रा इव चक्रुः।

बालबोधिनी—यस्यां=द्वारकायाम्। गृहेषु=वेश्मसु। अतिश्लक्ष्णतया=अतिमसृणतया। आलेख्यं = चित्रम्। विधातुं = कर्तुम्। अशक्नुवन्तः=

असमर्थाः । युवानः=तरुणाः प्रतिबिम्बिताङ्गाः=प्रतिफलितशरीराः, संक्रान्तमूर्तयः सन्तः । रत्नभित्तीः=मणिकुड्यानि । सजीवचित्राः=सचेतनचित्रवतीरिव, सप्राणलेख्याः । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । चक्रुः=चक्रिरे, विदधुः ।

कोशः—'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम् । निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् । गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । 'भित्तिः स्त्री कुड्यम्' इत्यमरः ।

समासः—अत्यन्तं श्लक्ष्णम्—अतिश्लक्ष्णम् (प्रादिसमासः) तस्य भावस्तया अतिश्लक्ष्णतया न शक्नुवन्तः अशक्नुवन्तः (नञ् त० पु०) । प्रतिबिम्बितमङ्गं येषां, ते (यासु वा ताः) प्रतिबिम्बिताङ्गाः (ब० व्री०) । रत्नानां भित्तयः रत्नभित्तयः (ष० त०) ताः रत्नभित्तीः । जीवेन सह वर्तमानानि सजीवानि (ब० व्री०) तानि च तानि चित्राणि सजीवचित्राणि (क० धा०), तानि सन्ति यासु ताः सजीवचित्राः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—युवानः—युवन्+जस् तत उपधादीर्घः । चक्रुः—डुकृञ् करणे+लिट्–झि–उस् ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में महलों (की दीवारों) में अत्यन्त चिकना होने से चित्र बनाने में असमर्थ होते हुए युवकों (नौजवान चित्रकारों) ने स्वयं प्रतिबिम्बित होते हुए रत्नों की दीवारों को प्राणधारी चित्रों वाली बना दिया ॥ ४६ ॥

पुनः कीदृशीत्याह—

सावर्ण्यभाजां प्रतिमागतानां लक्ष्यैः स्मरापाण्डुतयाङ्गनानाम् ।
यस्यां कपोलैः कलधौतधामस्तम्भेषु भेजे मणिदर्पणश्रीः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यस्यां कलधौतधामस्तम्भेषु प्रतिमागतानां सावर्ण्यभाजाम् अङ्गनानां स्मरापाण्डुतया लक्ष्यैः कपोलैः मणिदर्पणश्रीः भेजे ।

बालबोधिनी—यस्यां = द्वारकापुर्याम् । कलधौतधामस्तम्भेषु=सुवर्णागारस्थूणेषु । प्रतिमागतानां = प्रतिबिम्बितानाम् । सावर्ण्यभाजां = सदृशवर्णानाम्, तत्सावर्ण्यादगृहीतभेदानामित्यर्थः । अङ्गनानां = कामिनीनाम् । स्मरापाण्डुतया=कन्दर्पपाण्डुरत्वेन । लक्ष्यैः=दृश्यैः । विभिन्नवर्णत्वाद् भेदेन गृह्यमाणैरित्यर्थः । कपोलैः = गण्डैः । मणिदर्पणश्रीः = स्फटिकादर्शशोभा । भेजे=प्राप्ता । क्वचित् पूर्वार्धे–'सावर्ण्यभाजः प्रतिमागतायाः लक्ष्यैः स्मरपाण्डुतया तरुण्याः' इति पाठान्तरम् । अत्र वचने एव भेदः । कामवशात् पाण्डुर-

कपोलाः सुवर्णस्तम्भेषु प्रतिफलिताः सन्तः 'स्फटिकादर्शाः काञ्चनस्तम्भेषु कृता एते' इति ज्ञायन्ते इत्यर्थः। 'अत्र सावर्ण्यभाजाम्' इत्यत्र सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्। तथा 'मणिदर्पणश्रीः भेजे' इत्यत्र कथमन्यस्य श्रियमन्यो भजत्विति तत्सदृशश्रीप्राप्तौ पर्यवसानान्निदर्शनालङ्कारः। सा च निदर्शनोक्तसामान्यप्रसादलब्धेति द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

कोशः—'शुक्लशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डराः। अवदातः सितो गौरो बलक्षो धवलोऽर्जुनः। हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। 'गण्डे कपोलौ' इत्यमरः

समासः—कलधौतानां धामानि कलधौतधामानि (ष० त०) तेषां स्तम्भाः कलधौतधामस्तम्भाः (ष० त०) तेषु कलधौतधामस्तम्भेषु। प्रतिमां गता प्रतिमागताः (द्वि० त०) तासाम्–प्रतिमागतानाम्। सावर्ण्यं भजन्तीति सावर्ण्यभाजः (उपपदसमासः) तासाम्–सावर्ण्यभाजाम्। आ = समन्तात् पाण्डुः आपाण्डुः, स्मरेण स्मराद् वा आपाण्डुः स्मरापाण्डुः (तृ० त०) तस्य भावः तया—स्मरापाण्डुतया।

व्याकरणम्—सावर्ण्यभाजाम्·सावर्ण्य+भज+ण्विः 'भजो ण्विः' (०।२।६२) इति। भेजे—भज+कर्मणि लिट्–त–एश् 'तृफलभजत्रपश्च' (६।४।१२२) इत्येत्वेऽभ्यासलोपश्च।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में सुवर्ण के महलों के स्तम्भों में प्रतिबिम्बित तथा सादृश्यको प्राप्त कामिनियों के कामदेव के कारण श्वेत हो जाने से (स्पष्ट रूप से पृथक्) दृष्टिगोचर होने वाले कपोलस्थलों ने स्फटिकमणि के दर्पणों की शोभा को प्राप्त किया ॥ ४७ ॥

अपरं कीदृशीत्याह—

शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम्।
यस्यामलिन्देषु न चक्रुरेव मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यस्याः मुग्धाङ्गनाः शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां गृहदेहलीनां भासा लिप्तेषु अलिन्देषु गोमयगोमुखानि न चक्रुः एव।

बालबोधिनी—यस्यां=द्वारकायाम्। मुग्धाङ्गनाः=मूढस्त्रियः। न तु तत्त्वज्ञानविचारचतुराः इति भावः। शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां=कीरशरीरवन्नीलमणिरचितानाम्। मरकतमणिरचितानामित्यर्थः। गृहदेहलीनां = निकेतनद्वारा-

धारशाखादारूणाम् । अथवा—निकेतनद्वाराधारशाखादार्वधःस्थितभूमिभागानाम् । भासा = दीप्त्या । लिप्तेषु = छुप्तेषु । अलिन्देषु = द्वारबहिर्भागेषु, प्रघाणेषु । गोमयगोमुखानि = गोपुरीपलेपनानि । न चक्रुः = न विदधुः । एवेति निश्चये । नीलोपलप्रभाया विलेपनभ्रान्त्येति भावः । अत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः । यदुक्तं साहित्यदर्पणे—'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः' इति ।

कोशः—'कीरशुकौ समौ' इत्यमरः 'उपलः प्रस्तरे मणौ' इति विश्वः । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । 'प्रघणप्रघाणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः । 'गोमुखं कुटिलाकारे वाद्यभाण्डे विलेपने' इति विश्वः ।

समासः—मुग्धाश्च ताः अङ्गनाश्च मुग्धाङ्गनाः (क० धा०) । नीलाश्च ते उपलाश्च नीलोपलाः (क० धा०), शुकस्य अङ्गम्—शुकाङ्गम्, शुकाङ्गमिव नीलोपलाः शुकाङ्गनीलोपलाः (उपमितसमासः) । गृहाणां देहल्यो गृहदेहल्यः, तासाम्-गृहदेहलीनाम् (ष० त०) । गोः पुरीषम्=गोमयम् गोमयस्य गोमुखानि-गोमयगोमुखानि (ष० त०) ।

व्याकरणम्—गोमय—गो मयट् 'गोश्च पुरीषे' (४।३।४५) इति, चक्रुः–डुकृञ् करणे+लिट्–झि–उस् ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में भोलीभाली स्त्रियों ने तोते के शरीर के समान हरे वर्ण वाली मरकत मणियों से बनी हुई घर की देहलियों की कान्ति से लिप्त द्वार के बाहरी भागों को गोबर से नहीं लीपा । यह बात निश्चय ही है ।

टिप्पणी—घर की देहलियाँ मरकत मणियों की बनी हुई हैं, उनकी हरी कान्ति से द्वारों का बाहरी भाग भी हरा हो गया है और ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे वह गोबर से लिपा हो । अतः भोलीभाली स्त्रियाँ उन्हें गोबर से नहीं लीपती हैं । यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

गोपानसीषु क्षणमास्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः ।
हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैर्गृहाणि नीध्रैरिव यत्र रेजुः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—यत्र गोपानसीषु क्षणम् आस्थितानां चन्द्रकिणाम् आलम्बिभिः कलापैः हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः नीध्रैः इव रेजुः ।

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां पुरि। गृहाणि=वेश्मानि। गोपानसीषु=वलभीषु। क्षणं=क्षणमात्रम्। आस्थितानाम्=आसीनानाम्, उपविष्टानाम्। चन्द्रकिणां=बर्हिणाम्, मयूराणाम्। आलम्बिभिः=लम्बमानैः। कलापैः=बर्हैः। हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः=मरकतमणिवच्छ्यामतृणरमणीयैः। हरिततृणमयैरित्यर्थः। नीध्रैरिव=पटलप्रान्तैरिव। रेजुः=बभुः। नीध्रैरिवेत्यत्र-जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा।

कोशः—'गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणि' इत्यमरः। 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः। 'गरुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः। 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्तोऽथ पटलं छदिः' इत्यमरः।

समासः—हरितश्च ते मणयश्च हरिन्मणयः (क० धा०), हरिन्मणय इव श्यामानि हरिन्मणिश्यामानि (उपमितसमासः) तानि च तानि तृणानि च हरिन्मणिश्यामतृणानि (क० धा०) तैः अभिरामैः हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः (तृ० त०)।

व्याकरणम्—रेजुः—राजृ दीप्तौ+लिट्–झि–उस् 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में महल, छज्जों पर क्षणभर बैठे हुए मयूरों के लटकते हुए पँचों (पिच्छों) से ऐसे शोभित होते थे मानो पन्नामणि के समान श्याम वर्ण वाले मनोहर छप्परों के कोरों (किनारों) से शोभित हों ॥४९॥

अपरं कीदृश इत्याह—

बृहत्तुलैरप्यतुलैर्वितानमालापिनद्धैरपि चावितानैः।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः ॥ ५० ॥

अन्वयः—या बृहत्तुलैः अपि अतुलैः वितानमालापिनद्धैः अपि अवितानैः विचित्रैः अपि सचित्रैः विशालैः अपि भूरिशालैः गृहैः रेजे।

बालबोधिनी—या=द्वारकापुरी। बृहत्तुलैः=महदाधाराधारभूतस्तम्भाग्रपीठैरपि। अतुलैः=तुलारहितैरिति विरोधः। यत्र हि बृहत्यस्तुला विद्यन्ते तत्र कथं ता एव न स्युः? अतुलैरित्यस्यानुपमैरित्यर्थकरणेन तत्समाधानम्। च=तथा। वितानमालापिनद्धैरपि=उल्लोचपङ्क्त्याच्छादितैरपि। अवितानैः=उल्लोचरहितैरितिविरोधः। अवितानैः=अशून्यैरिति विरोधपरिहारः। समस्तवस्तुसमृद्धैरित्यर्थः। विचित्रैरपि=चित्ररहितैरपि। चित्रसहितैरति विरोधः। विचित्रैः=अद्भुतैरिति तत्परिहारः। विशालैरपि=शालारहितैरपि। भूरिशालैः=

प्रचुरगृहैकदेशविशिष्टैरिति विरोधः। विशालैः पृथुलैरित्यविरोधः। गृहैः=वेश्मभिः। रेजे=शुशुभे। अपीदं सर्वत्र विरोधेऽव्ययम्। सर्वत्र विरुद्धवदाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। 'विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ' इति साहित्यदर्पणलक्षणात्।

कोशः—'तुला माने पलशते सादृश्ये राशिभाण्डयोः। गृहाणां दारुबन्धाय पीठ्याम्' इति हैमः। 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः। आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। 'शाला गृहे तरुस्कन्धे शाखागारैकदेशयोः' इति विश्वः। 'विशालं पृथुलं महत्' इत्यमरः।

समासः—बृहत्यश्च तास्तुलाश्च बृहत्तुलाः (क० धा०) ताः सन्ति येषु तैः बृहत्तुलैः (ब० व्री०)। नास्ति तुला येषां तैः अतुलैः। वितानानां मालाः वितानमालाः (ष० त०) ताभिः पिनद्धाः तैः वितानमालापिनद्धैः (तृ० त०) न सन्ति वितानानि येषु तैः अवितानैः (ब० व्री०)। पक्षे०—न वितानैः अवितानैः (नञ् त० पु०)। विगताः चित्राः येभ्यस्तैः विचित्रैः (ब० व्री०)। चित्रैः सह वर्तमानाः सचित्राः (ब० व्री०) तैः सचित्रैः। विगताः शालाः येभ्यस्तैः विशालैः (ब व्री०)। भूरयः शाला येषु तैः भूरिशालैः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विशालैः—विशब्दात् 'वेः शालच्छङ्कटचौ' (५।१।२८) इति शालच् प्रत्ययः। रेजे—राजृ दीप्तौ+लिट्—त—एश् 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ।

हिन्दी—जो द्वारकापुरी बृहत्तुला (खम्भों के ऊपर रखे जाने वाले काष्ठों (मथला या सरदल) वाले होने पर भी अतुल (तुलाओं=मथलो या सरदलों, पक्षा०—अनुपम) वितानों (तम्बुओं, शामियानों) के समूहों से युक्त होते हुए भी, अवितान (वितानों से रहित, पक्षा०—अशून्य अर्थात् समस्त पदार्थों से परिपूर्ण) विचित्र (चित्रों से रहित, पक्षा०—अद्भुत) होते हुए भी सचित्र (चित्रों से युक्त) और विशाल (शालाओं से रहित, पक्षा०—बड़े-बड़े) होते हुए भी बहुत शालाओं (कमरों) वाले घरों से शोभित होती थी।

टिप्पणी—तुला—खम्भों के ऊपर लगी हुई और चारों ओर कुछ-कुछ निकली हुई उस लकड़ी को कहते हैं जिसपर सँतीर या सरदलादि रखा जाता है। यहाँ प्रथम अर्थ करने पर परस्पर विरुद्ध अर्थ होने से विरोध-सा प्रतीत होता है, जिसका दूसरा अर्थ करने पर समाधान हो जाता है। अतः यहाँ विरोधाभास या विरोध अलङ्कार है॥ ५०॥

अपरं कीदृशीत्याह—

> चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम् ।
> मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यस्यां निकेतनानां कपोतपालीषु कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः चिक्रंसया आयतनिश्चलाङ्गं मार्जारम् अपि जनः कृत्रिमम् एव मेने ।

बालबोधिनी—यस्याम्=यत्र द्वारकापुर्याम् । निकेतनानाम्=वेश्मनाम् । कपोतपालीषु=विटङ्केषु । कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः=दारुमयपक्षिमालायाः । अत्र कर्मणि षष्ठी । चिक्रंसया = क्रमितुमिच्छया, जिघृक्षयेत्यर्थः । आयतनिश्चलाङ्गं=दीर्घनिश्चलशरीरम् । क्वचिद् 'आनतनिश्चलाङ्गम्' इति पाठस्तत्र—आनतम्=नम्रीभूतमित्यर्थः । मार्जारम्=विडालम् । अपीत्याश्चर्ये । जनः= तत्रत्यो लोकः, प्रेक्षक लोक इति भावः । कृत्रिमं=क्रियया निर्वृतम् । एवेति निश्चये । मेने=अज्ञासीत् । न तु वास्तवमित्यर्थः । अनेन कृत्रिमाकृत्रिमभेदो दुर्ग्रह इति शिल्पविज्ञानातिशयोक्तिः । अत्र कविकल्पितसादृश्यातिशयान्मार्जारजनयोः कृत्रिमाकृत्रिमेषु विपरीतमतिवर्णनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः । छादनस्याधः तद्धारणार्थं कुटिलानि काष्ठानि क्रियन्ते, येषु तक्ष्णा सिंहादयः पक्षिणश्च निर्मीयन्ते । सा कपोतपालीति भण्यते । लोके 'सिंहवाटिका' इति प्रसिद्धिः ।

कोशः—'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । 'ओतुर्बिडालो मार्जारः' इत्यमरः । 'दीर्घमायतम्' इत्यमरः ।

समासः—कपोतान् = पक्षिणः, पालयन्तीति—कपोतपाल्यः (उपपद समासः) । कृत्रिमाश्च ते पत्रिणश्च कृत्रिमपत्रिणः (क० धा०), तेषां पङ्क्तिः (ष० त०) तस्याः कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः । क्रमितुमिच्छा चिक्रंसा तया—चिक्रंसया । आयतं च निश्चलं चाङ्गं यस्य स तम्—आयातनिश्चलाङ्गम् । (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—कृत्रिमम्—डुकृञ् + क्त्रिः + मप् 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।८८) 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' (वा०) इति मप् प्रत्ययः । मेने—मन ज्ञाने + लिट्—त—एश् 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६ । ४ । १२०) इत्येत्वाभ्यासलोपौ ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में घरों की कपोतपालिकाओं (कबूतर पालने के दराजों) पर बने हुए (चित्रित) पक्षिसमूह पर आक्रमण करने (अर्थात् पक्षिसमूह को पकड़ने) की इच्छा से झुके हुए तथा निश्चल शरीर वाले बिलाव (बिल्ली) को भी लोगों ने कृत्रिम (चित्रित) ही समझा ।

टिप्पणी—यहाँ दो भ्रान्तियाँ हैं (१) काठ के बने हुए या पत्थरों से खोदकर बनाये हुए पक्षियों को बिलाव ने वास्तविक समझा। जब बिलाव उनको वास्तविक समझकर उन्हें पकड़ने की इच्छा से अपने अङ्गों को झुकाकर तथा स्थिर करके बैठा तो दर्शक लोगों ने उसे पक्षियों के समान चित्रित ही समझा। कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ पर शिल्पियों की शिल्पकला इतनी उत्कृष्ट थी कि कृत्रिम तथा वास्तविक में भेद की प्रतीति कठिन थी ॥५१॥

पुनः कीदृशीत्याह—

> क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार।
> अतीतनक्षत्रपथानि यत्र प्रासादशृङ्गाणि वृथाध्यरुक्षत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यत्र वधूजनः क्षितिप्रतिष्ठः अपि चन्द्रं मुखारविन्दैः अधश्चकार, अतीतनक्षत्रपथानि प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षत।

बालक्रीडिनी—यत्र=यस्यां पुरि। वधूजनः=कामिनीलोकः। क्षितिप्रतिष्ठोऽपि= भूमिस्थितोऽपि। चन्द्रं=शशिनम्। दिवि स्थितमिति भावः (तत्रापि—) मुखारविन्दैः=वदनकमलैः। अधश्चकार=अधःकृतवानिति विरोधः। यो हि भूमिस्थः स कथं खस्थमिन्दुमधः कुर्यात्। स्वलावण्यमहिम्ना अधरीचकार, तिरश्चकारेति भावः, इति विरोधसमाधानम्। अतीतनक्षत्रपथानि= उल्लङ्घिततारकमार्गाणि। प्रासादशृङ्गाणि= हर्म्यशिखराणि। वृथा= निरर्थकमेव। अध्यरुक्षत्=अध्यरोहत्। 'वृथाध्यरुक्षत्' इत्यस्य स्थाने 'मुधाध्यरोहत्' इति पाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः। द्वारकापुर्यां कामिनीजनमुखानि चन्द्रादपि सुंदरतराणि प्रासादाश्च नक्षत्रेभ्योऽपि समधिकोन्नता आसन्निति भावः। अत्राधःकरणवाक्यार्थस्य श्लेषविरोधवैयर्थ्ये हेतुत्वात्सङ्कीर्णः काव्यलिङ्गालङ्कारः।

कोशः—'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्' इत्यमरः। 'व्यर्थके तु वृथा मुधा' इत्यमरः।

समासः—वधूरेव जनः वधूजनः (रूपकसमासः)। क्षितौ प्रतिष्ठा यस्य सः (ब० व्री०) क्षितिप्रतिष्ठः। मुखानि एव अरविन्दानि मुखारविन्दानि तैः मुखारविन्दैः (रूपकसमासः)। अतीतानि नक्षत्रपथम् – अतीतनक्षत्रपथानि (द्वि० त०)। प्रासादानां शृङ्गाणि प्रासादशृङ्गाणि (ष० त०)।

व्याकरणम्—अध्यरुक्षत्—अधि+रुह+लुङ्—तिप् अडागमः, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशः।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में स्त्रियों ने भूमि पर स्थित रहते हुए भी (अपने) मुखकमलों से (आकाशस्थ) चन्द्रमा को नीचा कर दिया (अपने मुख की सुन्दरता से चन्द्रमा को भी तिरस्कृत कर दिया, अत एव वे) नक्षत्रों के मार्ग को अतिक्रान्त करने वाले अर्थात् नक्षत्रों से भी ऊँचे महलों के शिखरों (ऊपरी छतों) पर व्यर्थ चढ़ीं ॥ ५२ ॥

अन्यच्च-कीदृशीत्याह—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—यस्यां युवानः रम्याः इति पताकाः प्राप्तवतीः, विविक्ताः इति रागं वर्धयन्तीः, नमद्वलीकाः वलभीः वधूभिः समम् असेवन्त ।

बालबोधिनी—यस्यां=यत्र द्वारकापुर्याम् । युवानः=तरुणाः । रम्याः= रमणीयाः । इति=अस्मात् कारणात् । पताकाः=वैजयन्तीः । प्राप्तवतीः= प्राप्ताः । तथा-विविक्ताः=विजनाः । इति=अस्माद्धेतोः । रागं=कामम् । वर्धयन्तीः=वृद्धिं नयन्तीः । (तथा—) नमद्वलीकाः=नम्रनीध्राः, कुटिलछाद-नान्ताः । वलभीः=चन्द्रशालाः, कूटागाराणि । वधूभिः=कामिनीभिः । समं= सह । वधूसहाया इत्यर्थः । असेवन्त=भेजिरे । अथ च वधूभिः समं वलभीः सिषेविरे वधूरपि भेजिरे इत्यर्थान्तरप्रतीतिः । कीदृशीः वधूः-रम्याः=सुन्दरीः मनोहराः । इति=अस्मात् । पताकां=प्रसिद्धिम्, कीर्तिम् । प्राप्तवतीः=प्राप्ताः विविक्ताः=विमलाः, रूपवेषान्विता वा । इति=अस्मात् । रागम्=अनुरागम्, उत्कण्ठाम् । वर्धयन्तीः=वृद्धिं नयन्तीः । (तथा—) नमद्वलीकाः=नमत्त्रिवल्याख्य-मध्यरेखाः । अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः । अत्र वधूनां वलभीनां च प्रकृतानां केवलं धर्मसाधर्म्येणौपम्यावगमात् तुल्ययोगितालङ्कारः । 'पदार्थानां प्रस्तुतानाम-न्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता' इति साहित्य-दर्पणकारकृतलक्षणात् ।

कोशः—'पताका वैजयन्त्यां च सौभाग्येऽङ्कध्वजेऽपि च' इति विश्वः । 'इति हेतौ प्रकरणे प्रकारादिसमाप्तिषु' इति विश्वः । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । 'वली मध्यमरेखोर्मिजीर्णत्वग्गृहदारुषु' इति वैजयन्ती 'कूटागारं तु वलभी' इत्यमरः ।

समासः—नमन्त्यः वलीकाः यासां ताः नमद्वलीकाः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—नमद्वलीका:—नमद्वली + कप् 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् प्रत्ययः। असेवन्त—सेवृ + लङ्-झ + अडागमः।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में युवक लोग रमणीय होने से पताकाओं से युक्त (पक्षा० सुन्दरी होने से प्रसिद्धि को प्राप्त) एकान्त होने से राग को बढ़ाती हुई (पक्षा० शुद्ध होने से स्नेह को बढ़ाती हुई) झुकी हुई वलियों (छज्जों के घोड़मुहों) वाली (पक्षा० लटकती हुई त्रिवलियों वाली) स्त्रियों के साथ वलभियों (महलों की छतों पर बने हुए हवादार छोटे कमरों, बँगलों या अट्टालिकाओं) का सेवन (स्त्रियों के साथ विहार) करते थे ॥ ५३ ॥

पुनः कथंभूतेत्याह—

सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्वां बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय पुंसाम्।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामामोदकर्मव्यतिहारमीयुः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—यत्र अप्रतियत्नपूर्वां सुगन्धितां बिभ्रन्ति मधूनि कामिनीनां वक्त्राणि च यूनां प्रमदाय आमोदकर्मव्यतिहारम् ईयुः।

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां द्वारकायाम्। अप्रतियत्नपूर्वाम्=असंस्कारपूर्वाम्, अकृत्रिमाम्। स्वाभाविकीमित्यर्थः। सुगन्धिताम्=सौरभ्यम्। बिभ्रन्ति=वहमानानि। मधूनि=मद्यमैरेयादीनि। कामिनीनां = युवतीनाम्। वक्त्राणि=मुखानि। चेति समुच्चयेऽव्ययम्। यूनां=तरुणानाम्। प्रमदाय=प्रीत्यै। आमोदकर्मव्यतिहारम्=विभावनक्रियाविनिमयम्, वासनाधानपरस्परकरणम्। ईयुः=जग्मुः प्रापुरित्यर्थः। अत्रापि मधूनां वक्त्राणां च धर्मसाधर्म्यात्तुल्ययोगितालङ्कारः तेन यूनां मधुवासितवधूवदनपानं वदनवासितमधुगण्डूषपानं च वस्तु व्यज्यते तेन च निरातङ्कभोगाः पौरा इति गम्यते।

कोशः—'प्रतियत्नस्तु संस्कारः' इति वैजयन्ती। 'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः। 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। 'इष्टगन्धः सुगन्धिः स्यात्' इत्यमरः।

समासः—न विद्यते प्रतियत्नः=संस्कारः, पूर्वः = कारणं यस्याः सा ताम् अप्रतियत्नपूर्वाम् (ब० व्री०)। शोभनश्चाऽसौ गन्धः सुगन्धिः, अथवा—शोभनो गन्धः सुगन्धिः (प्रादिसमासः), सुगन्धेः भावस्तत्ता ताम्—सुगन्धिताम्। आमोदस्य कर्म आमोदकर्म (ष० त०) तस्य व्यतिहारः (ष० त०) तम्—आमोदकर्मव्यतिहारम्।

व्याकरणम्—सुगन्धिताम्—सु + गन्ध 'गन्धस्येदुत्पूतिसु सुरभिभ्यः' (

४।१३५) इतीकारान्तादेशः, ततो भावे तल्। ईयुः = इण्+लिट्+झि-उस्।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में स्वाभाविक सुगन्ध को धारण करते हुए मद्य तथा कामिनियों के मुखों ने पुरुषों के हर्ष के लिए परस्पर में सुवासित करने के कार्य का आदान-प्रदान किया ॥ ५४ ॥

अपरं च कीदृशीत्याह—

रतान्तरे यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः ।
रुतानि शृण्वन् वयसां गणोऽन्तेवासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः वयसां गणः अङ्गनानां रतान्तरे रुतानि शृण्वन् स्फुटम् अन्तेवासित्वम् आप।

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां पुरि। गृहान्तरेषु=गृहमध्येषु। वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः=वेदिकामत्तवारणकपोतपालिकाकुलायः, वेदिकानिर्गतदारुविशेषोन्नतभागालयः। वयसां=पक्षिणाम्। गणः=समूहः। अङ्गनानां=सुन्दरीणाम्। रतान्तरे=निधुवनावसरे। रुतानि=रतिकूजितानि सीत्कारादीनि। शृण्वन्=आकर्णयन्। स्फुटं=स्पष्टम्, अखण्डं वा। अन्तेवासित्वं=शिष्यत्वम्। आप=लेभे। समीपे प्रतिशब्दं यथाश्रुतमुच्चारणाद् गृहे निवासाच्चैवमुत्प्रेक्ष्यते। यो हि शिष्यः स उपाध्यायाच्छृणोति तद्गृहे वसति च।

कोशः—'स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका' इत्यमरः। 'निर्यूहो मत्तवारणः' इति वैजयन्ती। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासः—गृहाणाम् अन्तराः गृहान्तराः, तेषु गृहान्तरेषु (ष० त०)। वितर्दीनां (वेदिकानां) निर्यूहाः (निर्गता दारुविशेषाः) वितर्दिनिर्यूहाः (ष० त०) तेषां ये विटङ्काः (उन्नतभागाः, अग्रभागाः वा, कपोतपालिका इति भावः) वितर्दिनिर्यूहविटङ्काः (ष० त०) ते एव तेषु वा नीडाः (कुलायाः) यस्य सः वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः (ब० व्री०)। रतानामन्तरः, रतान्तरः, तस्मिन्—रतान्तरे (ष० त०)। अन्ते समीपे वसतीति अन्तेवासी तस्य भावस्तत्वम्—अन्तेवासित्वम् (उपपदसमासः)।

व्याकरणम्—अन्तेवासित्वम्—अन्ते+वस+णिनिः—भावे त्वः, 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (३।३।१७०) इति णिनिः, 'शयवासवासिष्वकालात्' (६।३।१८) इति ङेरलुक्। आप—आप्लृ+लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में भवनों के भीतर विहारवेदियों के घोड़मुहों (कङ्गूरों या गुम्बजों) पर बनी हुई कपोतपालिकाओं में घोंसला (बनाकर रहने) वाले पक्षियों का समूह, रतिकाल में अङ्गनाओं की (सीत्कारादि) ध्वनियों को सुनता हुआ स्पष्टतया (उन स्त्रियों के) शिष्यत्व को प्राप्त हुआ अर्थात् उनका शिष्य बन गया।

टिप्पणी—जैसे शिष्य गुरु के घर पर रहता हुआ, गुरु से सुने हुए शब्दों को पुनः स्वयं उच्चारण करके दोहराता है, इसी प्रकार पक्षीगण घरों में रहते थे, तथा रतिकाल में स्त्रियाँ जो शब्द करती थीं, उन्हीं का अनुकरण करते थे। यह भाव है ॥ ५५ ॥

अन्यच्च कथंभूतेत्याह—

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥ ५६ ॥

अन्वयः—यत्र छन्नेषु अपि स्पष्टतरेषु नारीकुचमण्डलेषु स्वच्छानि अम्बराणि केवलं नामतः न, अर्थतः अपि आकाशसाम्यं दधुः।

बालबोधिनी—यत्र = यस्यां पुरि। छन्नेष्वपि = आच्छादितेष्वपि। स्पष्टतरेषु = स्फुटतरं लक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः। नारीकुचमण्डलेषु = अङ्गनास्तनभारेषु। स्वच्छानि = सूक्ष्माणि; निर्मलानि च; अतिरोधायकानीति भावः। अम्बराणि = वस्त्राणि। केवलं नामतः। अम्बरमिति नाम्नैव। न = आकाशसाम्यं न दधुः। (किन्तु—) अर्थतोऽपि = क्रिययाऽपि; कार्यतोऽपि। अपत्र समुच्चये। आकाशसाम्यं = गगनसादृश्यम्। दधुः = दधिरे। स्वयमतिसूक्ष्मत्वादव्यवधायकत्वं दृष्ट्यादेर्मूर्तान्तरगत्यविघातित्वं चेत्यादिनाऽपि साम्यं दधुरित्यर्थः। उपमालङ्कारः।

कोशः—'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः। 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये। तथा युक्तपदार्थेऽपि कामकारक्रियासु च' इति मेदिनी।

समासः—नारीणां कुचमण्डलानि नारीकुचमण्डलानि (ष० त०) तेषु नारीकुचमण्डलेषु। आकाशस्य साम्यम्—आकाशसाम्यम् (ष० त०)।

व्याकरणम्—दधुः—डुधाञ् धारणपोषणयोः + लिट्—झि—उस्।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में आच्छादित होने पर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले स्त्रियों के स्तनमण्डलों पर सूक्ष्म एवं स्वच्छ वस्त्रों ने केवल नाम ('अम्बर' शब्द) से ही नहीं, किन्तु (स्त्रियों के स्तनों को आच्छादित करने पर भी उनके

स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होने के कारण) अर्थ से भी आकाश की समानता को धारण किया।

टिप्पणी—'अम्बर' शब्द के आकाश तथा वस्त्र दोनों अर्थ होते हैं। वस्त्रों तथा आकाश में—नाम अर्थात् 'अम्बर' शब्द का सादृश्य तो है ही। सूक्ष्म—निर्मल होने से तथा निरोधायक न होने से क्रिया की भी दोनों में समानता है ॥ ५६ ॥

अपरं कथंभूतेत्याह—

यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यस्याम् अजिह्माः अपङ्काः महतीं सीमानम् अत्यजन्तः अत्यायतयः द्वये अपि विनीतमार्गाः, अजातस्खलनैः जनैः जातु न अमुच्यन्त।

बालबोधिनी—यस्याम्=यस्यां द्वारकापुर्याम्। अजिह्माः=अवक्राः, सरलाः, अन्यत्र—अकपटाः, दम्भरहिता इत्यर्थः। अपङ्काः=कर्दमरहिताः, पक्षान्तरे—निष्पापाश्च। महतीं=बृहतीम्। सीमानं=विस्तारमन्यत्र—कुलागताचारपद्धतिम्। अत्यजन्तः=अमुञ्चन्तः। अत्यक्तमर्यादा इत्यर्थः। अत्यायतयः=दीर्घदीर्घाः, अन्यत्र—दीर्घोत्तरकालाश्च। द्वयेऽपि=द्विरूपा अपि। विनीतमार्गाः=सुरचितपुरवीथयः, अन्यत्र—सदाचारमार्गाः, सुशिक्षिताचारपद्धतयः। अजातस्खलनैः=अजातपाषाणादिप्रतिघातैः, अन्यत्र—अजातविरुद्धाचरणैः। जनैः=लोकैः। जातु=कदाचिदपि। नामुच्यन्त=न त्यक्ताः। 'आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा' इति स्मरणादिति भावः। अत्र मार्गशब्दस्य साधर्म्यादिवृन्तावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वयप्रतीतेः द्वयानामर्थ। मार्गाणां प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतविषयोऽयं श्लेषः, विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वात्।

कोशः—'जिह्मः कपटवक्रयोः' इति विश्वः। 'पङ्कोऽघे कर्दमे' इति हैमः। 'आयतिरन्तुत्तरे काले संयमायामयोरपि' इति विश्वः।

समासः—द्वौ अवयवौ येषां ते द्वये। न जिह्माः अजिह्माः (नञ् त० पु०)। अन्यत्र न विद्यते जिह्मः=कपटम्, यत्र ते—अजिह्म : (ब० व्री०)। न विद्यते पङ्कं येषु ते—अपङ्काः (ब० व्री०)। न त्यजन्तः अत्यजन्तः (नञ् त० पु०)। अतिमात्रा आयतिः येषां ते—अत्यायतयः (ब० व्री०) विनीताश्च ते मार्गाश्च विनीतमार्गाः (क० धा०)। अन्यत्र—विनीतानां मार्गाः विनीतमार्गाः (ष० त०)। न जातं स्खलनं येषां तैः—अजातस्खलनैः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—द्वौ अवयवौ येषां ते द्वये–'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (५।२।४३) इति तयस्य स्थानेऽयजादेशः, 'प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च' (१।१।३३) इति जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा। अमुच्यन्त–मुच्लृ + कर्मणि लङ्-झ-यक्।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में सीधे (पक्षा०–निष्कपट), कीचड़ से रहित (पक्षा०—दोषरहित), बड़ी सीमाओं (सरहदों, पक्षा०—मर्यादाओं अर्थात् कुलाचारों) को नहीं छोड़ते हुए, अत्यन्त लम्बे (पक्षा०—अत्यधिकोत्तर कालवाले) दोनों प्रकार के सुपरिचित मार्गों (पक्षा०—सम्यक् प्रकार से शिक्षितों के सदाचारों) को, प्रस्तरादि से ठोकर नहीं खाने वाले (विरुद्धाचरण नहीं करने वाले) लोगों ने कभी नहीं छोड़ा ॥ ५७ ॥

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधाः।
श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यत्र परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः पौरस्त्रियः विधाय, वेधाः श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् अलं ममार्ज।

बालबोधिनी—यत्र=यस्यां पुरि। परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः=अन्योन्यस्पर्धाशीलोत्कृष्टसौन्दर्याः, अन्योऽन्यसङ्घर्षशीलश्रेष्ठसौन्दर्याः। पौरस्त्रियः=नागरिकनायिकाः, पौराङ्गनाः। विधाय=निर्माय, निष्पाद्य। वेधाः=ब्रह्मा। श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् = लक्ष्मीनिर्माणलब्धवज्रकीटोत्कीर्णकाक्षरसाम्यापवादम्। अलम्=अत्यन्तम्। वाच्यमेव मलमिति केचित्। ममार्ज=अक्षालयत्, अनीनशत्। वेधसो हि लोकेऽयं नित्यमेवापवादः—यच्छोभनं वस्तु निर्मातुमसौ न शक्तः, या तु श्रीं सा घुणाक्षरन्यायेन। घुणोऽपि काष्ठमुल्लिखन् कदाचिदेकं वर्णं निष्पादयति। श्रीनिर्माणेन प्राप्तं घुणाक्षरोपमापवादं सकलनगरवनितासौन्दर्यविधानादनीनशदित्यर्थः। अनया चाऽतिशयोक्त्या पौरस्त्रीणां लक्ष्मीसमानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते।

कोशः—'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये' इति विश्वः। 'निर्माणं निर्मितौ' इति मेदिनी। 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः।

समासः—परस्परस्पर्धीनि परार्ध्यानि रूपाणि यासां ताः–परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः (ब० व्री०)। पुरे भवाः पौराः, तेषां स्त्रियः ताः पौरस्त्रियः (ष० त०)। एकश्चाऽसौ वर्णश्च एकवर्णः (क० धा०). घुणेन क्षत

घुणक्षतः (तृ० त०), घुणक्षतश्चाऽसौ एववर्णश्च घुणक्षतैकवर्णः (क० धा०), तस्य उपमा तया वाच्यम्—घुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् (तृ० त०); श्रियो निर्मितिः श्रीनिर्मितिः (ष० त०) तया प्राप्तम्—श्रीनिर्मितिप्राप्तम्, श्रीनिर्मिति-प्राप्तं च तद् घुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् (क० धा०) श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैक-वर्णोपमावाच्यम् ।

व्याकरणम्—ममार्ज—मृजूष् शुद्धौ+लिट्-तिप्-णल् ।

हिन्दी—जिस द्वारकापुरी में आपस में स्पर्धा करनेवाले रूपोंवाली नगर की स्त्रियों को बनाकर ब्रह्मा ने घुणाक्षर न्याय के सादृश्य से उत्पन्न लक्ष्मी की रचना से प्राप्त (अर्थात् घुणाक्षर के समान लक्ष्मी की रचना से प्राप्त) निन्दा को सम्यक् प्रकार से दूर कर दिया ।

टिप्पणी—जब ब्रह्मा ने परम सुन्दरी लक्ष्मी का निर्माण किया, तो लोग उनकी यह निन्दा करने लगे कि ब्रह्मा इस प्रकार की परम सुन्दरी की रचना नहीं कर सकते हैं । यह जो लक्ष्मी की रचना है वह तो घुणाक्षर न्याय से अनायास हो गयी है । परन्तु द्वारकापुरी में एक से एक बढ़कर सुन्दर स्त्रियों को बनाकर ब्रह्मा ने अपनी इस निन्दा का सम्यक्तया परिमार्जन कर दिया ॥५८॥

तत्रापूर्वधनसम्पत्तिमाह—

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव ।
अध्यूषुषो यामभवञ्जनस्य याः सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्याः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यत् अन्तःकरणेन क्षुण्णम्, कल्पोपपदा वृक्षाः तदेव फलन्ति, याम् अध्यूषुषः जनस्य याः सम्पदः अभवन् ताः मनसः अपि अगम्याः ।

बालबोधिनी—यत्=यद् वस्तु । अन्तःकरणेन=हृदयेन, मनसा । क्षुण्णम्=अभ्यस्तम् । ममेदं भूयादिति भूयोभूयः सङ्कल्पितमित्यर्थः । कल्पोपपदाः=कल्पव्यावर्तकाः । वृक्षाः=तरवः । कल्पवृक्षा इत्यर्थः । तदेव=मनसा सङ्कल्पितमेवार्थम् । फलन्ति=निष्पादयन्ति । मनसा पर्यालोचितमेवार्थं दिशन्ति न त्वधिकम् । (परन्तु-) यां=द्वारकानगरीम् । अध्यूषुषः=अधिव-सतः । जनस्य=लोकस्य । याः सम्पदः=याः लक्ष्म्यः । अभवन्=आसन्, अभूवन् । ताः=पूर्वोक्ताः सम्पदः । मनसोऽपि=चित्तस्यापि । अगम्याः=अविषयाः, अगोचराः । वाचामभूमय इति तु किमु वक्तव्यमिति भाव; । प्रार्थिता-दधिकं यत्र घटते मनसाऽप्यभिलषितुं न शक्यते इति तात्पर्यम् । 'अभूमिः' इति पाठान्तरे समान एवार्थः । अत्र गृहे गृहे कल्पवृक्षसम्बन्धातिशयोक्त्या पौराणां

देवेन्द्रभोगो व्यज्यते। इह कल्प इत्युपपदं स्त्रसंज्ञैकदेशो येषामिति व्याख्याने हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्यादिवदवाच्यवचनदोषावकाशः।

कोशः—'अथ संपदि। सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः।

समासः—अन्तश्चाऽसौ करणम् (इन्द्रियम्) च—अन्तःकरणम्, तेन-अन्तःकरणेन (क० धा०)। कल्पयन्ति (निष्पादयन्ति) सङ्कल्पितार्थान् ये ते—कल्पाः, कल्पा इत्युपपदं (व्यावर्तकम्) येषां ते कल्पोपपदाः (ब० व्री०)। केचित्तु—'कल्पशब्दः' उपपदे पूर्वं येषां ते—कल्पोपपदा इति विग्रहं कुर्वन्ति।

व्याकरणम्—फलन्ति—'फलनिष्पत्तौ' इति धातोर्लट्—झि। याम्—'उपान्वध्याङ्वसः' (१।४।४८) इति कर्मत्वम्। अध्यूषुषः—'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुप्रत्ययः। अभवन्—भू + लट्—झि।

हिन्दी—जो वस्तु मनसे सङ्कल्पित (वाञ्छित) होती है, कल्पवृक्ष उसी वस्तु को देते हैं परन्तु द्वारकापुरी में रहने वाले मनुष्यों की जो सम्पत्तियाँ थीं, वे मन की कल्पना से भी परे थीं॥ ५९॥

पुनः कीदृशीत्याह—

कला दधानः सकलाः स्वभाभिरुद्भासयन् सौधसिताभिराशाः।
यां रेवतीजानिरियेष हातुं न रौहिणेयो न च रोहिणीशः॥ ६०॥

अन्वयः—सकलाः कलाः दधानः सौधसिताभिः स्वभाभिः आशाः उद्भासयन्, रेवतीजानिः रौहिणेयः यां हातुं न इयेष; रोहिणीशः च (यां हातुम्) न (इयेष)।

बालबोधिनी—सकलाः=समग्राः। कलाः= गीतवाद्यादिचतुःषष्टिकलाः अन्यत्र-कलाः=लेखाः, षोडशभागांशश्च। दधानः=बिभ्राणः। सौधसिताभिः= धवलगृहधवलाभिः। उभयत्र विशेषणमिदं समानम्। स्वभाभिः=आत्मीयरुचिभिः। आशाः=दिशः। उद्भासयन्=दीपयन्। रेवतीजानिः=रेवतीभार्यः। (रेवती=ककुद्मिकन्या तन्नाम तारा च जाया यस्य सः)। रौहिणेयः=रोहिणीपुत्रः, बलभद्रः। याम्=द्वारकापुरीम्। हातुं=त्यक्तुम्। न इयेष=न चकमे, नेच्छति स्म रोहिणीशः=चन्द्रः। चेति समुच्चये। (यां हातुं) न (इयेष=वाञ्छति स्म)। बलरामचन्द्रौ यत्र नित्यमूषतुरित्यर्थः। अत्र रौहिणेयरोहिणीशयोः परोत्कर्षावहत्वेन द्वयोः प्रकृतत्वाद्विशेष्यस्याश्लिष्टत्वाच्च केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता।

कोशः—'कला शिल्पे कालभेदे', 'कला तु षोडशो भागः' इति चामरः।

समासः—सुधया अवलिप्तम्=सौधम्, सौधमिव सिताः सौधसिताः ताभिः सौधसिताभिः (उपमितसमासः)। रेवती जाया यस्य सः=रेवतीजानिः (ब० व्री०)। रोहिण्याः अपत्यं पुमान् रौहिणेयः। रोहिण्याः ईशः रोहिणीशः (ष० त०)।

व्याकरणम्—रेवतीजानिः–रेवती+जाया 'जायाया निङ्' (५।४।१३४) इति समासान्तो निङादेशः, 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) इति यलोपः। रौहिणेयः—रोहिणी+ढक् 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) इति। हातुम्–ओहाक् त्यागे + तुमुन्। इयेष–इषु इच्छायाम् + लिट्–तिप्–णल्।

हिन्दी—सम्पूर्ण (चौंसठ, पक्षा०–सोलह) कलाओं को धारण करते हुए तथा चूने से लीपे गये भवन के समान शुभ्रवर्ण अपनी कान्ति (गौरवर्ण शरीर की शोभा, पक्षा०–चाँदनी) से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए रेवती (बलराम की स्त्री, पक्षा०–रेवती नामकी तारा) के पति, रोहिणीपुत्र बलरामजी तथा रोहिणी तारा के पति चन्द्रमा जिस द्वारकापुरी को छोड़ना नहीं चाहते थे, अर्थात्—उस द्वारकापुरी में सदा निवास करते थे।

टिप्पणी—यहाँ केवल विशेषणों के श्लिष्ट होने से एवं बलराम तथा चन्द्रमा दोनों के वस्तुतः होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है॥ ६०॥

वाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेरासत्तिमासाद्य जनार्दनस्य।
शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र निःशङ्कमूषे मकरध्वजेन॥ ६१॥

अन्वयः—यत्र वाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः जनार्दनस्य आसत्तिम् आसाद्य शरीरिणा जैत्रशरेण मकरध्वजेन निःशङ्कम् ऊपे।

बालबोधिनी—यत्र = यस्यां नगर्याम्। बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः = बाणासुरयुद्धनिवर्तितशिवसामर्थ्यस्य; हरविजयिन इत्यर्थः। जनार्दनस्य = श्रीकृष्णस्य। आसत्तिं=प्रत्यासत्तिम्; सामीप्यमिति भावः। आसाद्य=प्राप्य। शरीरिणा=विग्रहवता; न त्वनङ्गेनेति भावः। जैत्रशरेण=अमोघबाणप्रसरेण। मकरध्वजेन=कामेन; मनसिजेन, प्रद्युम्नरूपेणेति भावः। निशङ्कं=निर्भयम्। ऊपे=उषितम्। अत्र शम्भुसामर्थ्यव्याघातपदार्थस्य विशेषणगत्या निःशङ्कनिवासहेतुत्वेनोक्तेः काव्यलिङ्गमलङ्कारः। पुरा किल भक्तवत्सलो भगवान् हरो

बाणासुरप्रेम्णा बाणासुराभियोधिनं हरिमभियुज्य निर्जित इति पौराणिकी कथानुसन्धेया ।

कोशः—'शम्बरारिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः । पुष्पधन्वा रतिपतिर्मकरध्वज आत्मभूः' इत्यमरः । 'शङ्का वितर्कभययोः' इति विश्वः ।

समासः—शम्भोः शक्तिः शंभुशक्ति (ष० त०); बाणस्य आहवः बाणाहवः (ष० त०), बाणाहवे व्याहता शंभुशक्तिः येन सः तस्य–बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः (ब० व्री०) । मकरो ध्वजे यस्य सः तेन मकरध्वजेन (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—ऊषे–वस निवासे + भावे लिट्–त–एश्, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६ । १ । १५) इति संप्रसारणम् ।

हिन्दी—बाणासुर के साथ होने वाले युद्ध में शिवजी की शक्ति को नष्ट करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् के सामीप्य को पाकर विजयशील बाणों वाला, शरीरधारी कामदेव जिस द्वारकापुरी में निर्भयतापूर्वक रहता था ।

टिप्पणी—एक बार बाणासुर की कन्या ऊषा ने स्वप्न में श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को सबसे सुंदर देखकर उसे अपना पति बनाने के लिए अपहरण कर लिया । भगवान् श्रीकृष्ण को जब पता लगा तो वे अनिरुद्ध को लेने के लिए बाणासुर की नगरी शोणितपुर में पहुँचे । वहाँ बाणासुर के साथ युद्ध के समय भक्तवत्सल शिवजी महाराज भी बाणासुर की तरफ से लड़ने लगे, लेकिन उनकी एक न चली और वे श्रीकृष्ण से पराजित हो गये । तब श्रीकृष्ण बाणासुर की कन्या के साथ अनिरुद्ध को लेकर वापिस आये । कहते हैं कामदेव अपने शत्रु शिवजी से सदा भयभीत रहता था । परन्तु बाणासुर का पक्ष लेकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने वाले शिवजी को जब पराजित कर दिया, तब कामदेव इन श्रीकृष्ण का (पुत्र प्रद्युम्न रूप में) सामीप्य प्राप्त करके सदा इनके साथ रहने लगा। (कवि का अभिप्राय यह है कि उस द्वारकापुरी में कामिनियों का कामदेव सदा उद्दीप्त रहता था) ॥ ६१ ॥

अपरं कथंभूतेत्याह—

निषेव्यमाणेन शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय ।
उदग्रशिमरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धावाह्वास्त मेरावमरावतीं या ॥ ६२ ॥

अन्वयः—शिवैः मरुद्भिः (चिराय) निषेव्यमाणेन हरिणा चिराय अध्यास्यमाना उदग्ररश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धौ (स्थिता–) या मेरौ (स्थिताम्) अमरावतीम् आह्वास्त ।

बालबोधिनी—शिवैः=शीतलमन्दसुगन्धैः। मरुद्भिः=वायुभिः। अन्यत्र—शिवैः=एकादशरुद्रैः। मरुद्भिः=मरुद्गणैः देवैश्च। (चिराय=चिरकालम्—) निषेव्यमाणेन=सेव्यमानेन। हरिणा=श्रीकृष्णेन। अन्यत्र—हरिणा=इन्द्रेण। चिराय=चिरकालम्। अध्यास्यमाना=अधिष्ठीयमाना। उदग्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि=ऊर्ध्वकिरणमणिशलाकास्थाने। एकत्र रत्नाकरत्वादन्यत्र रत्नसानुत्वाच्चेति भावः। सिन्धौ=समुद्रे। स्थितेति शेषः। या=द्वारकापुरी। मेरौ=सुमेरौ। स्थितामिति शेषः। अमरावतीम्=इन्द्रनगरीम्। आह्वास्त=स्पर्धयाऽऽहूतवती, स्पर्धापूर्वमाकारयदित्यर्थः। अत्र पूर्वार्धे श्लेषेऽपि सिन्धौ मेरौ स्थितेति प्रतिबिम्बभावेन साधर्म्योक्तेः श्लेषानुप्राणितेयमुपमा। आह्वास्तेति सादृश्यप्रतिपादकः शब्दः। स्पर्द्धते ह्वयते द्वेष्टीत्यनुशासनात्।

कोशः—'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इति विश्वः। 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः 'नगरी त्वमरावती' इत्यमरः।

समासः—रत्नानाम् अङ्कुराः रत्नाङ्कुराः (ष० त०), उद्गताः रश्मयः येषान्ते—उदग्रश्मयः (ब० व्री०), उदग्रश्मयश्च ते रत्नाङ्कुराश्च उदग्रश्मिरत्नाङ्कुराः (क० धा०) तेषां धाम, तस्मिन्—उदग्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि (ष० त०)। अमराः सन्ति यस्यां सा अमरावती, ताम्—अमरावतीम्।

व्याकरणम्—आह्वास्त—ह्वयतेर्लुङ्—त 'स्पर्धायामाङः' (१।३।३१) इत्यात्मनेपदम्, 'लिपि सिचि ह्वश्च' (३।१।५३) इति, आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (३।१।५४) इति च्लेरङभावपक्षे सिजादेशः।

हिन्दी—शीतल–मन्द–सुगन्ध हवाओं (पक्षा०—रुद्रों तथा देवों) से चिरकाल तक सेवित, श्रीकृष्ण भगवान् (पक्षा०—इन्द्र) से अधिष्ठित, जिनकी किरणें ऊपर को निकल रही हैं, इस प्रकार के रत्नाङ्कुरों के स्थान समुद्र में स्थित जो द्वारकापुरी, ऊपर को उठने वाली किरणों वाले रत्नाङ्कुरों के स्थान सुमेरु पर स्थित इन्द्रपुरी को स्पर्धा से ललकार रही थी।

टिप्पणी—इन्द्रपुरी में रुद्र तथा देवगणों से सेवित इन्द्र निवास करते हैं और वह देदीप्यमान किरणों वाले रत्नाङ्कुरों से युक्त सुमेरु पर्वत पर स्थित है। इस द्वारकापुरी में शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुओं से सेवित श्रीकृष्ण निवास करते हैं तथा यह निकलती हुई किरणों वाले रत्नाङ्कुरों से युक्त समुद्र में स्थित है। अतः यह द्वारकापुरी इन्द्र की नगरी अमरावती को ललकारती थी कि मैं

तुमसे कम नहीं हूँ। यदि तुम्हें हमारी इस बात पर विश्वास नहीं हो और तब भी तुम्हें श्रेष्ठ होने का गर्व हो तो मेरे पास आकर श्रेष्ठता का मिलान कर लो। लोक में भी समान या अधिक सम्पत्ति वाला अपने प्रतिद्वन्द्वी को इसी प्रकार स्पर्धापूर्वक ललकारता है ॥ ६२ ॥

पुनः कथम्भूतेत्याह—

स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः।
विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव ॥ ६३ ॥

अन्वयः—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तः त्रिलोकीतिलकः स एव विशेषकः वा अध्वंसितवर्णकान्तेः वध्वा इव यस्याः श्रियं विशिशेष।

बालबोधिनी—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः = अरुक्षकज्जलवत्कृष्णशोभा। अन्यत्र—अरुक्षकज्जलेन कृष्णकान्तिः। सुवृत्तः = सद्वृत्तिः, सदाचारः। अन्यत्र-सुवृत्तः=वर्तुलः। त्रिलोकीतिलकः=लोकत्रयभूषणभूतः। स एव=श्रीकृष्ण एव। विशेषकः वा=तिलक इव। 'इववद् वा यथाशब्दाः' इत्यनुशासनात्। अध्वंसित-वर्णकान्तेः = असङ्कीर्णब्राह्मणादिवर्णशोभायाः' अविनष्टब्राह्मणक्षत्रियविट्शोभायाः, निजतेजोयुक्तचतुर्वर्णाया इति भावः (अयं नगरीपक्षेऽर्थः)। अन्यत्र—अनष्टगौरादिवर्णलावण्यायाः (इति नायिकापक्षेऽर्थः)। वध्वा इव=नायिकाया इव। यस्याः=द्वारकायाः। श्रियं=शोभाम्। विशिशेष=विशेषितवान्। अधिकं चकार। अनेकशब्देयमुपमेत्येके। शब्दमात्रसाम्याच्छ्लेष इत्यन्ये। श्लेषोपमेत्याचार्यदण्डी।

कोशः—'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णस्तु वाक्षरे' इत्यमरः। 'तमालपत्रतिलकचित्राणि विशेषकम्' इत्यमरः।

समासः—स्निग्धश्चासौ अञ्जनश्च स्निग्धाञ्जनः (क० धा०), स इव तेन वा श्यामा रुचिः यस्य सः—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः (ब० व्री०)। शोभनं वृत्तं यस्य स सुवृत्तः (ब० व्री०)। अन्यत्र—शोभनश्चासौ वृत्तश्च सुवृत्तः (प्रादि त० पु०)। त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी, तस्याः तिलकः—त्रिलोकीतिलकः (द्विगुगर्भषष्ठीतत्पुरुष)। न ध्वंसिता वर्णानां कान्तिः यस्याः तस्याः—अध्वंसितवर्णकान्तेः (ब० व्री०)। अन्यत्र—अध्वंसितो वर्णः (गौरादिवर्णः) कान्तिश्च यस्याः सा तस्याः—अध्वंसितवर्णकान्ते (ब० व्री०)। विशेषयतीति विशेषकः।

व्याकरणम्—'त्रिलोकी—' त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) इति समासः, संख्यापूर्वो द्विगुः' (२।१।५२) इति द्विगु-संज्ञा, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः–स्त्रियामिष्यते' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप् । विशिशेष—'विपूर्वात्–शिष्ऌविशेषणे' इति धातोः लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—चिकने काजल से श्याम वर्ण वाला सम्यक् प्रकार से गोलाकार (मस्तक का) तिलक जिस प्रकार; जिसके गौरादि वर्ण तथा शरीर लावण्य नष्ट नहीं हुए हैं, उस सुन्दरी की शोभा को बढ़ाता है, उसी प्रकार चिकने काजल के समान श्याम वर्ण वाले, सदाचारी तथा तीनों लोकों के भूषणभूत उन श्रीकृष्ण भगवान् ने ही ब्राह्मणादि वर्णों की मर्यादा को नष्ट नहीं करने वाली जिस द्वारकापुरी की शोभा को बढ़ाया (३। ३३ श्लोक से चला हुआ द्वारकापुरी का वर्णन यहाँ इकत्तीस श्लोकों में समाप्त हुआ) ॥ ६३ ॥

अथ कृष्णस्य प्रतोलीप्राप्तिमाह—

तामीक्षमाणः स पुरं पुरस्तात्प्रापत्प्रतोलीमतुलप्रतापः ।
वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीर्या देवसेनेव परैरलङ्घ्या ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अतुलप्रतापः सः तां पुरम् ईक्षमाणः पुरस्तात् प्रतोलीं प्रापत्, वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः या देवसेना इव परैः अलङ्घ्या ।

बालबोधिनी—अतुलप्रतापः=अनुपमवीर्यः । सः=श्रीकृष्णः । तां=पूर्वोक्ताम् । पुरं=नगरीम्, द्वारकामित्यर्थः । ईक्षमाणः=अवलोकमानः । पुरस्तात्=पूर्वस्यां दिशि, अथवा–अग्रे । प्रतोलीं=रथ्याम् । प्रापत्=प्राप, आससाद । वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः = तोरणप्रासादादिगतहीरकादिमणिकान्तिदेदीप्यमानेन्द्रधनुःशोभा । या=या प्रतोली । देवसेनेव=सुरचमूरिव । परैः=शत्रुभिः । अलङ्घ्या=दुष्प्रधर्ष्या, जेतुमशक्या । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । 'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्' इत्यमरः । 'वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ' इत्यमरः ।

समास—न विद्यते तुला (उपमानम्) यस्य सः–अतुलः (ब० व्री०), अतुलः प्रतापो यस्य सः–अतुलप्रतापः (ब० व्री०) । सुरस्य (इन्द्रस्य) आयुधम्- सुरायुधम् (ष० त०), तस्य श्रीः सुरायुधश्रीः (ष० त०), वज्राणां (हीरकादीनाम्) प्रभा–वज्रप्रभा (ष० त०) तयोद्भासिनी सुरायुधश्रीः यस्यां यया वा–वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः (ब० व्री०) । अन्यत्र–सुराणाम्

(देवानाम्) आयुधानि—सुरायुधानि (ष० त०), तेषां श्रीः सुरायुधश्रीः (ष० त०), वज्रस्य (इन्द्रकुलिशस्य) प्रभाः—वज्रप्रभाः (ष० त०)। ताभिरुद्भासिनी सुरायुधश्रीः यस्याः सा वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—प्रापत्—प्र + आप्लृ व्याप्तौ + लुङ्-तिप् 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः।

हिन्दी—अनुपम पराक्रम वाले वे श्रीकृष्ण भगवान् उस द्वारकापुरी को देखते हुए पूर्व दिशा में (उस) गली में पहुँचे, (तोरण तथा भवनों में लगाये गये) हीरा नामक रत्नों (पक्षा०—वज्र नामक इन्द्रायुध) की प्रभासे शोभमान, इन्द्रधनुष के समान शोभावाली देवसेना के समान जो गली दूसरों (पक्षा०—शत्रुओं) से अलङ्घनीय थी ॥ ६४ ॥

अथ द्वारकातः श्रीकृष्णसेनानिष्क्रमणाह—

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः पुरान्निरीयुर्मुरजिद्ध्वजिन्यः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—अथ अरविन्दनाभेः अङ्गात् प्रजा इव, शम्भोः, जटाजूटात् आप इव, विधातुः मुखात् श्रुतय इव मुरजिद्ध्वजिन्यः पुरात् निरीयुः।

बालबोधिनी—अथ=तदनन्तरम्, क्रमेण वा। अरविन्दनाभेः=पद्मनाभस्य, विष्णोरित्यर्थः। अङ्गात्=शरीरात्। प्रजाः=भूतानि। इव=यथा। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः। शम्भोः=शिवस्य। जटाजूटतटात्=जटाबन्धप्रदेशात्। आप इव=गङ्गाजलानीव। विधातुः=ब्रह्मणः। मुखात्=वदनात्। श्रुतय इव=चत्वारो वेदा इव। मुरजिद्ध्वजिन्यः=मुरारिसेनाः, श्रीकृष्णसेनाः। 'मधुजिद्ध्वजिन्य' इति पाठान्तरेऽपि समान एवार्थः। तत्र मधुरिति दैत्यविशेषः। पुरात्=द्वारकातः। निरीयुः=निष्क्रान्ताः, निसस्रुः। मालोपमालङ्कारः।

कोशः—'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः' इति ब्रह्मपर्यायेष्वमरः। 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्' इत्यमरः।

समासः—अरविन्दं नाभ्यां यस्य स तस्य—अरविन्दनाभेः (ब० व्री०)। जटानां जूटः जटाजूटः (ष० त०) तस्य तटम् (ष० त०) तस्मात्—जटाजूटतटात् (ष० त०)। मुरं जितवानिति मुरजित् (उपपदसमासः) तस्य ध्वजिन्यः मुरजिद्ध्वजिन्यः (ष० त०)

व्याकरणम्—इण् गतौ + लिट्—झि—उस्।

हिन्दी—इसके वाद विष्णु भगवान् के शरीर से प्रजाओं के समान तथा शङ्करजी के जटाजूट से गङ्गा के जल के समान एवं ब्रह्मा के मुख से वेदों के समान द्वारकापुरी से भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाएँ बाहर निकलीं ॥ ६५ ॥

अथाश्ववाराणां निष्क्रमणमाह—

> श्लिष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः ।
> परस्परोत्पीडितजानुभागा दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अन्योऽन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं श्लिष्यद्भिः विलोलैः हरिभिः अश्ववाराः परस्परोत्पीडितजानुभागाः (सन्तः) दुःखेन निश्चक्रमुः ।

बालबोधिनी—अन्योऽन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं = इतरेतरतुण्डव्यतिकरस्खलत्कविकं यथा स्यात्तथा । श्लिष्यद्भिः = मिलद्भिः, सङ्घृष्यद्भिः । विलोलैः = चञ्चलैः । हरिभिः = अश्वैः, करणभूतैः । अश्ववाराः = अश्वारोहाः । परस्परोत्पीडितजानुभागाः = अन्योऽन्यसंपीडितोरुपर्वप्रदेशाः सन्तः । दुःखेन = कष्टेन, व्यथया । निश्चक्रमुः = निष्क्रान्ताः, निर्जग्मुः । अत्र स्वभावोक्त्यतिशयोक्त्योः सङ्करः ।

कोशः—'पीडा बाधा व्यथा दुःखमामनस्यं प्रसूतिजम्' इत्यमरः । 'कविका तु खलीनोऽस्त्री' इत्यमरः ।

समासः—मुखानामग्राणि मुखाग्राणि (ष० त०) तेषु सङ्गः, तेन मुखाग्रसङ्गेन (स० त०), अन्योऽन्येषां मुखाग्रसङ्गेन स्खलन्तः खलीनाः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा—अन्योऽन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनम् । अश्वान् वारयन्तीति—अश्ववारा (उपपदसमासः) परस्परेण उत्पीडिताः जानुभागाः येषां ते परस्परोत्पीडितजानुभागाः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—निश्चक्रमुः—निस् + क्रमु पादविक्षेपे + लिट्–झि–उस् ।

हिन्दी—एक दूसरे के मुखाग्र के सटने से रगड़ खाती (या खिसकतीं) हुई लगामों वाले, रगड़ खाते हुए चञ्चल घोड़ों से परस्पर में दबे (अत्यन्त सटे) हुए जङ्घाओं वाले घुड़सवार कष्टपूर्वक बाहर निकले ॥ ६६ ॥

अथ मार्गे द्विपानां सुखपूर्वकं गमनमाह—

> निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने दूरं पथि प्राणभृतां गणेन ।
> तेजोमहद्भिस्तमसेव दीपैर्द्विपैरसम्बाधमयाम्बभूवे ॥ ६७ ॥

अन्वयः—तमसा इव प्राणभृतां गणेन (पूर्वं) निरन्तराले अपि पथि (सम्प्रति) विमुच्यमाने तेजोमहद्भिः द्विपैः दीपैः इव असम्बाधम् अयाम्बभूवे ।

बालबोधिनी—तमसा=अन्धकारेण । इव=यथा । प्राणभृतां=प्राणिनाम् । गणेन=समूहेन । (पूर्वम्–) निरन्तरालेऽपि = पूर्वं स्वेनैवातिसङ्कटेऽपि । पथि = मार्गे । (सम्प्रति–) दूरं=दूरत एव । विमुच्यमाने=भयेन त्यज्यमाने सति । एकत्र दीपभयादन्यत्र द्विपभयाच्चेति भावः । तेजोमहद्भिः=बलाधिकैः, अन्यत्र—प्रभासम्पन्नैः । द्विपैः = हस्तिभिः । दीपैरिव=प्रदीपैरिव, दीपकैरिव । असम्बाधम्=असङ्कटम् । अयाम्बभूवे = जग्मे, ययामि । न त्वश्वैरिव कृच्छ्रादिति भावः । क्वचित् 'तमसा' इत्यस्य स्थाने त्वयसीति सप्तम्यन्तं पाठान्तरम्, तन्न समीचीनम् ।

कोशः—'तेजो बलं प्रभा तेजः' इति विश्वः । 'दीपः प्रदीपः' इत्यमरः । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इत्यमरः ।

समासः—प्राणान् बिभ्रतीति प्राणभृतः, तेषाम्—प्राणभृताम् (उपपदसमासः) । तेजसा महान्तः तेजोमहान्तः तैः तेजोमहद्भिः (तृ० त०)।

व्याकरणम्—अयाम्बभूवे–'अय गतौ' भावे लिट्–त–एश् + भवतेरनुप्रयोगः द्वित्वादिकार्यं च, 'दयायासश्च' (३।१।३७) इत्याम्प्रत्ययः ।

हिन्दी—ठसाठस भरा हुआ होने पर भी अन्धकार के समान प्राणियों से छोड़े जाते हुए मार्ग में प्रभायुक्त दीपकों के समान महाबलवान् हाथियों ने सुखपूर्वक गमन किया ।

टिप्पणी—जैसे अन्धकारयुक्त तथा भय के कारण दूर से ही अन्धकार के द्वारा छोड़े हुए मार्गों में दीपक सुखपूर्वक गमन करते हैं उसी प्रकार प्राणियों से ठसाठस भरे हुए तथा भय के कारण प्राणियों के द्वारा ही भय से छोड़े हुए मार्गों में बलवान हाथी सुखपूर्वक आगे बढ़े ।। ६८ ।।

अथ हयानां हस्तिनखात्समतलभूमिं रथप्रापणमाह—

शनैरनीयन्त रयात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः ।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—रयात् पतन्तः रथाः सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः (अत एव–) अखेदैः तुरङ्गैः हस्तिनखात् शनैः क्षितिम् अनीयन्त ।

बालबोधिनी—रयात्=वेगात् । पतन्तः=धावन्तः । रथाः=स्यन्दनाः । सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः = प्रयत्नशीलसारथ्याकृष्टप्रग्रहवक्रीभूतकन्धराप्रलग्नयुग्यैः । (अत एव–) अखेदैः=खेदरहितैः, अश्रान्तैः । तुरङ्गैः=अश्वैः । हस्तिनखात्=पुरद्वारसमीपात् प्रदेशात् । शनैः = मन्द मन्दम् । क्षितिं

समतलभूमिम् । अनीयन्त=प्रापिताः, नीताः । हस्तिनखविषये कश्चिदाह—'पूर्वद्वारि परिकूटं तु सन्तो हस्तिनखं विदुः' इति । अत्र यथावद्वस्तुवर्णनात् स्वभावोक्त्यलङ्कारः ।

कोशः—'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः । 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । 'कूटे पूर्द्वारि यद्धस्तिनखस्तस्मिन्' इत्यमरः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः ।

समासः—ग्रीवाणाम् अग्राणि ग्रीवाग्राणि (ष० त०), यत्नेन सह वर्तमानाः सयत्नाः (ब० व्री०), ते च ते सूताः—सयत्नसूताः (क० धा०), तैः आयताः सयत्नसूतायताः ते च ते रश्मयः सयत्नसूतायतरश्मयः (क० धा०), तैः भुग्नानि (तृ० त०) तानि च तानि ग्रीवाग्राणि च (क० धा०) सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्राणि, तेषु संसक्ताः युगाः येषां तैः—सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः (ब० व्री०) । न विद्यते खेदो येषां तैः अखेदैः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—पतन्तः—पत्लृ गतौ+शतृ=जस् । अनीयन्त–णीञ्+कर्मणि लङ्–झ ।

हिन्दी—(ढालू भूमि होने से) वेगपूर्वक चलते हुए रथों को प्रयत्नपूर्वक सारथियोंके द्वारा खींचे गये लगाम से टेढ़ी गर्दन के अग्र भाग में सटे हुए जूए (रथाग्रभाग में लगे हुए लम्बे काष्ठविशेष) वाले घोड़े बिना श्रम के ही हस्तिनख (द्वार की ढालू भूमि) से समतल भूमि पर लाये ।

टिप्पणी—नगर के बाहरी फ़ाटक पर शत्रु लोग आसानी से न चढ़ सकें इसलिए उस फाटक (बहिर्द्वार) की भूमि ढालू बनाई जाती थी' इसी को 'हस्तिनख' कहते हैं ॥ ६८ ॥

अथ द्वारकायाः स्वद्वारवतीत्वं नेष्टमासीदित्याह—

वलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः वलयैरिवास्याः ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीद् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—वलोर्मिभिः वलयैः इव तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः (अत एव–) अस्याः पुरः, चक्रपाणौ निष्क्रामति (सति) प्रायेण द्वारवतीत्वम् इष्टं न आसीत् ।

बालबोधिनी—वलोर्मिभिः=सेनातरङ्गैः । वलयैरिव=कङ्कणैरिव, कटकैरिव । तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः=हरिनिष्क्रमणकालत्यज्यमानप्रतोली-

वाहोः। (अत एव-) अस्याः = निर्दिष्टायाः। पुरः = पुर्याः, द्वारकायाः। चक्रपाणौ=श्रीकृष्णे। निष्क्रामति = निर्गच्छति सति। प्रायेण = भूम्ना। द्वारवतीत्वं=द्वारकात्वम्। स्वस्वरूपमिति भावः। इष्टम्=अभीष्टम्। नासीत्= नाभूत्। श्रीकृष्णविरहे तद्वैफल्यादिति भावः। स धन्यो देशो यत्र देवः श्रीकृष्णः साक्षात्तिष्ठति तच्छून्यया मया किं क्रियते इत्यवधीत्यर्थः। अथ च-द्वारवतीत्वम्= द्वारवत्त्वम्, बहुद्वारत्वम् तस्या नेष्टमभूत्। तस्य श्रीकृष्णनिष्क्रमणहेतुत्वात्; यदि हि मम बहूनि द्वाराणि नाऽभविष्यन् तत्कथमच्युतो वहिरयास्यत्, इति द्वारबहुत्वं निनिन्द। लोकेऽपि या स्त्री बहुद्वारा भवति सा पुरुषेण त्यज्यते। किञ्च-कस्या अपि महिलायाः पत्युः देशान्तरं गच्छत आत्मा नैव बहुमतो भवति। अत्रोपमासङ्कीर्णो- त्प्रेक्षा प्रायेणेत्यनेन व्यज्यते।

कोशः—'आवापकः परिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्'। स्थानीयं निगमः' इत्यमरः।

समासः—बलानि ऊर्मयः इव बलोर्मयः, तैः-बलोर्मिभिः (उपमितसमासः)। तत्क्षणे हीयमाना सा चाऽसौ रथ्या तत्क्षणहीयमानरथ्या (क० धा०) सा भुजेव यस्याः सा तस्याः—तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः (ब० व्री०)। चक्रं पाणौ यस्य स तस्मिन् चक्रपाणौ (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—निष्क्रामति—निस्+क्रमु+शतृ। आसीत्-अस्+लङ् तिप्।

हिन्दी—कङ्कणों के समान सेना-प्रवाह अर्थात् सेनासमुदाय द्वारा, श्रीकृष्ण भगवान् के द्वारकापुरी से वाहर निकल जाने पर तत्काल छोड़ी गयी गलीरूप भुजा वाली (नायिकारूपिणी) द्वारकापुरी को मानो अपना द्वारका होना अभीष्ट नहीं हुआ।

टिप्पणी—जैसे कोई स्त्री घर घर (द्वार-द्वार पर) घूमती फिरती है तो उसका पति उसे छोड़ देता है। तब वह कङ्कणों को उतार देती है तथा उसे बहुत द्वारों पर घूमना फिर अभीष्ट नहीं होता है। तब वह आत्मनिन्दा करती है। उसी प्रकार जब द्वारकापुरी की गलीरूप भुजा से सेनारूप कङ्कण सहित श्रीकृष्ण बाहर निकल गये तो उसको अपना द्वारवती (बहुत द्वारों वाली) होना अभीष्ट नहीं हुआ। अर्थात् उस समय द्वारकापुरी ने सोचा कि यदि मुझमें बहुत से द्वार नहीं होते तो श्री कृष्ण भगवान् मुझे छोड़कर किस प्रकार बाहर निकलते। वह स्थान धन्य है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं।

यहाँ पर द्वारकापुरी को नायिका, गली को उसकी भुजा, श्रीकृष्ण भगवान् को नायक तथा सेनाप्रवाह को कङ्कण होने की कल्पना की गयी है ॥ ६९ ॥

अथासर्गसमाप्तेः समुद्रं वर्णयति—

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन् मुरारिरानीलपलाशराशीः ।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥ ७० ॥

अन्वयः—मुरारिः नीरनिधेः पारेजलम् आनीलपलाशराशीः (अत एव–) उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः वनावलीः अपश्यत् ।

बालबोधिनी—मुरारिः = श्रीकृष्णः । नीरनिधेः = समुद्रस्य । पारेजलम् = जलानां पारे, जलानां परतीरे । आनीलपलाशराशीः = ईषत्समन्ताद् वा श्यामपत्रनिचयाः हरितपर्णपूर्णा इत्यर्थः । (अत एव–) उत्कलिका–सहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः = कल्लोलसमूहप्रतिक्षणतटप्रापितशैवलसमानकान्तीः, तत्सदृशीरित्यर्थः । वनावलीः = अरण्यपङ्क्तीः । अपश्यत् = अवलोकयामास, ददर्श । अथवा–वनावलीः शैवलाभाः अपश्यत्, शैवालमित्युत्प्रेक्षां चक्रे । अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्करः ।

कोशः—'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः । 'ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोलकल्लोललहरिस्तथा' इति हलायुधः । 'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः । 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इत्यमरः । 'जलनीली तु शेवालं शैवालः' इत्यमरः ।

समासः—मुरस्य अरिः मुरारिः (ष० त०) । नीराणां निधिः नीरनिधिः, तस्य नीरनिधेः (ष० त०) । जलानां पारे इति पारेजलम् (अव्ययीभावः) । आनीलाः पलाशानां राशयो यासां ताः—आनीलपलाशराशीः (ब० व्री०) । उत्कलिकानां सहस्राणि—उत्कलिकासहस्राणि (ष० त०), तैः प्रतिक्षणम् उत्कूलिताः—'उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलिताः (तृ० त०), ते च ते शैवलाः (क० धा०) तेषाम् आभा इव आभा यासां ताः उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः (ब० व्री०) । वनानाम् आवलयः वनावलयः (ष० त०) ताः वनावलीः ।

व्याकरणम्—पारेजलम्—जलानां पारे इति विग्रहे 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२ । १ । १७) इत्यव्ययीभावसमासः । उत्कूलित–उत्कूलशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । अपश्यत्—दृशिर् प्रेक्षणे + लङ्—तिप् ।

हिन्दी—(अब यहाँ सर्ग की समाप्ति (३ । ८२) । तक समुद्र का वर्णन करते हैं) श्रीकृष्ण भगवान् ने समुद्र के जल के पार (दूसरे तट पर) अत्यन्त श्यामवर्ण पत्तों के समूहों वाली (अत एव—) सहस्रों जलतरङ्गों से प्रतिक्षिप्त किनारे पर ढेर किये गये शैवाल के समान कान्ति वाली वनपङ्क्तियों को देखा ॥ ७० ॥

समुद्रवर्णने प्रचलिते तत्र श्रीकृष्णस्य समुद्रतटस्थितद्रुमप्रेक्षणमाह—

लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान् द्रुमानसौ नीरदनीलभासः।
लतावधूसम्प्रयुजोऽधिवेलं बहूकृतान् स्वानिव पश्यति स्म ॥ ७१ ॥

अन्वयः—असौ अधिवेलम् लक्ष्मीभृतः अम्भोधितटाधिवासान् नीरदनीलभासः लतावधूसम्प्रयुजः द्रुमान् बहूकृतान् स्वान् इव पश्यति स्म ।

बालबोधिनी—असौ=श्रीकृष्णः । अधिवेलं=वेलायाम्, समुद्रतटे । लक्ष्मीभृतः = शोभाधारिणः, अन्यत्र—श्रीदेवीधारिणः । अम्भोधितटाधिवासान्=समुद्रतटकृतवसतीन्, समुद्रतटस्थितानित्यर्थः । नीरदनीलभासः=मेघसमानकृष्णकान्तीन् । तथा—लतावधूसम्प्रयुजः=वल्लकीकलत्रसंयुक्तान्, वल्लीसम्बद्धानित्यर्थः। द्रुमान्=वृक्षान् । बहूकृतान्=अनेकीकृतान् । स्वानिव=स्वकीयान् देहानिव। पश्यति स्म=विलोकयामास, आत्मतुल्यान् मेने इत्यर्थः । मदीया इवैते बहवो देहा इत्यबोधीत्यर्थः । ये भगवदात्मानस्तेऽवश्यमेव वक्षसि श्रीभृतः समुद्रजलशायिनः मेघश्यामाश्च सत्यभामारुक्मिणीप्रभृतिवधूसंयुक्ताश्च । श्लेषसङ्कीर्णोत्प्रेक्षेयम् ।

कोशः—'लक्ष्मीः सम्पत्तिशोभयोः' इति मेदिनी । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इति चाऽमरः। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः ।

समासः—वेलायामित्यधिवेलम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः) । लक्ष्मीं बिभ्रतीति लक्ष्मीभृतः (उपपदसमासः) । अम्भोधेः तटम्—अम्भोधितटम् (ष० त०) तस्मिन् अधिवासो येषां तान्—नीरदनीलभासः (ब० व्री०) । लताः वध्वः इव लतावध्वः (उपमितसमासः); अन्यत्र-लताः इव वध्वः (शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः), ताभिः सम्प्रयुज्यन्ते इति लतावधूसम्प्रयुजः, तान्—लतावधूसम्प्रयुजः (उपपदसमासः) ।

व्याकरणम्—सम्प्रयुजः—सम्+प्र+युज्+क्विप्। पश्यति स्म—'दृशिर् प्रेक्षणे' इति धातोः स्मयोगे 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूते लट्–तिप्॥

हिन्दी—उन श्रीकृष्ण भगवान् ने समुद्र तट पर लक्ष्मीयुक्त (शोभावाले, पक्षा०–श्री से युक्त), समुद्रतट पर स्थित, नीलमेघ के समान श्याम कान्तिवाले (पक्षा०–नील मेघ द्वारा कान्तिमान्) लतारूपी स्त्रियों में युक्त वृक्षों को अनेक रूप ग्रहण किये हुए अपने शरीर के समान देखा॥ ७१॥

श्रीकृष्णः समुद्रमपस्मारिणमाशशङ्के इत्याह—

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के॥ ७२॥

अन्वयः—असौ आश्लिष्टभूमिम् उच्चैः रसितारं लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गं फेनायमानम् आपगानां पतिम् अपस्मारिणम् आशशङ्के।

बालबोधिनी—असौ = श्रीकृष्णः। आश्लिष्टभूमिं = आलिङ्गितभूतलम्। उच्चैः = तारम्; तारस्वरेण, अतिशयेन वा। रसितारं = क्रन्दितारम्। लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् = चञ्चलद्बाहुसदृशमहत्कल्लोलम्। फेनायमानं—डिण्डीरमुद्वमन्तम्। आपगानां = नदीनाम्। पतिं = स्वामिनम्। समुद्रमित्यर्थः। अपस्मारिणम् = अपस्माररोगिणम्। आशशङ्के = उत्प्रेक्षां चक्रे; तत्कर्मयोगादिति भावः। अपस्मार्यपि भूमिमालिङ्गति, उच्चैः, क्रन्दति, चपलबाहुश्च भवति, फेनं श्लेष्माणं चोद्वमति। यथाहुर्नैदानिकाः—

क्रुद्धैर्धातुभिराहतेऽथ मनसि प्राणी मनः सन्दिशन्
दन्तान्खादति फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः।
पश्यन्रूपमसत्क्षितौ निपतति व्यर्थां करोति क्रियाम्,
विभ्यत्स स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक्॥ इति॥

कोशः—'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः।

समासः—आश्लिष्टा भूमिः येन स तम्—आश्लिष्टभूमिम् (ब० व्री०)। लोलन्तश्च ते भुजाश्च लोलद्भुजाः (क० धा०) तेषाम् आकार इव आकारः येषां ते—लोलद्भुजाकाराः (ब० व्री०) ते च ते बृहत्तरङ्गाः (क० धा०), ते सन्ति यस्य स; तम्—लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् (ब० व्री०)। अपां समूहः आपम्, तेन गच्छन्तीति आपगाः, तासाम्—आपगानाम्।

व्याकरणम्—फेनायमानाम्—फेन+क्यङ् 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्' (वा०) इति। आशशङ्के—आङ्+शकि शङ्कायां+लिट्–त–एश्।

हिन्दी—उन श्रीकृष्ण भगवान् ने भूमि का आलिङ्गन करते हुए, (पृथिवी पर फैले हुए, पक्षा०–पृथिवी पर पड़े हुए), उच्च ध्वनि करते हुए (पक्षा०–जोर से चिल्लाते हुए), चञ्चल बाहुओं के समान विशाल तरङ्गों वाले, फेन युक्त, (पक्षा०–लार युक्त मुख से झागों को गिराते हुए) नदियों के पति समुद्र को मृगी का रोगी समझा ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्णः समुद्रतटे मुक्तावलीरपश्यदित्याह—

पीत्वा जलानां निधिनातिगार्ध्याद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः।
क्षिप्ता इवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयाञ्चकार ॥७३॥

अन्वयः—सः अधिवेलं जलानां निधिना अतिगार्ध्यात् पीत्वा वृद्धिं गते आत्मनि नैव मान्तीः, क्षिप्ताः इन्दो रुचः इव मुक्तावलीः आकलयाञ्चकार।

बालबोधिनी—सः = श्रीकृष्णः। अधिवेलं = अधितीरम्, समुद्रतटे। जलानां = पानीयानाम्। निधिना = आकरेण। समुद्रेणेत्यर्थः। अतिगार्ध्यात्= अतिलाम्पट्यात्, तृष्णाभरादित्यर्थः। पीत्वा = पानविषयीकृत्य। वृद्धिं= विशालताम्। गतेऽपि = प्राप्तेऽपि। चन्द्रोदये समुद्रस्य वृद्धिरित्यागमः। आत्मनि=शरीरे। नैव = न हि। मान्तीः = वर्तमानाः। अतिरिच्यमाना इत्यर्थः। क्षिप्ताः=उद्गीर्णाः। अतितृष्णयोत्कटं पीत्वाऽन्तरमानाद् बहिरुद्वान्ता इत्यर्थः। इन्दोः=चन्द्रस्य। रुचः=मरीचीः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। मुक्तावलीः= मौक्तिकानि। आकलयाञ्चकार=आकलयामास; अबोधि। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः। 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः। 'वेला कूलविकारयोः' इति विश्वः।

समासः—वेलायामिति अधिवेलम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः)। अतिशयं गार्ध्यम्—अतिगार्ध्यम्, तस्मात्—अतिगार्ध्यात् (प्रादिसमासः)। मुक्तानाम् आवलयः मुक्तावलयः ताः मुक्तावलीः (ष० त०)।

व्याकरणम्—पीत्वा—पा पाने+क्त्वा। आकलयाञ्चकार—आङ् कल संख्याने+लिट्-करोतेरनुप्रयोगः।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् ने समुद्र के द्वारा अत्यन्त लालच से चन्द्रकिरणों को अधिक मात्रा में पीकर बढ़े हुए भी अपने (शरीर अर्थात् मध्य भाग) में

न समाती हुई, अत एव वमन की हुई चन्द्रकिरणों के समान समुद्रतट पर (पड़े हुए) मोतियों को माना ॥ ७३ ॥

अथ श्रीकृष्णस्य मेघदर्शनमाह—

साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान्पिबतो ददर्श ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अमी साटोपम् अनिशं नदन्तः यैः उर्वीं समन्ततः प्लावयिष्यन्ति तानि अम्भांसि पयोधेः एकदेशात् निभृतं पिबतः मेघान् स ददर्श ।

बालबोधिनी—अमी—इमे मेघाः । साटोपम्=ससम्भ्रमम्, साडम्बरम् । अनिशम्=अहोरात्रम् । नदन्तः=गर्जन्तः । यैः=यैरम्भोभिः । उर्वीं=पृथिवीम् । समन्ततः=सर्वदिक्षु । प्लावयिष्यन्ति=आपूरयिष्यन्ति । पृथिवीं जलमग्नां करिष्यन्तीति भावः । तानि=पूर्वोक्तानि । अम्भांसि=जलानि । पयोधेः=समुद्रस्य । एकदेशात्=एकभागात्, एककोणात् । निभृतं=निःशब्दं निश्चलं वा यथा भवति तथा । पिबतः=गृह्णतः, पानविषयीकुर्वतः । मेघान्=जलदान् । ददर्श=अपश्यत् । यैर्जलैः पृथिवी पूर्यते स तस्यैकदेशः । एतेन समुद्रस्यापरिच्छिन्नरूपत्वं व्यज्यते । अन्योऽपि कश्चिन्महाधनः कस्मैचित् स्वल्पमपि एतावद् ददाति न सर्वमपि, परमदरिद्रं कुरुते ।

कोशः—'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमरः । अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः । धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्' इत्यमरः । 'ससम्भ्रमाटोपसंरम्भाः' इत्यमरः ।

समासः—आटोपेन सह वर्तमानं यथा भवति एवम्—साटोपम् ।

व्याकरणम्—नदन्त—णद अव्यक्ते शब्दे+शतृ+जस् । ददर्श—दृशिर् प्रेक्षणे+लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—ये बादल दर्प के साथ रात-दिन गर्जते हुए जिन जलों से पृथिवी को सब तरफ से आपूर्ण (प्लावित) कर देंगे । उन जलों को समुद्र के एक भाग से शान्ति से पीते हुए बादलों को श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा ॥ ७४ ॥

अथ श्रीकृष्णस्य नदीदर्शनमाह—

उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः ।
आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—मुनीन्द्रैः तत एव अर्थम् इव मेघैः तत एव तोयम् उद्धृत्य

सम्प्रणीताः अम्बुराशिं पतन्तीः नदीः वेदं पतन्तीः स्मृतीः इव हरिः आलोकयामास।

बालबोधिनी—मुनीन्द्रैः = मनुयाज्ञवल्क्यपराशरादिभिर्यतिभिः। ततः= वेदात्। अर्थमिव=अभिधेयार्थमिव। उद्धृत्य = गृहीत्वा। सम्प्रणीताः= रचिताः। मेघैः=घनैः। तत एव=अम्बुराशेरेव। तोयं=जलम्। उद्धृत्य= गृहीत्वा। संप्रणीताः=निष्पादिताः; समुत्पादिताः। अम्बुराशिम्=समुद्रम्। पतन्तीः=प्रविशन्तीः। नदीः=सरितः। वेदं=ऋग्वेदादिकम्। प्रविशन्तीः= अन्तर्भवन्तीः। तेन सहैकार्थं यान्तीः। अर्थसाम्यमेव स्मृतीनां श्रुतिषु निपातः। स्मृतीः=मन्वादिसंहिता इव। हरिः=श्रीकृष्णः। आलोकयामास=अद्राक्षीत्। यथा मेघैः समुद्रादेव जलं गृहीत्वा समुत्पादिता नद्यः समुद्रे एव विलीयन्ते तथैव स्मृतयोऽपि मन्वादिभिः ऋषिभिः वेदार्थमेव गृहीत्वा रचिताः, तत्रैव चान्तर्भवन्ति। अर्थसाम्यमेव स्मृतीनां वेदे सम्प्रवेशः। अत्र मेघा मुनिभिरुपमीयन्ते, तोयमर्थेन, नद्यः स्मृतिभिः, उदधिर्वेदेन। तत इवादयोऽनेके एव न्याय्या इत्यभियुक्ताः। अनेकैवेयमुपमा।

कोशः—'वाचंयमो मुनिः' इत्यमरः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः।

समासः—मुनिषु इन्द्रः मुनीन्द्रः ते—मुनीन्द्राः तैः मुनीन्द्रैः (स० त०)। अम्बूनां राशिः अम्बुराशिः तम्—अम्बुराशिम्।

व्याकरणम्—पतन्तीः—पत्लृ गतौ+शतृ+ङीप्+शस्। आलोकयामास- आङ्+लोकृदर्शने+लिट्—तिप्—णल्+अस्तेरनुप्रयोगः।

हिन्दी—मनु आदि मुनीश्वरों द्वारा वेद से ही उसके अर्थ को लेकर रची गयी तथा वेद में ही प्रविष्ट होती (वेदानुसरण करती) हुई स्मृतियों के समान, मेघों द्वारा समुद्र से ही जल को लेकर (वृष्टि द्वारा) बनाई गईं तथा पुनः समुद्र में ही प्रवेश करती हुईं नदियों को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा।

टिप्पणी—यहाँ पर मुनीन्द्र, वेदार्थ, स्मृति और वेद उपमान हैं तथा—मेघ, समुद्रजल, नदियाँ और समुद्र उनके उपमेय हैं। अतः यहाँ उपमा अलङ्कार है।

अथ कृष्णस्य सांयात्रिकप्रशंसनमाह—

विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥ ७६॥

अन्वयः—दिश्यानि उरूणि धनानि विक्रीय उत्तमलाभभाजः, (तथा) तत्रत्यम् अफल्गु भाण्डं तरीषु आवपतः द्वैप्यान् सांयात्रिकान् असौ अभ्यनन्दत् ।

बालबोधिनी—दिश्यानि = दिगन्तरभवानि, दिगन्तरानीतानीत्यर्थः । उरूणि=महान्ति, महामूल्यानि । धनानि=नानाद्रव्याणि । विक्रीय=मूल्येन दत्वा । उत्तमलाभभाजः=अधिकलाभवतः । (तथा-) तत्रत्यं =द्वैप्यमित्यर्थः । अफल्गु=सारवत्, उत्तमम् । भाण्डं =मूलधनम् । पण्यद्रव्यमित्यर्थः । तरीषु = नौषु । आवपतः = आदधतः, निक्षिपतः । अन्यतो भाण्डमानीय तत्र विक्रीयापरं तत्रत्यं वान्यतो नयन्त इत्यर्थः । द्वैप्यान्=समुद्रद्वीपवासिनः । सांयात्रिकान्= पोतवणिजः । असौ=श्रीकृष्णः । अभ्यनन्दत्=प्रशशंस । तानग्रतः । शकुन-भूतानालोक्य तुतोषेत्यर्थः ।

कोश—'फल्गु तुच्छमसारं च' इति यादवः । 'वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोः' इति वैजयन्ती । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः ।

समासः—दिशि भवानि दिश्यानि । उत्तमश्चाऽसौ लाभश्च–उत्तमलाभः (क० धा०) तं भजन्ते इति उत्तमलाभभाजः (उपपदसमासः) । तत्र भवं तत्रत्यम् । न फल्गु अफल्गु (नञ् त० पु०) । द्वीपे भवाः द्वैप्याः तान् द्वैप्यान् । संयात्रा=सम्भूय यात्रा प्रयोजनं येषां तान्–सांयात्रिकान् ।

व्याकरणम्—दिश्यानि–दिश् + यत् 'दिगादिभ्यो यत् (४ । ३ । ५४) । द्वैप्या—द्वीप+यञ् 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' (४ । ३ । १०) इति यञ् प्रत्ययः । सांयात्रिकान्–संयात्रा + ठञ् 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) इति । अभ्यनन्दत्–अभि + टुनदि समृद्धौ + लङ्–तिप् अडागमः ।

हिन्दी—विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को बेचकर अधिक लाभ किये हुए, तथा वहाँ होने वाले बहुमूल्य पदार्थों को (अन्यत्र बेचने के लिए) सामुद्रिक जहाजों में रखते हुए, समुद्रद्वीपवासी व्यापारियों का श्रीकृष्ण भगवान् ने अभिनन्दन किया (उनके बुद्धि तथा परिश्रम की प्रशंसा की) ॥७६॥

अथ सर्पाणामुच्चैर्जलक्षेपणमाह—

उत्पिपत्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्गरीयसा निःश्वसितानिलेन ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजानिवोच्चिक्षिपिरे फणीन्द्राः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—नदभर्तुः अन्तः उत्पित्सवः फणीन्द्राः भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजान् इव गरीयसा निःश्वसितानिलेन पयांसि उच्चैः उच्चिक्षिपिरे ।

बालबोधिनी—नदभर्तुः=समुद्रस्य । अन्तः=अभ्यन्तराद् । उत्पित्सवः= गरुडध्वजस्य=श्रीकृष्णस्य । ध्वजानिव=पताका इव । गरीयसा=अतिमहता । निःश्वसितानिलेन=मुखमारुतेन । पयांसि=जलानि । उच्चैः=उच्चम् । उच्चिक्षिपिरे=उत्क्षिप्तवन्तः । यतोऽसौ गरुडध्वजः, गरुडस्य चाहिर्भक्ष्यः; अत एव गरुडभयात्ते जलाद् बहिर्न निर्गताः । किन्तु जलाभ्यन्तरादेव श्रीकृष्णं प्रति भक्त्या जलानि केतनानीवोच्चैरुत्क्षिप्तवन्तः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

कोशः—'विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः । दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः । दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो गोविन्दो गरुडध्वजः' इत्यमरः । 'पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

समासः—नदस्य भर्ता नदभर्ता तस्य नदभर्तुः (ष० त०) । उत्पतितुमिच्छवः, उत्पित्सवः (प्रादिसमासः) । फणिषु इन्द्राः फणीन्द्राः (स० त०) । गरुडः ध्वजे यस्य सः तस्य—गरुडध्वजस्य (ब० व्री०) निःश्वसितस्य अनिलः तेन-निःश्वसितानिलेन (ष० त०) । ऊर्ध्वं चिक्षिपिरे—उच्चिक्षिपिरे ।

व्याकरणम्—उत्पित्सवः—उत् + पत्लृ गतौ=सन् + उप्रत्ययः 'सनिमीमाघुरभलभशकपतपदामचः इस्' (७।४।५४) इति इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । उच्चिक्षिपिरे—उत् + क्षिप प्रेरणे + लिट्—झ—इरेच् ।

हिन्दी—समुद्र के भीतर से (बाहर) उछलने की इच्छा करने वाले बड़े-बड़े सर्पों ने भक्ति से श्रीकृष्ण भगवान् के पताकाओं के समान बहुत बड़ी निःश्वास वायु से जलों को ऊपर की ओर ऊँचा उछाला ।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण गरुडध्वज हैं, और सर्प गरुड़ के भक्ष्य हैं । अतः सर्प इच्छा होते हुए भी गरुड के भय से बाहर नहीं निकले और भीतर से ही अपनी निःश्वास वायु (फुफकार) से ही जलों को बहुत ऊँचा उछालकर, पताकाओं जैसा बनाकर, श्रीकृष्णके प्रति भक्ति प्रकट हुए उनका स्वागत कर रहे हैं ॥७७॥

कृष्णे समीपं समागते समुद्रस्य तं प्रति प्रत्युद्गमनमुत्प्रेक्षते—

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः ।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—अम्बुराशिः युगान्तबन्धुम् उत्सङ्गशय्याशयम् आगतं तं वीक्ष्य गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः प्रत्युज्जगाम इव।

बालबोधिनी—अम्बुराशिः = समुद्रः। युगान्तबन्धुं=कल्पान्तमित्रम्। आपद्बन्धुमित्यर्थः। उत्सङ्गशय्याशयम् = अङ्कशय्याशायिनम्। आगतं = समायातम्। तं = श्रीकृष्णम्। वीक्ष्य =अवलोक्य। गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः=समधिकहर्षदीर्घितोन्नतकल्लोलभुजः। प्रत्युज्जगाम = प्रत्युत्थानं चकार। सम्मेलनार्थमागतवान्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। अत्र क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः' इत्यमरः। 'गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जरालघुनोरपि। पुमान् निषेकादिकरे पित्रादौ सुरमन्त्रिणि' इति मेदिनी।

समासः—अम्बूनां राशिः अम्बुराशिः (ष० त०) युगानाम् अन्तः युगान्तः (ष० त०) तत्र बन्धुः तम्—युगान्तबन्धुम् (स० त०)। शेतेऽस्यामिति शय्या उत्सङ्ग एव शय्या (रूपकसमासः), तस्यां शेते यः सः, तम्—उत्सङ्गशय्याशयम् (उपपदसमासः)। गुरुश्चाऽसौ प्रमोदश्च गुरुप्रमोदः (क० धा०) तेन प्रसारिता उत्तुङ्गा तरङ्गा एव बाहवो यस्य सः, गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्— उत्सङ्गशय्याशयम्–उत्सङ्ग + शय्या + शीङ् + अच्। 'अधिकरणे शेते' (३।२।१५) इत्यच्प्रत्ययः। प्रत्युज्जगाम–प्रति + उत् + गम्लृगतौ + लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—प्रलय काल के सखा तथा गोदी (समुद्र का मध्य भाग) रूपी शय्या पर सोने वाले, आये हुए उन श्रीकृष्ण भगवान् को देखकर समुद्र ने बड़े हर्ष से ऊँची तरङ्गरूपी भुजाओं को फैलाते हुए प्रत्युद्गमन किया (श्री भगवान् के अतिथि सत्कार के लिए अगवानी की)॥ ७८॥

अथ नभस्वतः श्रीकृष्णस्वेदलवमार्जनमाह—

उत्सङ्गिताम्भःकणको नभस्वानुदन्वतः स्वेदलवान्ममार्ज।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालतास्फालनलब्धगन्धः॥ ७९॥

अन्वयः—उत्सङ्गिताम्भःकणकः एलालतास्फालनलब्धगन्धः उदन्वतः नभस्वान् अधिवेलं व्रजतः तस्य स्वेदलवान् अनुवेलं ममार्ज।

बालबोधिनी—उत्सङ्गिताम्भःकणकः=स्वमध्यगृहीतजलबिन्दुः। 'कणकः' इत्यस्य स्थाने 'कणिकः' इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। एलालतास्फालनल-

ब्धगन्धः=एलाबल्लरीसङ्घर्षणप्राप्तसौरभः। 'एलालता' इत्यस्य स्थाने 'एला-वना' इति पाठान्तरम्। तत्रवनम् = अरण्यमित्यर्थः। उदन्वतः=समुद्रस्य। नभस्वान्=वायुः। अधिवेलं=वेलायाम् समुद्रस्य तीरे। व्रजतः=गच्छतः। तस्य=श्रीकृष्णस्य। स्वेदलवान्=धर्मबिन्दून्। अनुवेलं=प्रतिक्षणम्। ममार्ज= स्फोटयामास, जहार। काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

कोशः—'वेला कूले च जलधेर्वेला तीरविकारयोः' इति विश्वः।

समासः—उत्सङ्गिनः कृताः उत्सङ्गिताः। अम्भसःकणाः अम्भःकणाः (ष० त०), उत्सङ्गिताः अम्भःकणाः येन सः—उत्सङ्गिताम्भःकणकः (ब० व्री०)। एलायाः लताः एलालताः (ष० त०) तासाम्—आस्फालनम्—एलालता-स्फालनम् (ष० त०) तेन लब्धो गन्धो येन सः—एलालताऽस्फालनलब्धगन्धः (ब० व्री०)। उदकानि सन्ति अस्मिन्निति उदन्वान्, तस्य—उदन्वतः। वेलाया-मिति अधिवेलम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः)। स्वेदस्य लवाः तान्—स्वेदलवान् (ष० त०)। वेलामनतिक्रम्येति—अनुवेलम्, अथवा—वेलायां वेलायामिति—अनुवेलम् (यथार्थेऽव्ययीभावः)।

व्याकरणम्—उत्सङ्गित—'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। उत्सङ्गिताम्भःकणकः-उत्सङ्गित+अम्भःकण+कप् 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति। ममार्ज—मृजशुद्धौ+लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—अपने मध्य में जल कणों को ग्रहण किया हुआ (अत एव शीतल) इलायची की लताओं को कम्पित करने से गन्धयुक्त, समुद्र का वायु समुद्र तट पर चलते हुए उन श्रीकृष्ण भगवान् के पसीने की बिन्दुओं को प्रतिक्षण दूर कर रहा था। ७९॥

अथ श्रीकृष्णचमूनां लवणसमुद्रभूमिप्रदेशप्राप्तिमाह—

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः॥ ८०॥

अन्वयः—चमूचरैः उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः लावण-सैन्धवीनां कच्छभुवां प्रदेशाः आसेदिरे।

बालबोधिनी—चमूचरैः = सैनिकैः। उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीर-सीमन्तितकेतकीकाः=उन्नततालवृक्षविशेषकाननिःसृतवायुद्विधाकृतकेतकीलताः। लावणसैन्धवीनां=क्षीरसागरसम्बन्धिनीनाम्। कच्छभुवां = कच्छभूमीनाम्

अनूपभूमीनाम् । प्रदेशाः=भागाः । आसेदिरे=प्राप्ताः । अत्र स्वभावोक्तिरनुप्रासश्चालङ्कारौ । ओजःश्लेषसौकुमार्याद्यनेकगुणानां सौन्दर्यमत्र विलसति ।

कोशः—'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः ।

समासः—चमूषु चरन्तीति चमूचराः, तै चमूचरैः (उपपदसमासः) । उत्तालानि च तानि तालीवनानि—उत्तालतालीवनानि (क० धा०) तेषु सम्प्रवृत्तः (स० त०) स चाऽसौ समीरः (क० धा०) तेन सीमन्तिता केतक्यो यत्र ते—उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः (ब० व्री०) । लवणस्य सिन्धुः लवणसिन्धुः (ष० त०) तस्य इमाः लावणसैन्धव्यः, तासाम्-लावणसैन्धवीनाम् । कच्छस्य भुवः कच्छभुवः (ष० त०) तासाम्—कच्छभुवाम् ।

व्याकरणम्—चमूचरैः—चमूचर + ट 'चरेष्टः' (३।२।१६) इति टप्रत्ययः । लावणसैन्धवीनाम्—लवणसिन्धोरिमाः लावणसैन्धव्यः 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण्, 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । आसेदिरे—आङ्+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु+कर्मणि लिट्—झ इरेच् ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् के सैनिकों ने ऊँचे-ऊँचे ताड़ के वनों में चलने वाली वायु से चोटी रूप बन रहीं हैं केतकी लताएँ जिनमें उन क्षारसमुद्र के जलवाले (दलदली भूमियों वाले) प्रदेशों को प्राप्त कर लिया ।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण भगवान् के सैनिक उन जलप्राय प्रदेशों में पहुँचे जहाँ पर ऊँचे-ऊँचे तालवृक्षों के वनों में सुगन्धित वायु बह रहा था, तथा उस वायु से वृक्षों पर चढ़ी हुई केतकी लताएँ तथा उनके पुष्प स्त्री के सिर के बालों की चोटी की तरह बीच से दो भागों में विभक्त हो रहे थे । इस श्लोक में स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास अलङ्कार हैं तथा ओज, श्लेष, सौकुमार्य आदि अनेक गुणों का सौन्दर्य दमक रहा है ॥ ८० ॥

अथ श्रीकृष्णचमूचराणां समुद्रादतिथिसत्कारप्राप्तिमाह—

लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः ।
आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—लवङ्गमालाकलितावतंसा नारिकेलान्तः अपः पिबन्त आस्वादितार्द्रक्रमुकाः ते समुद्रात् अभ्यासगतस्य प्रतिपत्तिम् ईयुः ।

बालबोधिनी—लवङ्गमालाकलितावतंसाः=सुगन्धिवृक्षकुसुममाल्यग्रंथिशेखराः; लवङ्गमाल्यकृतभूषणाः । नारिकेलान्तः=नारिकेलाभ्यन्तरे इत्यर्थः । अपः=जलानि। पिबन्तः=पानविषयीकुर्वन्तः । आस्वादितार्द्रक्रमुकाः=भक्षितसरसपूगफलाः ।

ते=चमूचराः। समुद्रात्=सागरात्। अभ्यागतस्य=अतिथेः। प्रतिपत्तिम्=गौरवम् सत्कारम्। ईयुः=आपुः। यथाऽऽगन्तुकः पूज्यते तथा समुद्रेण तेऽभ्यर्चिता इत्यर्थः। क्वचिद् 'ईयुः' इत्यस्य स्थाने 'आपुः' इत्येव पाठः। अर्थस्तूभयत्र समान एव। अत्रातिथिप्रतिपत्तिप्राप्तेर्विशेषणगत्या अवतंसकलनादिपदार्थहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तेन समुद्रचमूचराणां गृहस्थाभ्यागतोपम्यप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः।

कोशः—'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः। 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च' इति विश्वः।

समासः—लवङ्गानां मालाः लवङ्गमालाः (ष० त०), ताभिः कलिताः अवतंसाः यैस्ते–लवङ्गमालाः कलितावतंसाः (ब० व्री०)। नारिकेलस्य अन्तः नारिकेलान्तः (ष० त०)। आर्द्राश्च ते क्रमुकाश्च आर्द्रक्रमुकाः (क० धा०) आस्वादिताः आर्द्रक्रमुकाः यैस्ते–आस्वादितार्द्रक्रमुकाः (ब० व्री०) अभितः आगतः अभ्यागतः (प्रादिसमासः)।

व्याकरणम्—पिबन्तः—पा (पिब्) + शतृ + जस्। ईयुः—इण् गतौ + लिट्–झि–उस्।

हिन्दी—लवङ्ग माला से शिरोभूषण बनाये हुए तथा नारियल के भीतर के पानी को पीते हुए तथा कच्ची सुपारी का स्वाद लिए श्रीकृष्ण भगवान् के उन सैनिकों ने समुद्र से अतिथि सत्कार को प्राप्त किया ॥ ८१ ॥

अथ श्रीकृष्णसैन्यस्य समुद्रस्य च परस्परमन्तरमाह—

तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः
प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता।
परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रिय—
श्चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत् ॥ ८२ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के
पुरीप्रस्थानो नाम तृतीयः सर्गः।

अन्वयः—परितः तुरगशताकुलस्य प्रतिपथं प्रमथितभूभृतः सततं धृतश्रियः पुरः परिचलतः बलानुजबलस्य परम् एकतुरङ्गजन्मनः महीभृता भृशं मथितस्य चिरविगतश्रियः जलनिधेः च तदा महत् अन्तरम् अभवत्।

बालबोधिनी—परितः = समन्तात् । तुरगशताकुलस्य = अश्वसमूहव्याप्तस्य । अपरिमिताश्वस्येत्यर्थः । प्रतिपथं=प्रतिमार्गम् । प्रमथितभूभृतः=क्षुण्णविपक्षनृपस्य, विदीर्णपर्वतस्य वा । सततं=निरन्तरम्; सर्वदा । धृतश्रियः=सश्रीकस्य । पुरः=अग्रे, नगराद् वा । परिचलतः=परिगच्छतः, बलानुजबलस्य=श्रीकृष्णसैन्यस्य । परं=केवलम् । एकतुरङ्गजन्मनः=उच्चैःश्रवोमात्रैकाश्वोत्पत्तेः । एकोऽपि जात एव न त्वस्तीति भावः । महीभृता=मन्दराद्रिणा, राज्ञा च । भृशम् = अत्यन्तम् । मथितस्य = विलोडितस्य । न तु स्वयं कस्यापि मथितेति भावः । चिरविगतश्रियः = बहुकालनिवृत्तलक्ष्मीकस्य । उत्पत्त्यनन्तरमेवास्याः हरिस्वीकरणादिति भावः । जलनिधेश्च = समुद्रस्य च । तदा=प्रस्थानसमये । महत्=अधिकम् । अन्तरं = दूरगमनादिव्यवधानम् । अभवत्=अभूत् । समुद्राद् बलं दूरं गतमित्यर्थः । अथवा—अन्तरं = विशेषः, उक्तरीत्या तारतम्यमित्यर्थः । अत्रोपमेयस्य हरिबलस्योपमानाज्जलधेराधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः । पञ्चकावलीवृत्तम् । 'नभजजजा जरौ नरपते ! कथिता भुवि पञ्चकावली' इति लक्षणात् । धृतश्रीवृत्तमिति केचित् 'नभजपुरस्कृता जजजरा रचिता भुवि रुद्रदिक्पतिः' इति लक्षणात् । बल्लभदेवस्त्वत्र रुचिरा वृत्तमाह । वृत्तमिदं वृत्तरत्नाकरादौ नास्ति ।

कोशः—'घोटके वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः । 'बलं सैन्ये बलो रामे' इत्युभयत्रापि शाश्वतः ।

समासः—तुरगाणां शतं तुरगशतम् (ष० त०) तेन आकुलस्य तुरगशताकुलस्य (तृ० त०) । पथि पथि प्रतिपथम् (यथार्थेऽव्ययीभावः) । प्रकर्षेण प्रमथिताः भूभृतो येन स तस्य प्रमथितभूभृतः (ब० व्री०) । धृता श्रीः येन स तस्य—धृतश्रियः (ब० व्री०) । बलस्य अनुजः बलानुजः (ष० त०) तस्य—बलस्य—बलानुजबलस्य (ष० त०) । एकश्चासौ तुरङ्गश्च—एकतुरङ्गः (क० धा०) एकतुरङ्गस्य जन्म यस्मात् तस्य एकतुरङ्गजन्मनः (ब० व्री०) । चिरं विगता श्रीः यस्य तस्य चिरविगतश्रियः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—अभवत्—भू+लङ्—तिप् ।

हिन्दी—चारों तरफ से सैकड़ों घोड़ों से व्याप्त, प्रत्येक मार्ग में राजाओं को छिन्न-भिन्न करने वाले (उन्हें जीतने वाले) तथा निरन्तर शोभायमान् या लक्ष्मी से युक्त, नगर से आगे को जाती हुई श्रीकृष्ण की सेना तथा केवल

एक (उच्चैःश्रवा) घोड़ा को उत्पन्न करने वाले, मन्दराचल के द्वारा बार-बार मथे गये तथा बहुत समय से लक्ष्मी से रहित समुद्र का उस (प्रस्थान के) समय में बड़ा भारी अन्तर हो गया था। उक्त रीति से समुद्र की अपेक्षा सेना में बहुत अधिक उत्कर्षता थो। परन्तु कथाप्रसङ्ग की दृष्टि से सेना समुद्र से बहुत दूर निकल गयी थी, यह तात्पर्य है।

टिप्पणी—यहाँ व्यतिरेकालङ्कार तथा पञ्चकावली छन्द है ॥ ८२॥

इति निखिलशास्त्रनिष्णातानां पण्डितराज-श्री रामलोटन अवस्थिमहोदयानां शिष्येण श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठानां स्वधर्मधुरन्धराणां श्री बाबूराम शर्मणां पुत्रेण श्रीबादामीदेवीगर्भसम्भवेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत खैरपुरग्रामनिवासिना मैनपुरी-मण्डलान्तर्गतशिरसा-गञ्जस्थार्यगुरुकुलमहाविद्यालयसाहित्यप्रधानाध्यापकेन श्रीरामजीलालशर्मणा विरचितायां शिशु-पालवधमहाकाव्यस्य बालबोधिन्यां

तृतीयः सर्गः।

—: ० :—

श्लोकानुक्रमणिका

—०—

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२५

महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

'बालबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(चतुर्थः सर्गः)

व्याख्याकारः—

श्री रामजीलाल शर्मा

साहित्य-दर्शनाचार्यः

साहित्यविभागाध्यक्षः

आर्य गुरुकुल महाविद्यालयः, सिरसागंज (मैनपुरी)



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

पञ्चम संस्करण १९९३

मूल्य १०.००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

*

प्रमुख वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA
25



SISUPĀLAVADHAM

OF

MAHAKAVI MAGHA

With

'Balabodhini' Sanskrit-Hindi Commentaries

(Canto IV)

By

Shri Ramjilal Sharma

Sahitya-Darshanacharya

Head of the Department of Sahitya

Arya Gurukul Mahavidyalaya, Sirsaganj (Mainpuri)



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

(Oriental Publishers & Booksellers)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

VARANASI 221001

Fourth Edition

1990

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Telephone : 236391

*

Sole Distributors

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

Telephone : 63076

भूमिका

काव्य शास्त्र की उपादेयता

इस संसार में मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। जिसका मुख्य साधन वेद शास्त्रों का ज्ञान है। परन्तु वेदशास्त्रों के नीरस तथा कठिन होने से उन्हें वे ही मनुष्य पढ़ने तथा समझने में समर्थ हैं जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं परिपक्व है। कोमल बुद्धिवालों के लिये तो अत्यन्त सरल एवं सरस होने से काव्य ही एक ऐसा साधन है जो उन्हें धर्मादि की सुखपूर्वक प्राप्ति कराने में समर्थ है। जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है—

> चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
> काव्यादेव.......................................॥' (सा० द० १।२)

भरत मुनि कहते हैं कि धर्मार्थियों को धर्म, कामार्थियों को काम, विद्याभिलाषुकों को विद्वत्ता तथा दीन-दुःखियों को परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है। रुद्रट, भामह आदि सभी विद्वानों ने काव्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (का० प्र० १।२)

अर्थात् 'काव्य, यश, धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमङ्गल का नाश, परमसन्तोष एवं कान्ता के समान हितोपदेश को देने वाला है।' पुराण एवं इतिहास आदि को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, दण्डी, बाण, हर्ष, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सहस्रों कवियों का यश आज भी इस संसार में विद्यमान है, एवं सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगा। एक-एक पद्य पर सहस्रों मुद्रायें आदि प्राप्त होने की कथायें राजतरङ्गिणी आदि में उपलब्ध हैं। श्रीहर्षादि से बाणादि को अतुल धन-लाभ होने की वार्ता से कौन अपरिचित है? सूर्यशतक (सूर्य-स्तुति) आदि से मयूरादि के कुष्ठ जैसे भयङ्कर रोगों का समूल विनाश हो जाना संसारप्रसिद्ध ही है। यही नहीं, काव्य को आचार्यों ने ब्रह्मरूप में प्रतिपादित किया है—

> यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
> सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ॥

तभी तो—

> न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
> जायते यन्न काव्याङ्गम्.......................................॥

यह कहना सङ्गत होता है।

यही कारण है कि परम प्रयास साध्य-योग, जप, तप, वेद-उपनिषद् तथा दर्शनादि के परिशीलन की अपेक्षा अत्यन्त सरल, सरस एवं ब्रह्मानन्द सहोदर काव्य-शास्त्र के परिशीलन में लोगों की अधिक प्रवृत्ति होती है।

काव्य के भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है। दृश्य काव्य को ही रूपक कहते हैं। यह रूपक नाटकादि भेद से दस प्रकार का होता है। रूपकों के समान ही कुछ विशेषता लिये हुए नाटिकादि आदि १८ प्रकार के उपरूपक भी होते हैं। द्वितीय श्रव्य काव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पद्यात्मक काव्य—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य, (३) कुलक, (४) कलापक, (५) सन्दानितक, (६) युग्मक, (७) मुक्तक भेद से सात प्रकार का होता है। गद्यात्मक काव्य—कथा तथा आख्यायिका भेद से दो प्रकार का माना गया है। श्रीविश्वनाथ जी के मत से गद्य—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिका प्राय और (४) चूर्णक भेद से चार प्रकार का होता है। गद्यपद्योभयात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं। यही चम्पू यदि राजस्तुतिपरक हो तो विरुद कहलाता है, और यदि अनेक भाषा निबद्ध हो तो करम्भक कहलाता है।

महाकवि 'माघ' का परिचय

महाकवि माघ के पिता—'दत्तक' बड़े उदार एवं दानी पुरुष थे। वे अपने यहाँ सबको आश्रय दिया करते थे, जिससे वे 'सर्वाश्रय-दाता' इस विरुद से विख्यात थे। इनके पितामह का नाम 'सुप्रभदेव' था, जो श्री वर्मलात (वर्मनाभ, धर्मनाभ, धर्मलात) नामक राजा के मन्त्री थे। बस महाकवि 'माघ' के स्वरचित 'कवि-वंश-वर्णन' से इतना ही इनके विषय में परिचय प्राप्त होता है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि माघ के जन्म के समय में ही ज्योतिषियों ने इनकी जन्मपत्री को देखकर बतलाया था कि ये अपने जीवन में अत्यन्त गरीब हो जायेंगे। इस बात को जानकर श्री माघ के पिता ने एक लाख रुपया प्रतिमास के हिसाब से सौ वर्ष के लिये दस बारह करोड़ रुपया सोने के हाड़ी में भरकर जमीन में गाड़ दिया था, ताकि मेरे पुत्र माघ को कभी जीवन में धन की कमी न पड़े। परन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार में लाखों रुपया दान में दे देना उनके लिये साधारण बात थी। फल यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोजप्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार 'माघ' धारानरेश 'भोज' के राजकवि एवं प्रधान मन्त्री थे। अतः निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११।६४) इत्यादि पद्य को लिखकर अपनी पत्नी को उसे लेकर राजा के पास में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। उसे लेकर रास्ते में आते हुए माघ की पत्नी ने उस सम्पूर्ण धन को याचकों के लिये बाँट दिया और घर जाने तक

पास कुछ भी न रहा। परन्तु घर तज याचकों का ताँता बँधा ही रहा। याचकों को देने के लिये अपने पास कुछ भी न देखकर महाकवि माघ ने अत्यन्त दुःख से अपने प्राण छोड़ दिये। प्रातःकाल भोज को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े दुःखी हुये। उन्होंने महाकवि माघ का अग्नि-संस्कार किया। माघ की पत्नी उन्हीं के साथ सती हो गई। कुछ भी हो इस कथा से 'माघ' की दानशीलता का पता चलता है।

काव्य गुणों की दृष्टि से शिशुपालवध की समीक्षा

वस्तु संघटना—शिशुपालवध की कथा का आधार महाभारत के सभा पर्व अध्याय ३३ से ४५ तक की कथा है। महाकवि माघ ने अपनी नवीन उद्भावनाओं से इस छोटी सी कथा को एक बीस सर्ग के महाकाव्य का रूप दिया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक, (२) प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नायक तथा काव्य के फल से होता है। परन्तु प्रासङ्गिक वस्तु में नायक से भिन्न किसी अन्य का वृत्त रहता है जिसका परम्परया सम्बन्ध काव्य के फल से रहता है। शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही आधिकारिक कथा है जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

इस महाकाव्य की कथा को देखने पर प्रतीत होता है कि यह एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। घटना प्रधान काव्यों में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका समस्त वस्तु-विन्यास उस घटना पर ही केन्द्रित रहता है। परन्तु रामायण या बुद्धचरित जैसे व्यक्ति प्रधान महाकाव्यों में नायक के समस्त जीवन का परिचय मिलता है। यहाँ कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं पर रहती है। इस घटना-प्रधान शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल का वध ही मुख्य घटना है। अन्य सभी प्रासङ्गिक वर्णन उसके पोषक के रूप में हैं।

यहाँ महाकवि माघ प्रबन्धकाव्य की इतिवृत्तनिर्वाहकता में सफल नहीं कहे जा सकते हैं। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। मूलकथा पहले, दूसरे तथा चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पाई जाती है। इसमें भी कई अप्रासङ्गिक वर्णनों का कवि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शेष चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का वर्णन आनुषङ्गिक है जिसका आवश्यकता से अधिक विस्तार आलोचकों को अत्यन्त खटकता है। यह कथा के प्रवाह को रोक लेता है। वीर रस प्रधान शिशुपालवध के पूरे ६ सर्गों में शृङ्गार लीलाओं का वर्णन वीररस को दबोच सा लेता है। काव्य के मध्य भाग को पढ़ने पर पाठक यह समझने लगता है कि यह शृङ्गार का ही काव्य है। वस्तुतः यहाँ शृङ्गार रस वीर रस की चर्वणा में बाधक बन गया है।

प्रबन्ध काव्य में सम्बन्ध निर्वाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात को स्वयं महाकवि माघ भी स्वीकार करते हैं—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥ २।७२॥

अर्थात् इच्छानुसार बहुत सी असङ्गत बातें सरलता से कही जा सकती हैं परन्तु ... प्रबन्ध को कहना कठिन है जिसमें पदार्थों की सङ्गति विच्छिन्न हुई हो।

वस्तुतः मुख्य घटना के साथ प्रासङ्गिक बातों का वर्णन वहीं तक उचित होता है ... तक वे प्रासङ्गिक वर्णन मुख्य घटना को रोचक बनाकर श्रोताओं को भाव-मग्न ... रसानुभूति में सहायक सिद्ध हो सकें। अतः ये वर्णन पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये नहीं ... चाहिये और उनका विस्तार भी मुख्य घटना के अनुकूल होना चाहिए अत्यधिक ... माघ का यह अप्रासङ्गिक वर्णनों का अत्यधिक विस्तार कथा के प्रवाह में बाधक हो... रसानुभूति में भी बाधक बन गया है।

भावाभिव्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपालवध का प्रधान (अङ्गी) रस वीर है। शृङ्गार तथा रौद्रादि रस उसी के ... बनकर आये हैं। शिशुपालवध के इस वीर रस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासङ्गिक शृङ्गार लीलाओं के पूरे ६ सर्ग में विस्तृत वर्णन ने वीर रस को दबोच सा लिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि माघ वीर रस के सफल चित्रकार नहीं हैं। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनों के सफल चित्रकार हैं। यहाँ दिग्दर्शन के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। वीर रस ... उदाहरण लीजिये—

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम्॥ १८।८०॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत (विपक्षी) राजाओं की सेनाओं का बड़े-बड़े तरङ्गों वाली भगवान् श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ इस प्रकार युद्ध होने लगा जिस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का, समुद्र के बड़े-बड़े तरङ्गों वाले प्रवाहों से गम्भीर ध्वनि के साथ संघात (टक्कर) होता है।

माघ का अष्टादश सर्ग युद्ध वर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के चित्रवत् वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। अन्यत्र भी माघ के वीर रस के चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। माघ के पद-विन्यास की धीर और गम्भीर गति उनके चित्र में एक अपूर्व शोभा को ... देती है। रावण के साथ वरुण के युद्ध का कैसा सुन्दर चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है— युद्ध के समय वरुण रावण पर नागपाश फेंकता है, नागपाश रावण की ओर चलता है ...

देखकर रावण क्रोध से हुङ्कार करता है तो नागपाश डरकर लौट पड़ता है और वह सर्पराजपाश भयभीत होकर वेगपूर्वक प्रहार करने वाले वरुण के गले में जाकर लिपट जाता है—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभया प्रपेदिरे ॥ १।५६ ॥

माघ का मन वीर रस से भी अधिक श्रृङ्गार के वर्णन में रमता हुआ प्रतीत होता है। लेकिन उन्होंने सम्भोग श्रृङ्गार का ही अधिक वर्णन किया है। उनके षड् ऋतुवर्णन, वनविहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि सम्भोग श्रृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भी वर्णन है; उनके श्रृङ्गारिक पद्यों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ ३।१६ ॥

जिस-जिस प्रिया को प्रिय श्रीकृष्ण ने देखा उसने लज्जा से मुख को नीचा कर लिया। इस पर दूसरी युवतियाँ उस प्रियतम कृष्ण पर ईर्ष्यावश निर्भय होकर एक साथ अपने कटाक्षों से प्रहार करने लगीं।

और भी देखिये—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणमशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥

अर्थात् प्रातःकाल हो गया है। रात्रि की रतिक्रीडा से थककर सोये हुए दम्पतियों में से नायिकायें पहले जाग गयी हैं, परन्तु वे अपने शरीर को इसलिये नहीं हिलाती-डुलाती हैं कि कहीं उनके हाथ के हट जाने से उनके प्रिय की नींद टूट न जाय।

महाकवि माघ ने रसाभिव्यक्ति के अनुकूल भावाभिव्यञ्जना भी की है। वीर रस के स्थायिभाव उत्साह का बीज प्रथम सर्ग में दिखाया गया है। प्रथम सर्ग में उनके आलम्बन विभाव शिशुपाल का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल के युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण के प्रति कठोर वचन उद्दीपन विभाव है और सप्तदश सर्ग में अनुभावों का वर्णन किया गया है। श्रृङ्गार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावों का भी कवि ने सफल चित्रण किया है। परन्तु श्रृङ्गार के सञ्चारी भावों के चित्रण में वे इतने सफल नहीं हुए हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि माघ वीररस तथा श्रृंगाररस दोनों के ही सफल चित्रकार हैं। परन्तु उनका श्रृङ्गार अत्यन्त विलासमय हो गया है जो कि सहृदयों के हृदय में खटकता है। वस्तुतः माघ प्रेम के कवि न होकर प्रेमकला के कवि हैं। ये नायिका के हाव-भाव या नखशिख वर्णन आदि के द्वारा ही भाव पक्ष की कमी को पूरा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

माघ का प्रकृति वर्णन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृतिवर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं तो षष्ठ सर्ग के प्रकृति वर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। परन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग का प्रकृतिवर्णन सरस है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात वर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है और वह भी सम्भोग शृङ्गार की प्रकृति। बीच-बीच में वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। माघ का प्रकृति वर्णन मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—(१) यमक वाला प्रकृति वर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृतिवर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृति वर्णन। प्रथम प्रकार में आनेवाला चतुर्थ सर्ग का प्रकृतिवर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता है जब कि छठे सर्ग का प्रकृति-वर्णन सुन्दर है। इस छठें सर्ग में दूसरी दो कोटियों के शृंगार का भी समावेश है। यमक, श्लेष और शृंगारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का वर्णन कितना सुन्दर है—

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥ ६।२५॥

चमकती हुई चञ्चल बिजलीवाली सघन बादलों से भरी मेघ पंक्ति अपने उचित समय पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई जैसे चञ्चल नेत्रों वाली, पुष्ट यौवन वाली नायिका अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा में न डालती हुई उसके पास में उपस्थित होती है।

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। पश्चिम दिशा अस्त होनेवाले निस्तेज सूर्य को इस प्रकार घर से निकाल देती है जिस प्रकार वेश्या धनरहित व्यक्ति को—'निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका' (९।१०)। प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से भागता हुआ इस तरह नजर आता है जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो—'उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।' ११।६५॥

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान के प्रकृति वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकालीन सूर्य का बाल रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है।

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥ ११।४७॥

उदयाचल के शिखररूपी आङ्गन में रेंगता (घुटनों के बल चलता) हुआ कमलिनियों के द्वारा कमल रूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (अनुष्ण किरणाग्र) बालसूर्य पक्षियों के कलरव के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) आकाश की गोदी में जा रहा है। इस पद्य में श्लेष अतिशयोक्ति तथा रूपक का सङ्कर पाया जाता है।

रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है।

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणं विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥ ४।४७॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी (रैवतक की) गोद में लेटा करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने जा रही हैं। इस कारण रैवतक, चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति वर्णन का खास सौन्दर्य अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है।

प्रस्तुत संस्करण में अवतरण, अन्वय, पर्याय, भावार्थ, कोश, समास, व्याकरण, संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी में अनुवाद एवं विषमस्थलों पर उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। यदि विद्वानों एवं छात्रों को इससे कुछ भी लाभ एवं संतोष हुआ तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल समझूँगा।

विदुषां वशंवदः
रामजीलाल शर्मा,

चतुर्थ सर्ग

'रैवतक का वर्णन'

आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्ण ने रैवतक पर्वत को देखा जो कि शिखरों के ऊपर मँडराते हुए बादलों से सूर्य के मार्ग को पुनः रोकने के लिये उद्यत मैनाक पर्वत के समान प्रतीत होता था। यह अपने हजारों शिखरों से आकाश को तथा प्रत्यन्त पर्वतों से पृथ्वी को ढके हुए था। सूर्य, चन्द्रमा जिसके नेत्र जैसे प्रतीत होते थे। यह अनेक वृक्ष तथा लताओं से आच्छादित था। निरन्तर बादलों के जल बरसाने से सर्पों की विषाग्नि की बाधा इस पर कुछ प्रभाव नहीं करती थी। इसके सूर्यकान्तमणि वाले शिखरों पर सूर्य की किरणें पड़ने के कारण आग बरसने लगती थी। श्रीकृष्ण भगवान् का बार-बार देखा हुआ भी यह पर्वत अत्यन्त रमणीय होने से उनको आश्चर्य से युक्त कर रहा था। इस प्रकार भगवान् को उत्कण्ठित देखकर, उनका सारथि दारुक उस पर्वत का वर्णन करने लगा—

उसने कहा कि सूर्य के उदय तथा चन्द्रमा के अस्त होते रहने पर, यह पर्वत, दोनों पार्श्वों में लटकते हुए दो घण्टाओं वाले हाथी के समान शोभित होता है। स्वर्णमयी भूमि वाला यह रैवतक पर्वत अपने शिखरों से गिरते हुए झरनों के ऊपर उछलते हुए जलबिन्दुओं से स्वर्गीय देवाङ्गनाओं के शरीर के सन्ताप को शान्त करता है। पानी में एक ओर स्फटिक तथा दूसरी ओर नीलमणि की कान्ति से गङ्गा-यमुना के सङ्गम के समान इसका जलाशय शोभित होता है। एक ओर सुवर्णमयी तथा दूसरी ओर रजतमयी दीवार से यह पर्वत भस्म लपेटे हुए तथा नेत्र से अग्नि कण निकालते हुए शिवजी के समान प्रतीत होता है। चारों ओर खिले हुए चम्पा के फूलों से पिंगलवर्ण कनकमयी दीवारों वाले सुमेरु तुल्य इस पर्वत के द्वारा (पीली कान्ति पड़ने से) यह भारत 'इलावृत' के समान (सोने से रचा हुआ सा) लगता है। यहाँ कम्बलमृग विचरते हैं। स्त्रियों सहित सिद्ध गण विहार करते हैं। रात्रि में औषधियाँ चमकती रहती हैं। पुष्पित कदम्ब को कम्पित करती हुई शीतल, मन्द-सुगन्ध वायु बहती है। यहाँ रत्नों की अनेक खानें हैं तथा यह किन्नरों की विहार स्थली है। यहाँ चमरी गायें तथा विशालकाय हाथी विचरते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर मैत्री आदि चारों वृत्तियों के ज्ञाता, अविद्या आदि पाँचों क्लेशों को त्याग कर अन्त में उसे भी रोकने के लिये (तथा स्वयं प्रकाश स्थिति को प्राप्त करने के लिये) समाधि लगाये हुए बहुत से योगी लोग निवास करते हैं। इस प्रकार यह रैवतक पर्वत भोग भूमि ही नहीं किन्तु मोक्ष भूमि भी है। यहाँ सदा सभी ऋतुएँ अपनी-अपनी शोभा को प्रदर्शित करती हैं अतः यहाँ शीतोष्ण द्वन्द्व किसी को नहीं सताते हैं। इस प्रकार परम श्रेष्ठ यह पर्वत ऊपर उठते हुए श्यामल मेघों से मानों आपकी अगवानी करने के लिये ऊपर उठ रहा है।

—————

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

चतुर्थः सर्गः

(कुलकम् १-९)

अथ मार्गस्थितं रैवतकं वर्णयितुं चतुर्थ-सर्गमारभमाणो महाकविर्माघो हरेरैवतकदर्शनं कुलकेनाह—

निःश्वासधूमं सहरत्नभाभिर्भित्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम् ।
नीलोपलस्यूतविचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥ १ ॥

अन्वयः—असौ नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम् (अत एव-) रत्नभाभिः सह भूमिं भित्वा उत्थितम् उरगाणां निःश्वासधूमम् इव स्थितं रैवतकं गिरिं ददर्श ।

बालबोधिनी—असौ=श्रीकृष्णः । नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम्=इन्द्रनीलमणिप्रोतनानावर्णगैरिकमनःशिलादिधातुम् । (अत एव-) रत्नभाभिः=मणिप्रभाभिः । सह=साधंम् । भूमिं=भुवम् । भित्वा=विदार्य । उत्थितम्=ऊर्ध्वं निर्गतम् । उरगाणां=सर्पाणाम् । निःश्वासधूममिव=फूत्कारबाष्पमिव । स्थितमिति शेषः रैवतकं=रैवतकाख्यम् । गिरिं=पर्वतम् । ददर्श=अवलोकयामास अद्राक्षीत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे नानावृत्तानि । अत्रादावष्टादशश्लोकेषु उपजातिवृत्तम् । अत्रासर्गसमाप्तेर्गिरिवर्णनमेवास्ति ।

कोशः—'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः ।—उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः । 'भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा । धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः ।

समासः—नीलाश्च ते उपलाश्च नीलोपलाः (क० धा०) तैः स्यूताः विचित्राः धातवो यस्य स तम्—नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम् (ब० व्री०) । रत्नानां भाः (ष० त०) ताभिः रत्नभाभिः । निःश्वास एव धूमः तम्—निःश्वासधूमम् (रूपक-समासः) । अथवा—निश्वासः धूम इव तम् ।

व्याकरणम्—स्यूत–'षिवु तन्तुसन्ताने' कर्मणि क्तः 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) इत्युडादेशः। ददर्श—'दृशिर् प्रेक्षणे' इति धातोः लिट्-तिप् णल्।

हिन्दी—उन श्रीकृष्ण भगवान् ने, इन्द्रनीलमणियों से सम्बद्ध गेरु मैनसिल आदि अनेकविध विभिन्न वर्ण वाली धातुओं वाले अतः रत्नों की कान्ति के साथ भूमि को फाड़कर ऊपर निकले हुए सर्पों के निःश्वास वायुरूप धूंए की तरह स्थित रैवतक पर्वत को देखा ॥ १॥

अथ श्रीकृष्णो गिरिं ददर्शेत्युक्तम्, कीदृशमित्याकाङ्क्षायामेकान्वयेनाष्टाभिस्तमेव गिरिं विशिनष्टि—

गुर्वीरजस्रं दृषदः समन्तादुपर्युपर्यम्बुमुचां वितानैः।
विन्ध्यायमानं दिवसस्य भर्तुर्मार्गं पुना रोद्धुमिवोन्नमद्भिः ॥ २ ॥

अन्वयः—गुर्वीः दृषदः उपरि उपरि समन्तात् अजस्रम् उन्नमद्भिः (अत एव) अम्बुमुचां वितानैः दिवसस्य भर्तुः मार्गं पुनः रोद्धुम् विन्ध्यायमानम् इव (गिरिं रैवतकं ददर्श)।

बालबोधिनी—गुर्वीः=महतीः। दृषदः=शिलातटीरित्यर्थः। उपरि उपरि दृषदां समीपे, उपरि प्रदेशे इत्यर्थः। समन्तात्=सर्वतः। अजस्रं=निरन्तरम्। उन्नमद्भिः=उत्पतद्भिः। (अत एव तैः) अम्बुमुचां=मेघानाम्। वितानैः=समूहैः। दिवसस्य=दिनस्य। भर्तुः=पत्युः स्वामिनः। सूर्यस्येत्यर्थः। मार्गं=पन्थानम्। पुनः=भूयः। रोद्धुं=निवारयितुम्, अवरोद्धुम्। विन्ध्यायमानमिव=विन्ध्यवदाचरन्तमिव तद्वद्वर्धमानमिव स्थितमित्यर्थः। (असौ गिरिं रैवतकं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः) केचित्तु इवशब्दस्य वृथात्वं प्रतिपादयन्ति तदयुक्तम्। इवशब्दाभावे तूत्प्रेक्षायाः प्रतीतिरेव न स्यात्, प्रत्युतोपमैव द्योतिता भविष्यति। अथवा—इवशब्दस्य 'रोद्धुम्' इत्यनेन सम्बन्धो विज्ञेयः। अतः इवशब्दस्य प्रयोगोऽत्र सर्वथा युक्त एवेत्यवगन्तव्यम्। अत्र निरन्तरमेघोन्नमने विन्ध्यायमानत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः। 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः।

समासः—अम्बूनि मुञ्चन्तीति–अम्बुमुचः (उपपदसमासः), तेषाम्–अम्बुमुचाम्। विन्ध्यमिवाचरन्तमिति विन्ध्यायमानम्।

व्याकरणम्—दृषदः उपरि उपरि 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८।१।१७) इति द्विर्भावे तद्योगाद् द्वितीया। यथाह वामनः—'उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया' इति।

हिन्दी—बड़ी-बड़ी चट्टानों के ऊपर चारों तरफ से उठते हुए (अत एव) मेघ समूहों से सूर्य के मार्ग को फिर से रोकने के लिए मानों विन्ध्याचल के समान आचरण करते हुए (रैवतक पर्वत को श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा)।

टिप्पणी—विन्ध्याचल की यह कथा पुराणों में अनेक प्रकार से वर्णित है। कहते हैं, एक बार विन्ध्याचल को यह ईर्ष्या हुई कि 'सूर्य सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करता है तथा उस पर देवता भी निवास करते हैं। मेरी न तो सूर्य परिक्रमा करता है और न मुझ पर देवता ही बसते हैं।' अतः उसने सूर्य के मार्ग को रोकने के लिए अपने शरीर को बढ़ाना आरम्भ किया। सूर्य का प्रकाश रुक जाने से चारों तरफ हाहाकार मच गया। तब देवता काशी निवासी अगस्त्य ऋषि के पास जाकर बोले—महाराज! आपका शिष्य विन्ध्याचल सूर्य के मार्ग को रोक रहा है, आप उसे रोकें। तब प्राणियों के हित-दृष्टि से अगस्त्य काशी छोड़कर दक्षिण को रवाना हुए और रास्ते में जैसे ही विन्ध्याचल उनके सामने आया कि उसने ऋषि जी को जमीन पर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तब ऋषि अगस्त्य बोले कि मैं दक्षिण को जा रहा हूँ जब तक मैं लौटकर न जाऊँ इसी तरह पड़ा रहना क्योंकि मैं वृद्ध हो गया हूँ इसलिए तुम्हारी चोटियों पर चढ़ने में परेशानी होती है। विन्ध्याचल ने स्वीकार कर लिया और ऋषि दक्षिण को चले गये तथा वहीं रहने लगे फिर वापिस लौटकर नहीं आये। तभी से विन्ध्याचल भी उसी प्रकार पड़ा हुआ है। यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध हो गयी है—'न मुनिः पुनरायाति न चाऽसौ वर्धते गिरिः' इति ॥ २ ॥

अपरं कीदृशमित्याह—

क्रान्तं रुचा काञ्चनवप्रभाजा नवप्रभाजालभृतां मणीनाम्।
श्रितं शिलाश्यामलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः ॥ ३ ॥

अन्वयः—नवप्रभाजालभृतां मणीनां काञ्चनवप्रभाजा रुचा क्रान्तम् (पुनः) शिलाश्यामलताभिरामम् (तथा) आमन्त्रितषट्पदाभिः लताभिः श्रितम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श)।

बालबोधिनी—नवप्रभाजालभृतां = नूतनकान्तिसमूहधारिणाम्। मणीनां = गैरिकमनःशिलादिमणीनाम्। काञ्चनवप्रभाजा = सुवर्णतटप्रसूतया; सुवर्णसानुप्रसूतया। रुचा = कान्त्या। क्रान्तम् = व्याप्तम्। पुनः—शिलाश्यामलताभिरामं = मेचकोपलकृष्णतारम्यम्; इन्द्रनीलमणिश्यामतामनोहरं वा। तथा—आमन्त्रितषट्पदाभिः = आहूतभ्रमराभिः। लताभिः = वल्लीभिः। श्रितं = व्याप्तम्। (असौ = श्रीकृष्णः रैवतकं गिरिं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः)। यमकालङ्कारः यदुक्तं मम्मटेन काव्यप्रकाशे—'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्।' इति। इतः परं द्वयन्तरं यमकं वक्ष्यति।

कोशः—'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। 'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः। द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्ग-षट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः।

समासः—प्रभायाः जालानि प्रभाजालानि (ष० त०): नवानि च तानि प्रभाजालानि नवप्रभाजालानि (क० धा०) तानि बिभ्रति नवप्रभाजालभृतः (उपपदसमासः) तेषाम्—नवप्रभाजालभृताम्। काञ्चनस्य वप्रं काञ्चनवप्रम् (ष० त०) तत् भजते इति काञ्चनवप्रभाक् (उपपदसमासः) तेन—काञ्चवप्रभाजा। शिलानां श्यामलता शिलाश्यामलता (ष० त०) तया अभिरामम् (तृ० त०) शिलाश्यामलताभिरामम्। आमन्त्रिताः षट्पदाः याभिस्ताभिः—आमन्त्रितषट्पदाभिः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—काञ्चनवप्रभाजा—काञ्चनवप्र + भज् + ण्विः 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति ण्वि।

हिन्दी—नवीन प्रभा समूह वाले रत्नों के शिखरों पर फैली हुई कान्ति से युक्त तथा चट्टानों (या इन्द्रनील मणियों) की कृष्णिमा से मनोहर एवं (पुष्प रस से) भ्रमरों को निमन्त्रित (अपनी ओर आकृष्ट) करती हुई लताओं से [युक्त (रैवतक पर्वत को श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा) ॥ ३ ॥

अन्यत्कीदृशमित्याह—

सहस्रसङ्ख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्।
विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—सहस्रसङ्ख्यैः शिरोभिः गगनं (सहस्रसङ्ख्यैः) पादैः भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्, विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरम् साधु हिरण्यगर्भम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श)।

बालबोधिनी—सहस्रसङ्ख्यैः, = सहस्रसङ्ख्याकैः, अनेकसङ्ख्यैरित्यर्थः। शिरोभिः=शिखरैः। पक्षान्तरे-शिखरैः=शीर्षैः। गगनं=आकाशम् (तथा-सहस्रसंख्याकैः) पादैः=प्रत्यन्तपर्वतैः। पक्षान्तरे-पादैः=चरणैः। भुवं=भूमिम्। व्याप्य=अभिव्याप्य। वितिष्ठमानं=अवतिष्ठमानम्; स्थितम्। विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं=नेत्रस्थानस्थितसूर्यचन्द्रमसम्। पक्षान्तरे—नेत्रीकृतार्केन्दुमित्यर्थः। (पुनः कीदृशम्) साधु=सत्यम्। हिरण्यगर्भं=ब्रह्माणमिवेत्युत्प्रेक्षा। साधुहिरण्यगर्भं=शोभनसुवर्णमध्यम्, ('असौ गिरिं रैवतकं ददर्श' इति पूर्वेणान्वयः)। ब्रह्मणो सहस्रं शिरांसि, सहस्रं पादाश्च सन्ति। चक्षुषी सूर्यचन्द्रमसौ उक्तं हि वेदे—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।' (यजु० अ० ३, मं० १) इति।

'यथाऽग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणं क्षितिः।

सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥ इति च।

श्लेषश्लिष्टोत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'पादो ब्रध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वते। चरणे च मयूखे च' इति मेदिनी।

समासः—सहस्रम् सङ्ख्या येषां तैः सहस्रसङ्ख्यैः (ब० व्री०)। विलोचनयोः स्थानं विलोचनस्थानम् (ष० त०) तत्र गतौ उष्णरश्मिनिशाकरौ यस्य स तम्—विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरम् (ब० व्री०)। साधु च तत् हिरण्यं च साधुहिरण्यम् (क० धा०) तत् गर्भे यस्य स तम् साधुहिरण्यगर्भम् (ब० व्री०)। अन्यत्र 'साधु' इति पृथक् पदम्, सत्यमित्यर्थेऽव्ययमिदम्। अथवा समासे हिरण्यगर्भस्य विशेषणमेव। हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः, तम् हिरण्यगर्भम् (ष० त०)।

व्याकरणम्—व्याप्य=वि+आङ्+आप्लृ+क्त्वा—ल्यप्। वितिष्ठमानम्-वि—स्था—तिष्ठ 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदे शानच्।

हिन्दी—सहस्रों शिखरों से आकाश को तथा सहस्रों पादों से पृथिवी को व्याप्त करके स्थित तथा सूर्य और चन्द्रमा को नेत्र रूप में धारण किये हुए। (अत एव—) सहस्रों मस्तकों से आकाश को तथा सहस्रों चरणों से पृथिवी को व्याप्त करके स्थित तथा सूर्य चन्द्र नेत्रवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के समान, सुवर्ण की खानोंवाले रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा। तुलना 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इति॥ ४॥

पुनः कीदृशमित्याह—

क्वचिज्जलापायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि ।
अभ्राणि बिभ्राणमुमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानमिव स्मरारिम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—क्वचित् जलापायविपाण्डुराणि (अत एव—) धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि अभ्राणि बिभ्राणम् (अत एव—) उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानं स्मरारिम् इव (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श) ।

बालबोधिनी—क्वचित् = कस्मिंश्चित्प्रदेशे । जलापायविपाण्डुराणि = तोयापगमशुभ्राणि (अत एव—) धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि = क्षालितोत्तरासङ्गवस्त्रसमानकान्तीनि । अभ्राणि = मेघान् । बिभ्राणं = दधानम् । उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानम् = पार्वतीशरीरसम्पर्कैकदेशस्थितभसितम् । स्मरारिमिव = मदनशत्रुमिव, हरमिवेत्यर्थः । स्थितमिति शेषः (असौ गिरिं रैवतकं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः) उपमालङ्कारः ।

कोशः—'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा । संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । 'उमा कात्यायनी गौरी काली हैमवतीश्वरी । शिवा भवानी रुद्राणी शर्वाणी सर्वमङ्गला । अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानी चण्डिकाम्बिका' इत्यमरः ।

समासः—जलानाम् अपायः (ष० त०) तेन विपाण्डुराणि जलापायविपाण्डुराणि (तृ० त०) । धौतं च तदुत्तरीयं च धौतोत्तरीयम् (क० धा०) तस्य प्रतिमा छविर्येषां तानि (ब० व्री०) धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि । उमाया अङ्गम् (ष० त०) तेन विभक्तं भस्म यस्य तम् (ब० व्री०) उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानम् स्मरस्य अरिः (ष० त०) तम्—स्मरारिम् ।

व्याकरणम्—बिभ्राणम्—भृञ् + कर्तरि शानच् ।

हिन्दी—किसी-किसी भागमें जल बरस जाने से शुभ्र वर्ण वाले अत एव धुले हुए दुपट्टे के समान (शुभ्र) कान्ति वाले मेघों को धारण करते हुए (अत एव) पार्वती के स्पर्श से अलग किये हुए भस्म वाले शिवजी के समान स्थित रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा ॥ ५ ॥

अपरं कीदृशमित्याह—

छायां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चिच्चटुलालसानाम् ।
कुर्वाणमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां जलजातपत्रैः ॥ ६ ॥

अन्वयः—निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चिच्चटुलालसानां विहङ्गमानाम् उत्पिञ्जलजातपत्रैः जलजातपत्रैः छायां कुर्वाणम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श)

बालबोधिनी—निजस्त्रीचटुलालसानां = स्वसहचरीप्रियवचनलोलुपानाम् । मदेन=मकरन्दपानोत्थक्षीबतया । किञ्चिच्चटुलालसानां=ईषच्चपलमन्थराणाम् । विहङ्गमानां हंसादिपक्षिणाम् । उत्पिञ्जलजातपत्रैः=उत्पिञ्जरीभूतदलैः, ऊर्ध्वं-कपिशीभूतपर्णैः । 'उत्' शब्द ऊर्ध्वार्थः । पिञ्जरमेव पिञ्जलम् । रलयोरभेदः । जलजातपत्रैः=कमलच्छत्रैः । छायाम्=अनातपम् । कुर्वाणं=विदधानम् । (असौ गिरिं रैवतकं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः) । एतेन महती कमलकारसमृद्धिर्व्यंज्यते । यमकरूपकयोः सङ्करः ।

कोशः—'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि च' इति यादवः । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । 'खगे विहङ्गविहगविहङ्गमविहायसः । शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः ।

समासः—निजाः च ताः स्त्रियः (क० धा०) तासां चटवः (ष० त०) तेषु लालसाः (स० त०) तेषाम्—निजस्त्रीचटुलालसानाम् । चटुलाश्च ते अलसाश्च (क० धा०) तेषाम्—चटुलालसानाम् (विशेषणसमासः) । उत्पिञ्जलानि जातानि—उत्पिञ्जलजातानि (विशेषणसमासः) । जलजैरेव आतपत्रैः जलजातपत्रैः (रूपक-समासः) ।

व्याकरणम्—कुर्वाणम्—डुकृञ् करणे+शानच् ।

हिन्दी—अपनी स्त्रियों के प्रिय वचनों में लोलुप तथा मद से कुछ चञ्चल तथा अलसाये हुए पक्षियों के ऊपर (मुर्झाने से) पीले पड़े हुए (अथवा किसी के मत में पिंजड़े बने हुए) पत्तों वाले कमल रूपी छाया करते (रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा) ॥ ६ ॥

पुनः कीदृशमित्याह—

स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठानुर्वीरुहः श्लिष्टतनूनहीन्द्रैः ।
प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् रुद्राननेकानिव धारयन्तम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान् अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून् प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् (अत एव) अनेकान् रुद्रान् इव (स्थितान्) उर्वीरुहः धारयन्तम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श) ।

बालबोधिनी—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान्=प्रकाण्डस्थितमनोज्ञमयूरान् । अन्यत्र—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान्=अंसस्थितमनोज्ञश्यामकण्ठान् । अहीन्द्रैः =सर्पश्रेष्ठैः भुजगेन्द्रैः । श्लिष्टतनून्=व्याप्तदेहान् । एकत्र तदावासत्वादन्यत्र तद्-

भूषणत्वाच्चेति भावः। प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान्=वायुवशाच्चालितानेकवल्ल-रीरूपभुजाग्रभागान्। अन्यत्र—प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान्=अभिनयवशाच्चालि-तलतातुल्यभुजाग्रान्। अनेकान्=बहून्। अनन्तानिति पाठेऽसङ्ख्यानित्यर्थः। रुद्रानिव=देवविशेषानिव। स्थितानिति शेषः। उर्वीरुहः=वृक्षान् धारयन्तम्= उद्वहन्तम्। (असौ गिरिं रैवतकं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः)। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'अंसप्रकाण्डयोः स्कन्धः' इति विश्वः। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः' इत्यमरः। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः।

समासः—स्कन्धम् अधिरूढाः स्कन्धाधिरूढाः (द्वि०त०)। उज्ज्वलाश्च ते नीलकण्ठाश्च उज्ज्वलनीलकण्ठाः (क० धा०), स्कन्धाधिरूढाः उज्ज्वलनीलकण्ठाः येषां तान् स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान् (ब० व्री०)। अन्यत्र स्कन्धम् अधिरूढाः उज्ज्वलाः नीलकण्ठाः येषां तान् (ब०व्री०)। श्लिष्टाः तन्वः येषां तान् श्लिष्टतनून् (ब० व्री०)। लताः एव भुजाः (रूपकसमासः) अन्यत्र लताः इव भुजाः लताभुजाः (उपमितसमासः)। अनेकाश्च ते लता-भुजाः अनेकलताभुजाः (क० धा०), प्रनर्तितानि अनेकलताभुजानाम् अग्राणि येषां तान् (ब० व्री०) प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान्।

व्याकरणम्—धारयन्तम्—धृ + णिच् + शतृ।

हिन्दी—कन्धों पर स्थित सुन्दर गले वाले तथा सर्पों से व्याप्त शरीर वाले एवं अभिनय के कारण प्रकम्पित लता तुल्य भुजाग्र वाले मानो रुद्रों के समान स्थित (उन) स्कन्धों (कुहों या गुद्दों) पर बैठे हुए सुन्दर और वायु के कारण कम्पितलतारूप भुजाग्रवाले वृक्षों को धारण करते हुए (रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा)॥ ७॥

पुनः किं भूतमित्याह—

विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः।
नवोलपालङ्कृतसैकताभाः शुचीरपः शैवलिनीर्दधानम्॥ ८॥

अन्वयः—विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः लोध्रगौरीः कपोलभित्तीः इव (स्थिताः, तथा-) नवोलपालङ्कृतसैकताभाः शुचीः शैवलिनीः अपः दधानम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श)।

बालबोधिनी—विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः=लम्बमाननीलकमलकर्णाभरणाः लोध्रगौरीः=लोध्ररजोगौरवर्णाः। क्वचिद् 'रोध्रगौरीः' इति पाठः, अर्थस्तु समान

एव। कपोलभित्तीः=स्त्रीणां गण्डस्थलीरिव स्थिता इति शेषः। तथा नवोलपालङ्कृतसैकताभाः=नवीननीलतृणभूषितपुलिनकान्तीः, नूतनवल्वजतृणशोभितसैकतरुचीः। शुचीः=शुद्धाः शैवलिनीः=शैवालयुक्ताः। अपः=जलानि। दधानम्=उद्वहन्तम्। (असौ गिरिं रैवतकं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः) उपमालङ्कारः।

कोशः—'उलपा वल्वजाः प्रोक्ताः' इति विश्वः। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः।

समासः—विलम्बीनि नीलोत्पलानि एव कर्णपूराः यासां ताः विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः (ब० ब्री०)। लोध्रेण गौरीः ताः लोध्रगौरीः (तृ० त०)। नवं च तदुलपं नवोलपम् (क० धा०) तेन अलङ्कृतं यत् सैकतम् (तृ० त०) तस्य आभा इव आभा यासां ताः नवोलपालङ्कृतसैकताभाः।

व्याकरणम्—लोध्रगौरी—लोध्रगौर+ङीष् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति। दधानम्—डुधाञ्+शानच्।

हिन्दी—लटकते हुए नीलकमलरूपी कर्णभूषणों वाली, लोध्र के पुष्प पराग से गौरवर्ण (स्त्रियों के) कपोलस्थल के समान स्थित और नवीन उलपों से अलंकृत सैकत के समान कान्ति वाले सेवाल युक्त निर्मल जल को धारण करते हुए रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा॥ ८॥

अपरं कथम्भूतमित्याह—

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम्।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम्॥ ९॥

अन्वयः—राजीवराजीवशलोलभृङ्गं तरूणां ततिभिः उष्णं मुष्णन्तम्, कान्तालकान्ताः सुराणां ललनाः रक्षोभिः अक्षोभितम् उद्वहन्तम् (असौ गिरिं रैवतकं ददर्श)।

बालबोधिनी—राजीवराजीवशलोलभृङ्गम्=पद्मपङ्क्तिवशीभूतचञ्चलभ्रमरम्। तरूणां=वृक्षाणाम्। ततिभिः=पङ्क्तिभिः, समूहैः। उष्णम्=आतपम्। मुष्णन्तम्=अपहरन्तम्। कान्तालकान्ताः=मनोरमचूर्णकुन्तलाग्राः। सुराणां=देवानाम्। ललनाः=स्त्रियः, अप्सरसः। रक्षोभिः=राक्षसैः अक्षोभितम्=अनभिभूतं यथा स्यात्तथा। उद्वहन्तं=निर्भ्राणम्। केचित्तु ललना उद्वहन्तम्। इति। तथा रक्षोभिः=राक्षसैः। अक्षोभितम्=अनुपद्रुतम्। असेव्यमित्यर्थः। एवं पृथग्विशेषणम् स्वीकृत्यार्थमाविष्कुर्वन्ति। (असौ=श्रीकृष्णः, रैवतकं=रैवतकाख्यं

गिरिं=पर्वतम्, ददर्श = अपश्यत्, इति पूर्वेणान्वयः)। यमकालङ्कारः। इति कुलकम्।

कोशः—'कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जुमञ्जुलम्' इत्यमरः। 'अलकाश्चूर्णकुन्तला.' इत्यमरः। 'राक्षसः कोणपः क्रव्यात्क्रव्यादोऽस्रप आशरः। रात्रिञ्चरो रात्रिचरः कर्बुरो निकषात्मजः।। यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुराक्षसी' इत्यमरः।

समासः—राजीवानां राजयः इति राजीवराजयः (ष० त०) तासां वशाः लोलाः भृङ्गाः यस्मिन् तम्—राजीवराजीवशलोलभृङ्गम् (ब० व्री०)। कान्ताः अलकान्ताः यासां ताः—कान्तालकान्ताः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—उद्वहन्तम्—उद् + वह + शतृ।

हिन्दी—कमल श्रेणियों के वशीभूत तथा चञ्चल भ्रमरों वाले एवं वृक्षसमूहों से धूप को दूर करते हुए और मनोहर केशाग्र वाली देवाङ्गनाओं को राक्षसों के उपद्रव से रहित धारण करते हुए (अथवा देवाङ्गनाओं को धारण करते हुए तथा राक्षसों से अनुपद्रवित अर्थात् राक्षसों से अनाश्रित) रैवतक पर्वत को भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा ॥ ९ ॥

न तु स्वल्पोऽयं रैवतकपर्वतः कथमियद्वर्ण्यते इति शङ्कां निरस्यति—

मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः ॥ १० ॥

अन्वयः—मुरारेः मुदे अमरैः सुमेरोः शृङ्गैः आनीय उपचितस्य यस्य उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः उद्दामगिरां कवीनां मृषोद्याः न भवन्ति।

बालबोधिनी—मुरारेः=श्रीकृष्णस्य। मुदे=सन्तोषाय, हर्षाय। अमरैः=देवैः। सुमेरोः=हेमाद्रेः। शृङ्गैः=शिखरैः। आनीय=सामानीय। शृङ्गाणीति भावः। उपचितस्य=वर्धितस्य। आनीतैः, शृङ्गैरुपचितस्येत्यर्थः। उपचये करणानां शृङ्गाणामर्थादानयकर्मत्वम्। यस्य=रैवतकपर्वतस्य। उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः=औन्नत्यरामणीयकविशेषाः। उद्दामगिरां=प्रगल्भवाचाम्। कवीनां=काव्यकर्तॄणाम्। मृषोद्याः=मिथ्यावाच्याः, मिथ्याकथनीयाः। न भवन्ति=न जायन्ते। कविभिरलीका नोच्यन्ते। मेरुशृङ्गेषु सर्वगुणसम्भवादिति भावः। अत्र सुमेरुशृङ्गासम्बन्धेपि तत्सम्बन्धवर्णनादतिशयोक्तिरलङ्कारः।

कोशः—'मेरुः सुमेरुः हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः इत्यमरः।

समासः—उच्छ्रायश्च सौन्दर्यं चेति-उच्छ्रायसौन्दर्ये (इतरेतरद्वन्द्वः), तयोः गुणाः (ष० त०) उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः । मृषा उद्यन्ते इति मृषोद्याः ।

व्याकरणम्—मृषोद्याः—'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' (३।१।११४) इत्यनेन वदेः कर्मणि क्यबन्तो निपातः । उच्छ्रायः—उद् + श्रि + घञ् 'श्रिणी भुवोऽनुपसर्गे' (३।३।२४) इति घञ् । कवीनामिति कर्तरि षष्ठी ।

हिन्दी—भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए देवताओं के द्वारा सुमेरु के पर्वत शृङ्गों को लाकर उनसे बढ़ाये गये जिस रैवतक पर्वत के ऊँचाई तथा सौन्दर्य की विशेषताएँ प्रगल्भ वक्ता कवियों के द्वारा झूठे ही नहीं (किन्तु यथार्थ ही) कही जाती हैं ॥ १० ॥

अथ रैवतकस्य रत्नप्राचुर्यमाह—

यतः परार्घ्यानि भृतान्यनूनैः प्रस्थैर्मुहुर्भूरिभिरुच्छिखानि ।
आढ्यादिव प्रापणिकादजस्रं जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः ॥ ११ ॥

अन्वयः—लोकः परार्घ्यानि अनूनैः भूरिभिः प्रस्थैः भृतानि उच्छिखानि अमितानि रत्नानि यतः आढ्यप्रापणिकात् इव अजस्रं जग्राह ।

बालबोधिनी—लोकः=जनः । परार्घ्यानि=श्रेष्ठानि । परार्घ्यानीत्यस्य स्थाने 'महार्घाणि' इति पाठे बहुमूल्यानीत्यर्थः । अनूनैः महद्भिः, महाप्रमाणैः । भूरिभिः=प्रभूतैः । प्रस्थैः=सानुभिः । अन्यत्र—प्रस्थैः= लोहगर्यैर्मानविशेषैः । भृतानि=सम्भृतानि, ऊढानि । अन्यत्र—भृतानि=मितानि । उच्छिखानि=उद्गस्मीनि । अमितानि=अपरिमितानि । रत्नानि=मणीन् । यतः=रैवतकपर्वतात् । आढ्यात्=धनिकात् । प्रापणिकात्=वणिजः । इव=यथा । अजस्रं=मुहुः । जग्राह=आददे । उपमालङ्कारः ।

कोशः—प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु । पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरि च' इत्यमरः । 'क्लीबे प्रधानं प्रमुखप्रवेकानुत्तमोत्तमाः । मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रवर्होऽनवरार्ध्यवत् । परार्घ्याग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्' इत्यमरः । 'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः । 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमरः । 'पण्याजीवा; प्रापणिका वैदेहा नैगमाश्च ते' इति वैजयन्ती ।

समासः—उद्गता शिखाः येषां तानि उच्छिखानि (ब० व्री०) । प्रपणः—व्यवहारः प्रयोजनमस्येति प्रापणिकः । न मितानि अमितानि (नञ् त० पु०) ।

व्याकरणम्—प्रापणिकः=प्रपण + ठन् 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९)। जग्राह—ग्रह उपादाने + लिट्-तिप्-णल्।

हिन्दी—(रैवतक पर्वत के समीप रहने वाले) मनुष्य वहाँ से बहुमूल्य बड़ी-बड़ी चोटियों के द्वारा धारण किये हुए, ऊपर को निकलती हुई कान्तियों वाले अपरिमित रत्नों को उसी प्रकार बार-बार (या सदा) प्राप्त करते थे, जिस प्रकार बहुमूल्य बड़े-बड़े पत्थरों (तोलने के पात्र विशेषों) से तोले गये ऊपर निकलती हुई प्रभाओं वाले, असंख्य रत्नों को धनिक व्यापारी से ग्राहक लोग बार-बार प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता ॥ १२ ॥

अन्वयः—आसन्नम् (अत एव) उदग्रतापं रविं दधाने अपि अरविन्दधाने यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा (अत एव) मत्ता भृङ्गावलिः न अखिद्यत।

बालबोधिनी—आसन्नं=सन्निहितम्, निकटस्थम्। (अत एव–) उदग्रतापं=दुःसहातपम्; उल्बणभासम्। रविं=सूर्यम्। दधाने=बिभ्रति। अपीति विरोधे। अरविन्दधाने=रविं न दधाने इति विरोधः। अरविन्दधाने=पद्मनिधाने, इत्यर्थकरणेन तत्समाधानम्। यस्य=रैवतकस्य=पर्वतस्य। तटे=रोधसि। निपीतरसा=नितरां पीतमकरन्दा। नमत्तामरसा=नम्रदरविन्दा। (अत एव–) मत्ता=क्षीवा। भृङ्गावलिः=भ्रमरपङ्क्तिः। नाखिद्यत=न खिन्ना। अत्यन्तसूर्यसन्निधानेऽपि कमलाकरविहारान्मधुकरास्तापं नापुरित्यर्थः शब्दश्लेषमूलविरोधालङ्कारः।

कोशः—'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्। सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्। पङ्केरुहं तामरसं सरसीरुहम्' इत्यमरः।

समासः—उदग्रः तापः यस्य सः (ब० व्री०) तम्—उदग्रतापम्। अरविन्दानां धानम् (ष० त०) तस्मिन्—अरविन्दधाने (ष० त०)। नमन्ति तामरसानि यया सा नमत्तामरसा (ब० व्री०)। नितरां पीतो रसो यया सा निपीतरसा (ब० व्री०)। भृङ्गानाम् आवलिः भृङ्गावलिः (ष० त०)।

व्याकरणम्—धीयते अस्मिन् इति धानम्—अधिकरणे ल्युट्। अखिद्यत—दैत्यार्थकात् दैवादिकात् खिद् धातोः कर्तरि लङ् त।

हिन्दी—(इस पर्वत के अत्यन्त ऊँचा होने से) समीप में स्थित (अत एव) तीव्र सन्ताप वाले सूर्य को धारण करने वाले, तथा कमलों के

खजाने (उत्पत्ति स्थान) जिस रैवतक पर्वत के तट पर पुष्परस को पीये हुए तथा अपने भार से कमलों को झुकाने वाले (अत एव) मदोन्मत्त भ्रमरसमूह (सूर्य के तीक्ष्ण सन्ताप से भी) खिन्न नहीं होते थे ।। १२ ।।

पुनः कीदृश इत्याह—

यत्राधिरूढेन महीरुहोच्चैरुन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा ।
सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः ॥ १३ ॥

अन्वयः—यत्र राजतगण्डशैलः उन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा अधिरूढेन उच्चैः महीरुहा सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ ।

बालबोधिनी—यत्र=रैवतकपर्वते । राजतगण्डशैलः=रूप्यस्थूलगलितपाषाणः । उन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा=विकसितप्रसूननेत्रदशशतयुक्तेन । अधिरूढेन=उपरि स्थितेन । उच्चैः=उन्नतेन । महीरुहा=वृक्षेण । सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ल-लीलां=शक्राधिरूढैरावतशोभाम् । दधौ=बभार । ऐरावतस्य धावल्यादिति भावः । इह हस्तिमल्लो राजगण्डशैलस्य, सुराधिपः (शक्रः) महीरुहस्य, पुष्पाणां चाक्षिसहस्रमुपमानम् । अत्रान्यस्य लीलां कथमन्यो दधाविति हस्तिमल्लस्य लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ।

कोशः—'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः । 'हस्तिमल्लोऽभ्रमातङ्गे हस्तिमल्लो विनायके' इति विश्वः ।

समासः—रजतस्य विकारो राजतः, राजतश्चासौ गण्डशैलश्च राजतगण्डशैलः (क० धा०) । उन्निद्राणि च तानि पुष्पाणि उन्निद्रपुष्पाणि (क० धा०) तानि अक्षीणि इव (उपमितसमासः) उन्निद्रपुष्पाक्षीणि तेषां सहस्रं भजतीति (उपपद-समासः) तेन—उन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा । सुराधिपेन अधिष्ठितः सुराधिपाधिष्ठितः (तृ० त०) स चासौ हस्तिमल्लः (क० धा०) सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्लः, तस्य लीला (ष० त०) ताम् सुराधिपाधिष्ठित-हस्तिमल्ललीलाम् ।

व्याकरणम्—राजत—रजत+अञ् 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४) इति । दधौ—डुधाञ् धारण-पोषणयोः इति धातोः लिट् तिप्—णल् 'आत औ णलः' (७।१।३४) इति । णल औकारादेशः ।

हिन्दी—जिस रैवतक पर्वत पर पहाड़ से गिरे हुए रुपहले चट्टान ने खिले हुए पुष्परूपी सहस्र नेत्रवाले तथा (अपने) ऊपर स्थित ऊँचे वृक्ष से

सहस्र नेत्रधारी इन्द्र से अधिष्ठित ऐरावत हाथी की शोभा को धारण किया। (अर्थात् खिले हुए फूलों वाले वृक्ष से वह चट्टान, इन्द्र जिस पर विराजमान हैं उस ऐरावत हाथी के समान शोभित होता था) ॥ १३ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥ १४ ॥

अन्वयः—गरुडाग्रजेन विभिन्नवर्णाः सूर्यस्य रथ्याः यत्र वंशकरीरनीलैः रत्नैः परितः स्फुरन्त्या रुचा पुनः स्वां रुचम् आनिन्यिरे।

बालबोधिनी—गरुडाग्रजेन=अरुणेन। विभिन्नवर्णाः=अन्यथाकृतवर्णाः। अरुणिमानमापादिता इत्यर्थः। सूर्यस्य=सूर्यसम्बन्धिनः रथ्या=अश्वाः। यत्र= रैवतकपर्वते। वंशकरीरनीलैः=वंशाङ्कुरश्यामैः। रत्नैः=मणिभिः मरकतै- रित्यर्थः। परितः=सर्वतः। स्फुरन्त्या=व्यापिन्या। रुचा=स्वप्रभया। पुनः= भूयः। आनिन्यिरे=आनीताः, प्रापिताः। अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः। रथ्यानां स्वगुणपरित्यागेन गरुडाग्रजगुणग्रहणात्। पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुण- ग्रहणादपरस्तद्गुणस्तदुपजीवीति—सजातीययोः सङ्करः। तद्गुणस्य स्वरूपं साहित्यदर्पणे इत्थं प्रतिपादितम्—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः' इति। तेन रैवतकस्य सूर्यमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं वस्तु व्यज्यते' इति।

कोशः—'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः। 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपि- र्गरुडाग्रजः' इत्यमरः।

समासः—गरुडस्य अग्रजः (ष० त०) तेन—गरुडाग्रजेन। विभिन्नः वर्णो येषां ते विभिन्नवर्णाः (ब० व्री०)। वंशकरीराणि एव नीलानि तैः वंशकरीर- नीलैः (उपमितसमासः)।

व्याकरणम्—रथ्याः—रथं वहन्तीति रथ्याः, रथ+यत् 'तद्वहति रथयुग- प्रासङ्गम्' (४।४।७६) इति। आनिन्यिरे—आङ्+णीञ् प्रापणे इति धातोः कर्मणि लिट्। नयतेः द्विकर्मकात् प्रधाने कर्मणि लिट्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादी- नाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्।

हिन्दी—सूर्य के सारथि अरुण के द्वारा परिवर्तित रङ्गवाले (अर्थात् कालिमा को प्राप्त हुए) सूर्य के घोड़े, जिस रैवतक पर्वत पर बाँसों के कोपलों के समान् श्यामवर्ण मरकत (पन्ना) मणियों से अपनी कान्ति हरी

तिमा (हरे रङ्ग) को पुनः करा दिये गये। अर्थात्—सूर्य के घोड़े पुनः हरे हो गये॥ १४॥

पुनस्तमेव वर्णयति—

यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिः न समुन्नमद्भिः।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम्॥ १५॥

अन्वयः—यत्र समुन्नमद्भिः अम्बुवाहैः उज्झिताभिः अद्भिः मुहुः समुन्नम् अविपन्नगानां वनं विषपावकोत्था विपत् न बबाधे।

बालबोधिनी—यत्र=यस्मिन् रैवतकपर्वते। समुन्नमद्भिः=समुत्पतद्भिः। अम्बुवाहैः=मेघैः। उज्झिताभिः=त्यक्ताभिः, वर्षिताभिः। अद्भिः=जलैः। मुहुः=वारं वारम्; पुनः पुनः। समुन्नम्=विलन्नम्, आर्द्रीकृतम्। सिक्तमित्यर्थः। अविपन्नगानाम्=अविगतसर्पाणाम्, सर्पयुक्तानाम्। नगानां=वृक्षाणाम्। वनं=काननम्, समूहं वा। विषपावकोत्था=विषाग्निसमुत्था विषाग्निसमुद्भवा। विपत्=आपत्, दाह इत्यर्थः। न बबाधे=न पीडयामास। नित्यं वृष्टिसम्बन्धाद्विषाग्निक्षोभो वृक्षाणामकिञ्चित्कर इति भावः। 'समुन्नमद्भिः न समुन्नमद्भिः तथा विपन्नगानाम् अविपन्नगानाम्' इत्यत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः।

कोशः—'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः।

समासः—ऊर्ध्वं नमद्भिः उन्नमद्भिः सम्यक् उन्नमद्भिः समुन्नमद्भिः (प्रादिसमासः)। सम्यक् उन्नम् (समासः)। विगताः पन्नगाः येभ्यस्ते विपन्नगाः। (ब० व्री०)। विपन्नगाः न भवन्तीति अविपन्नगाः। विषमेव पावकः विषपावकः (रूपकसमासः) तस्मादुत्तिष्ठतीति विषपावकोत्था।

व्याकरणम्—समुन्नम्—सम् + 'उन्दीक्लेदने' इति धातोः कर्मणि क्तः, 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' (८।२।५६) इति निष्ठानत्वम्। बबाधे—'बाधृ प्रतिघाते' इति धातोः कर्तरि लिट्—त—एश्।

हिन्दी—जिस रैवतक पर्वत पर ऊपर को उमड़ते हुए बादलों के द्वारा बरसाये गये जल से बार-बार भिगोये हुए सर्पों से युक्त वृक्षों के वन को विष की अग्नि से उत्पन्न विपत्ति (दाह) ने पीड़ित नहीं किया॥ १५॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम्॥ १६॥

अन्वयः—यः उष्णांशुकराभिमर्शात् कार्शानवं धाम फलद्भिः पतङ्गकान्तैः गुणानां संक्रान्तिम् पात्रगुणात् आक्रान्तगुणातिरेकाम् शशंस।

बालबोधिनी—यः=यो रैवतकः। उष्णांशुकराभिमर्शात्=सूर्यकिरणसम्पर्कात्, रविकिरणसंस्पर्शात्। कार्शानवम्=आग्नेयम्। धाम=तेजः। फलद्भिः=वमद्भिः, उद्गिरद्भिः। पतङ्गकान्तैः=सूर्यकान्तैः। दृष्टान्तभूतैरिति भावः। गुणानां=विशेषाणाम्। संक्रान्तिम्=अन्यत्र संक्रमणम्। संक्रान्तगुणानित्यर्थः। पात्रगुणात्=आधारगुणसहकारात्। आक्रान्तगुणातिरेकाम्=प्राप्तकार्यविशेषाधानरूपगुणोत्कर्षाम्। शशंस=प्रतिपादयामास। क्वचित्तु—'शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां संक्रान्तिराक्रान्तगुणान्तरेति' उत्तरार्धे पाठः। तत्र—गुणानां=विशेषाणाम्। यां संक्रान्तिः=स्थानान्तरगमनम्। सा पात्रगुणात्=आधारविशेषाद्धेतोः आक्रान्तगुणान्तरा=अधिष्ठितविशेषान्तरा। भवतीति शेषः। इति शशंस=प्रतिपादयामास। सूर्यतेजसां सर्वत्र संक्रमणसमानेऽपि सूर्यकान्तमणिष्वेव ज्वलनजननदर्शनात् सर्वत्रापि संक्रान्तिकारिणां गुणानामाधारगुणसहकारात् कार्यविशेषाधायकत्वमिति निश्चयोऽत्रैव जायते इत्यर्थः। ततश्च सहकारशक्तिविरहिणी सहजशक्तिरनुपकारिणीति भावः। उक्तं च भारविणा—

प्राप्यते गुणवताऽपि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः।
तत्तथा हि दीयताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन॥ इति।

वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः।

कोशः—'पतङ्गः शलभे शालिप्रभेदे पक्षिसूर्ययोः' इति मेदिनी।

समासः—उष्णाः अंशवः यस्य स उष्णांशुः (ब० व्री०), तस्य कराः उष्णांशुकराः (ष० त०), तेषाम्—अभिमर्शः (ष० त०) तस्मात् उष्णांशुकराभिमर्शात्। कृशानोरिदं कार्शानवम्। पतङ्गः (सूर्यः) कान्तः (पतिः) येषां तैः पतङ्गकान्तैः (ब० व्री०)। पात्रस्य गुणः पात्रगुणः (ष० त०) तस्मात् पात्रगुणात्। आक्रान्तः गुणातिरेकः यस्याः सा ताम्—आक्रान्तगुणातिरेकाम् (ब० व्री०)। 'आक्रान्तगुणान्तरा' इति पाठान्तरे आक्रान्तगुणान्तरो यस्याः सा—आक्रान्तगुणान्तरा (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—शशंस—'शंसु स्तुतौ' इति धातोः लिट्—तिप्—णल्।

हिन्दी—जो रैवतक पर्वत सूर्य की किरणों के सम्पर्क से अग्नि को उगलते हुए (दृष्टान्त भूत) सूर्यकान्तमणियों के द्वारा, 'गुणों का संक्रमण

(अन्यत्र उत्पत्ति) आधार के गुण के साहचर्य से अधिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है' इस बात को कहता था ॥ १६ ॥

सम्प्रति रैवतकमेव विशेषयन् तस्यापूर्वं सौन्दर्यमाह—

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ १७ ॥

अन्वयः—मुहुः दृष्टः अपि स शैलः मुरारेः अपूर्ववत् विस्मयम् आततान (तथाहि–) यत् क्षणे क्षणे नवताम् उपैति तदेव रमणीयतायाः रूपम् ।

बालबोधिनी—मुहुः=असकृत्, पुनः-पुनः । दृष्टोऽपि=अवलोकितोऽपि । सः=पूर्वोक्तः । शैलः=पर्वतः । मुरारेः=श्रीकृष्णस्य । अपूर्ववत्=अदृष्टपूर्ववत् । विस्मयं=कौतुकम् । आततान=अवर्धयत् । अतिरमणीयत्वादिति भावः । (तथाहि–वस्तु) क्षणे-क्षणे=प्रतिक्षणम् । वीप्सायां द्विर्भावः । नवताम्=नूतनताम् । उपैति=उपगच्छति, प्राप्नोति । यत्, तदेव=नवत्वोपगमनमेव । रमणीयतायाः=रामणीयकस्य । रूपम्=स्वरूपम्, लक्षणम् स्वभावो वा । अत्र रमणीयत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विस्मये—हेतुत्वसमर्थनाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

कोशः—'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः ।

समासः—अपूर्वेण तुल्यम्—अपूर्ववत् ।

व्याकरणम्—अपूर्ववत्—अपूर्व+वतिः, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (५।१।११५) इति । आततान—'तनु विस्तारे' इति धातोः लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—(श्रीकृष्ण के द्वारा पहले) अनेक बार देखे हुए भी उस पर्वत ने, पहले कभी नहीं देखे हुए के समान भगवान् श्रीकृष्ण के आश्चर्य को बढ़ाया (यह ठीक ही है क्योंकि–) वस्तु, प्रतिक्षण जो नवीनता को प्राप्त करती है उसका वह नवीनता को प्राप्त करना ही, रमणीयता का स्वरूप है ॥ १७ ॥

अथ कृष्णसारथिर्दारुकस्तमुवाचेत्याह—

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम् ।
उत्कं धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्युवाच ॥ १८ ॥

अन्वयः—अथ गिराम् उच्चारणज्ञः दारुकः उच्चारणत्पक्षिगणाः तटीः दधानं धरं द्रष्टुम् उत्कम् (अत एव–) उत्कन्धरं शौरिम् अवेक्ष्य इति उवाच ।

बालबोधिनी—अथ=श्रीकृष्णविस्मयानन्तरम् । गिरां=वाणीनाम्, वाक्यानाम् । उच्चारणज्ञः=उक्तिकुशलः, वाग्मी । दारुकः=कृष्णसारथिः । उच्चारणत्पक्षिगणाः=उन्नतकूजद्विहगश्रेणीः, उन्नतशब्दायमानविहगसमूहाः । तटीः=रोधांसि । दधानं=बिभ्राणम् । तं=पूर्वोक्तम् । धरं=रैवतकपर्वतम् । द्रष्टुम्=अवलोकयितुम् । उत्कं=उत्सुकम् । (अत एव-) उत्कन्धरम्=उदग्रीवम् । शौरिं=श्रीकृष्णम् । अवेक्ष्य=दृष्ट्वा । इति=एवम्, वक्ष्यमाणप्रकारेण । उवाच=ऊचे, जगाद । न हीङ्गितज्ञोऽवसरे प्रसीदतीति भावः । यमकालङ्कारः ।

कोशः—'महीध्रे शिखरि क्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः । अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । 'स्यादुत्क उन्मनाः' इत्यमरः ।

समासः—उच्चारणं जानातीति उच्चारणज्ञः (उपपद-समासः) । उच्चाः रणन्तः पक्षिगणाः यासु ताः उच्चारणत्पक्षिगणाः (ब० व्री०) । ऊर्ध्वं कन्धरा यस्य स तम्–उत्कन्धरम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—उच्चारणज्ञः—उच्चारण+ज्ञ–कः 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति कप्रत्ययः । उत्कः—'उत्क उन्मनाः' (५।२।८०) इति निपातनात् साधु । उवाच—'वचपरिभाषणे' इति धातोः लिट्–तिप्–णल् ।

हिन्दी—इस (श्रीकृष्ण भगवान् के रैवतक पर्वत को देखकर आश्चर्यान्वित होने) के बाद बोलने में चतुर, भगवान् श्रीकृष्ण का सारथि—दारुक, उच्च स्वर से कूजते हुए पक्षिसमूह वाली तटियों को धारण करने वाले उस रैवतक पर्वत को देखने के लिए उत्कण्ठित, अत एव ऊपर को गर्दन उठाये हुए भगवान् श्रीकृष्ण को देखकर (उनसे) इस प्रकार (३।१९–६८) कहने लगा ॥ १८ ॥

किमुवाचेत्याह—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम् ।
मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ॥१९॥

अन्वयः—आच्छादितायतदिगम्बरम्, उच्चकैः गाम् आक्रम्य संस्थितम् उदग्रविशालशृङ्गम् मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम् एनं नगेशम् उद्वीक्ष्य भुवि कः न विस्मयते ।

बालबोधिनी—आच्छादितायतदिगम्बरम् = आवृतदीर्घकाष्ठाकाशम् अन्यत्र-आच्छादितायतदिगम्बरम्=वासितदीर्घकाष्ठारूपवस्त्रम् । उच्चकैः =

उन्नताम् । गां भुवम् । आक्रम्य=व्याप्य । संस्थितम्=स्थितम् । (तथा-) उदग्रविशालशृङ्गं=उन्नतविस्तीर्णशिखरम् । अन्यत्र—उदग्रविशालशृङ्गम्= उन्नतपृथुविषाणम् । उच्चकैः=उन्नताम् । गां=वृषभम् । आक्रम्य—अधिष्ठाय । संस्थितम्=उपविष्टमित्यर्थः । मूर्ध्नि=शिखरे । अन्यत्र–मूर्ध्नि=शिरसि । स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिः=देदीप्यमानचन्द्रकिरणम् । अन्यत्र–देदीप्यमानचन्द्रकलम् । क्वचित्–स्फुरदित्यस्य स्थाने स्खलदिति पाठान्तरम् । तत्र–स्खलत्तुहिनदीधिति-कोटिम्=परिष्वजच्चन्द्रकलामित्यर्थः । एनं=पुरो दृश्यमानम् । नगेशम्=पर्वत-राजम् । रैवतकमित्यर्थः । अन्यत्र–नगेशं=कैलासनाथं शिवं च । उद्वीक्ष्य=समव-लोक्य । भुवि—पृथिव्याम् । कः=को जनः । न विस्मयते = न चित्रीयते । सर्वोऽपि विस्मयते इत्यर्थः । अत्र प्राकरणिकार्थमात्रपर्यवसिताभिधाव्यापारेणापि शब्देनार्थान्तरधीकृद्ध्वनिरित्यवगन्तव्यम् । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया ॥ इति ॥

वसन्ततिलका वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ।

कोशः—'शृङ्गं विषाणे शिखरे' इति विश्वः । 'गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतिः । अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः । 'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत् । वड्रोरुविपुलम्' इत्यमरः ।

समासः—दिशोऽम्बरं चेति दिगम्बराणि (इतरेतरद्वन्द्वः) आच्छादितानि दिगम्बराणि येन स तम्—आच्छादितदिगम्बरम् । (ब० व्री०) । अन्यत्र—दिगेव अम्बरम्—दिगम्बरम् (रूपकसमासः) । आच्छादित दिगम्बरं येन स तम्—आच्छादितदिगम्बरम् (ब० व्री०) । सम्यक् स्थितः संस्थितः तम्–संस्थितम् (प्रादिसमासः) । उदग्राणि विशालानि च शृङ्गाणि यस्य स तम्–उदग्रविशाल-शृङ्गम् (ब० व्री०) । अन्यत्र–उदग्रे विशाले च शृङ्गे यस्य स तम्–उदग्र-विशालशृङ्गम् (ब० व्री०) । तुहिनाः दीधितयः यस्य स तुहिनदीधितिः (ब० व्री०), स्फुरन्ती तुहिनदीधितेः कोटिः यस्य स तम्–स्फुरत्तुहिनदीधिति-कोटिम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—विस्मयते–वि + ष्मिङ् ईषद् हसने + लट्–त ।

हिन्दी—विशाल दिशाओं तथा आकाश को आच्छादित करनेवाले तथा ऊँची

तथा विशाल चोटियोंवाले तथा जिसके शिखर पर चन्द्रकिरण चमक रही हैं, इस प्रकार के पर्वतराज रैवतक को पृथिवी पर देखकर कौन व्यक्ति आश्चर्य नहीं करता है ? (अर्थात् सभी व्यक्ति आश्चर्य करते हैं ।)

दूसरा अर्थ—द्वितीय अर्थ 'नगेशम्' को द्वयर्थक मानकर होता है—जिन्होंने विशाल दिशारूपी वस्त्र को धारण कर लिया है और ऊँचे तथा विशाल सींगोंवाले (अपने सवारी रूप) बैल पर आरूढ़ होकर स्थित हैं एवं जिनके मस्तक पर चन्द्रमा की कला चमक रही है उन कैलासनाथ शिवजी महाराज को पृथिवी पर देखकर कौन विस्मित नहीं होता है ? अर्थात् सभी विस्मित हो जाते हैं ॥ १९ ॥

पुनः कीदृशोऽयं शैलराज इति वदति—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चाऽस्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

अन्वयः—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ अहिमरुचौ उदयति (तथा विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ) हिमधाम्नि च अस्तं याति अयं गिरिः विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलां वहति ।

बालबोधिनी—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ=अतिदीर्घोन्नतकिरणरूपरज्जौ । अहिमरुचौ=सूर्ये । उदयति=उदयमाने सति (तथा विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ) हिमधाम्नि=चन्द्रमसि चेति समुच्चये । अस्तं याति=अस्तमयमाने । अयं=पुरो दृश्यमानः । गिरिः=रैवतकपर्वतः । विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलां=विलम्बमानकिङ्किणीयुगलवेष्टितगजराजशोभाम् । वहति=धारयति । अत्र—गिरेर्वारणेन्द्र उपमानम्, सूर्यचन्द्रयोर्घण्टाद्वयम्, रश्मीनां च रज्जवः अनेनैव कविना 'घण्टामाघ' इति नाम लब्धम् । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः । एवं सूर्यचन्द्रावस्य कुक्षिसमानकक्षां वहत इति महदौन्नत्यं व्यज्यते । पुष्पिताग्रावृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ।

कोशः—'लीलाकेलिविलासयोः' इति मेदिनी । 'अस्तमदर्शने' इत्यमरः ।

समासः—वितता ऊर्ध्वाश्च रश्मिरज्जवो यस्य तस्मिन्—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ (ब० व्री०) । न हिमाः अहिमाः (नञ् त० पु०), अहिमाः रुचयो यस्य तस्मिन्—अहिमरुचौ (ब० व्री०) हिमानि धामानि यस्य स तस्मिन् हिमधाम्नि (ब० व्री०) । विलम्बि च तद् घण्टाद्वयम्—विलम्बिघण्टाद्वयम् (क० धा०)

तेन परिवारितः (तृ० त०) स चाऽसौ वारणेन्द्रः (क० धा०) तस्य लीला (ष० त०) ताम्—विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।

व्याकरणम्—उदयति—उद्+अय गतौ+शतृ+ङि । याति—या प्रापणे+शतृ+ङि । वहति—वह प्रापणे+लट्—तिप् ।

हिन्दी—लम्बी-लम्बी तथा ऊपर को रस्सी के समान फैलती हुई किरणों वाले सूर्य के उदय होने पर तथा इसी प्रकार के चन्द्रमा के अस्त होते रहने पर यह रैवतक पर्वत नीचे की ओर लटकते हुए दो घण्टाओं से वेष्टित गजराज की शोभा को धारण करता है ।

टिप्पणी—रैवतक पर्वत इतना ऊँचा है कि प्रातःकाल जब एक ओर सूर्य उदय होता है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होता है, तो उस समय दोनों की ऊपर को उठती हुई किरणें रस्सी जैसी प्रतीत होती हैं, तब यह पर्वत उस हाथी के समान शोभित होता है जिसके दोनों ओर दो घण्टियाँ लटक रही हों ।। २० ।।

पुनः कीदृश इत्याह—

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः ।
अचल एव भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः ॥ २१ ॥

अन्वयः—लसमाननवांशुकः यः सहरिताः कनकस्थलीः परितः बिभ्रति, स एष अचलः हरितालसमाननवांशुकः भवान् इव राजते ।

बालबोधिनी—लसमाननवांशुकः=द्योतनशीलनूतनकिरणः । यः = यः पर्वतः । सहरिताः=सदूर्वाः । कनकस्थलीः=काञ्चनभूमीः । परितः=सर्वतः । वहति=धारयति । सः=पूर्वोक्तगुणविशिष्टः । हरितालसमाननवांशुकः=कर्चूर-तुल्यनूतनवासः; आकाशलतासमाननूतनाम्बरो वा । पीताम्बर इति भावः । भवान्—श्रीकृष्णः इव=यथा । राजते=शोभते । यमकोपमयोः सङ्करः । द्रुत-विलम्बितवृत्तम् 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'हरितेति च दूर्वायां हरिद्वर्णयुतेऽन्यवत्' इति विश्वः । 'हरितालं धातुभेदे स्त्री दूर्वाकाशरेखयोः' इति मेदिनी ।

समासः—हरितया सह वर्तमानाः सहरिताः ताः सहरिताः (ब० व्री०) । लसमानाः नवाः अंशवः यस्य सः हरितालसमाननवांशुकः (ब० व्री०) । कनकस्य स्थल्यः (ष० त०) ताः कनकस्थलीः ।

व्याकरणम्—वहति–वह्–लट्–तिप् । कनकस्थलीः—कनक–स्थल + ङीष् 'जानपदकुण्डगोणस्थल' (४।१।४२) इति ङीष् । लसमाननवांशुकः–लसमान-नवांशु + कप् 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति । राजते–राजृ दीप्तौ + लट्–तिप् ।

हिन्दी—चमकती हुई नवीन प्रभावाला जो रैवतक पर्वत दूर्वायुक्त, सुवर्ण-मयी भूमि को चारों ओर धारण करता है, वह यह पर्वत हरिताल के समान (अर्थात् पीतवर्ण) नवीन वस्त्रवाले आपके समान शोभित होता है ।

टिप्पणी—हरिताल—यह एक प्रकार की पीले वर्ण की धातु होती है। (२) एक बेल (लता) जो कि ग्रीष्म ऋतु, प्रायः वैशाख, ज्येष्ठ मास (मई, जून) में बबूल के वृक्ष पर अधिकतर देखने को मिलती है जो कि एकदम पीली होती है, जिसको कहीं अमरबेल तथा कहीं सरगवेल एवं आकाशबेल भी कहते हैं । धातु को भी हरिताल के नाम से पुकारा जाता है । यहाँ दोनों अर्थों में से किसी को भी माना जा सकता है, क्योंकि हरिताल के समान अर्थात् पीतवर्ण नवीन वस्त्र (पीताम्बर) वाले श्रीकृष्ण भगवान् को बताना मात्र अभीष्ट है, धातु या लता को नहीं ॥ २१ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

पाश्चात्त्यभागमिह सानुषु सन्निषण्णाः पश्यन्ति शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् ।
सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानमुत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः ॥ २२ ॥

अन्वयः—इह सानुषु सन्निषण्णाः (जनाः) शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानम् उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः पाश्चात्त्यभागं पश्यन्ति ।

बालबोधिनी—इह = रैवतकाद्रौ । सानुषु = शिखरेषु । सन्निषण्णाः = स्थिताः, सन्निविष्टाः । जना इति शेषः । शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् = निष्कलङ्कातिसघनकिरणनिकरम् । सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानम् = परिपूर्णप्राप्तस्त्रीमुखसादृश्यम् । उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य=अङ्कस्थितमृगस्य । मृगाङ्कमूर्तेः=चन्द्रस्य पाश्चात्त्यभागं=पृष्ठभागम् । पश्यन्ति=अवलोकयन्ति । पश्चात्त्यभागदर्शनातिशयोक्त्या शैलस्य तादृगौन्नत्यं वस्तु व्यज्यते । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' । 'अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः ।

समासः—शान्तं मलं यस्य तत्–शान्तमलम् (ब० व्री०), शान्तमलमत एव सान्द्रतरमंशुजालं यस्य सः (ब० व्री०), तम्–शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् । ललनायाः लपनम् (ष० त०) तस्य उपमानम् (ष० त०) ललनालपनोपमानम्, सम्पूर्णं लब्धं ललनालपनोपमानं येन सः (ब० व्री०) तम्–सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानम् । उत्सङ्गं सङ्गच्छते इति–उत्सङ्गसङ्गी, उत्सङ्गसङ्गी हरिणो यस्य (ब० व्री०) तस्य उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य । मृगाङ्का मूर्तिर्यस्य (ब० व्री०) तस्य मृगाङ्कमूर्तेः ।

व्याकरणम्—पाश्चात्त्य—'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' (४।२।९८) इति पश्चाच्छब्दात्त्यक्, 'किति च' (७।३।११८) इति वृद्धिः । पश्यन्ति—दृशिर् प्रेक्षणे+लट्–झि ।

हिन्दी—यहाँ (रैवतक पर्वत पर) शिखरों पर बैठे हुए लोग, कलङ्करहित अत एव सघन किरणसमूहवाले तथा पूर्ण रूप से ललनाओं के मुख की उपमाओं को प्राप्त करनेवाले गोद (मध्य भाग) में स्थित हरिणवाले चन्द्रमा के पिछले भाग को देखते हैं ॥ २२ ॥

पुनश्च कीदृशोऽयमित्याह—

कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यो मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः ।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र ॥ २३ ॥

अन्वयः—अत्र निर्झरौघाः पुंवत् उच्चैः भृगुभ्यः ग्राव्णां मूर्ध्नि पातं कृत्वा (अत एव) जर्जराः सन्तः द्याम् (प्रति) उत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणं कुर्वन्ति ।

बालबोधिनी—अत्र=रैवतकपर्वते । निर्झरौघाः=झरसमूहाः पतज्जलपूराः पुंवत्=पुम्भिस्तुल्यम् । उच्चैः=उच्चेभ्यः । भृगुभ्यः=अतटेभ्यः । ग्राव्णां=दृषदाम्, शिलानाम् । मूर्ध्नि=शिरसि । शिलानामुपरीत्यर्थः । पातं कृत्वा=पतित्वा । (अत एव–) जर्जराः=शकलीभूताः द्यां=स्वर्गम् । उत्पतन्तः=उद्गच्छन्तः । स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणं=कामपीडितदेवाङ्गनाशरीरशान्तिम् । कुर्वन्ति=विदधति । अत्र विहितभृगुपातिनामत एव स्वर्गगामिनां पुंसामुपमानता । उक्तमपि—

अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः ।
भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते ।। इति ।

उपमालङ्कारः । उत्प्रेक्षेति केचित् । शालिनी वृत्तम् । 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ।

कोशः—'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः ।

समासः—निर्झराणाम् ओघाः निर्झरौघाः (ष० त०) । ऊर्ध्वं पतन्तः उत्पतन्तः—(प्रादिसमासः) । स्वर्लोकस्य स्त्रियः स्वर्लोकस्त्रियः (ष० त०) स्मरार्ताश्च ताः स्वर्लोकस्त्रियः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रियः (क० धा०) तासां गात्राणि (ष० त०), तेषां निर्वाणम् (ष० त०) तद्—स्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणम् ।

व्याकरणम्—कृत्वा—डुकृञ् + क्त्वा । निर्वाणम्—निर् + वा + क्तः, 'निर्वाणोऽवाते' (७।२।५०) इति नत्वम् । कुर्वन्ति—डुकृञ् करणे + लट्–झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर झरनों के समूह पुरुषों के समान उँचे तट-रहित भागों से बने पत्थरों के ऊपर गिरकर छिन्न-भिन्न होकर स्वर्ग को उछलते (पक्षा० जाते) हुए, कामपीड़ित देवाङ्गनाओं के शरीर के सन्ताप को शान्त करते हैं ।

टिप्पणी—इस रैवतक पर्वत पर उँचे तटरहित भागों से चट्टानों के ऊपर गिरकर तथा छिन्न-भिन्न होकर ऊपर की ओर उछलते हुए जलप्रवाह, कामपीड़ित देवाङ्गनाओं के शरीर के सन्ताप को शीतल जलकणों से उस प्रकार शान्त करते हैं जिस प्रकार अपने वानप्रस्थ धर्म को पालने में असमर्थ पुरुष किसी ऊँचे पर्वत भाग से चट्टान के ऊपर गिरकर छिन्न-भिन्न शरीरवाला होकर स्वर्ग में जाता है तथा स्वर्ग में देवाङ्गनाओं के कामपीड़ित शरीर के सन्ताप को सम्भोगादि के द्वारा शान्त करता है । 'वानप्रस्थ धर्म के पालन करने में असमर्थ मनुष्य को रैवतक पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर अथवा पानी में डूबकर मरने का, आत्महत्याजन्य पाप नहीं लगता और वह पुरुष मरने के बाद स्वर्ग को प्राप्त करता है ।' ऐसा धर्मशास्त्रकारों का मत है ।

यहाँ पर किसी व्याख्याकार ने मल्लिनाथकृत व्याख्या की आलोचना करते हुए लिखा है—'इसी प्रकार 'पुंवत्पातम्' का जो वानप्रस्थ की आत्महत्या

रूप अर्थ उन्होंने (मल्लिनाथजी ने) किया है, यदि यही कवि का अभिप्राय रहा हो तो इस बीभत्सता को कोई भी सहृदय ग्राह्य नहीं कर सकता है। वास्तव में यदि यहाँ 'पुंवत्' शब्द न होता तो अधिक अच्छा होता। रहने पर भी उसका भाव यही है कि ऊँचे झरनों से गिरते हुए जलसमूह मनुष्य जैसे पिण्डाकार दिखाई दे रहे हैं...'इत्यादि।

अब यहाँ यह विचार करना है कि क्या मल्लिनाथ वस्तुतः ऐसे असहृदय हैं जो कि कवि के अभिप्राय को बिना जाने चाहे जिस बीभत्स अर्थ को निकालने लगते हैं, या ऐसा अर्थ कवि को ही अभिप्रेत है—'पुंवत्' में महर्षि पाणिनि के 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११) इस सूत्र से क्रिया की समानता होने पर वति प्रत्यय होता है। अतः झरनों के जल के पत्थरों पर गिरकर छिन्न-भिन्न होकर जो आकाश गमन एवं देवाङ्गनाओं के कामाग्निसन्तप्त शरीर की शान्ति का उल्लेख किया है वह निश्चय ही वानप्रस्थी के अपने धर्म का पालन करने में असमर्थ होकर ऊँचे शिखर से पत्थर आदि पर गिरकर आत्महत्या करके स्वर्ग गमन एवं देवाङ्गनाओं की कामाग्नि शान्त करने के समान है। अतः यहाँ 'पुंवत् पातम्' शब्द से यह जो वानप्रस्थी की आत्महत्या रूप अर्थ मल्लिनाथ ने किया है वह नितान्त सङ्गत है। इसके विपरीत कतिपय विद्वानों ने जो झरनों के जल को मनुष्य जैसा पिण्डाकार बताया है वह उनकी व्याकरण एवं साहित्य-विषयक अज्ञानता का ही परिचायक है। उन्हें यहाँ यह भी नहीं सूझा कि 'पुंवत्' शब्द में वतिप्रत्यय ही क्रिया की समानता से हो रहा है, कर्ता की समानता में नहीं। दूसरे झरनों का आकार भी मनुष्य जैसा नहीं होता है। हम ग्रन्थ विस्तार के भय से आलोचना के चक्कर में नहीं पड़े हैं ॥ २३ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

स्थगयन्त्यमूः शमितचातकार्तस्वरा जलदास्तडिततुलितकान्तकार्तस्वराः।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः सवितुः क्वचित्कपिशयन्ति चामी कराः ॥२४॥

अन्वयः—इह क्वचित् च अमूः जगतीः शमितचातकार्तस्वराः (किञ्च—) तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः जलदाः स्थगयन्ति, क्वचित् च स्फुरितचारुचामीकराः अमी सवितुः कराः कपिशयन्ति।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् पर्वते। क्वचित्=कस्मिश्चिद् भागे। अमूः= पुरो दृश्यमानाः। जगतीः=भूमीः, स्थलीः। शमितचातकार्तस्वराः=निर्वतित-

सारङ्गतृषादीनशब्दाः । 'सर्वंसह्यापतितमम्बु न चातकानाम्' इति । भूमिगतस्य तेषां विषतुल्यत्वादभौमजलदानेनोज्जीवयन्तीत्यर्थः (किञ्च—) तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः=विद्युत्समीकृतोज्ज्वलसुवर्णाः । तडित्स्फुरणे तेषामपि तद्वत्स्फुरणादिति भावः । जलदाः=वारिदाः, मेघाः । स्थगयन्ति=आच्छादयन्ति । क्वचिच्च—अपरस्मिन् भागे । स्फुरितचारुचामीकराः=देदीप्यमानसुन्दरकनकाः । अमी=पुरो दृश्यमानाः । सवितुः=सूर्यस्य । कराः=किरणाः । कपिशयन्ति–कपिशिताः कुर्वते; पिञ्जरयन्ति क्वचिद् वृष्टिः क्वचिदातपश्चेति महदाश्चर्यमिति भावः । अमूरिति स्त्रियाम् । अमीति पुंसि । यमकालङ्कारः पथ्या वृत्तम् । 'सजसा यलौ च सह गेन पथ्या मता' इति लक्षणात् ।

कोशः—'जगती भुवने भूमौ' इति विश्वः । 'सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः' इत्यमरः । 'वलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः ।

समासः—शमिताः चातकानाम् आर्तस्वराः यैस्ते शमितचातकार्तस्वराः । (ब० व्री०) । तडिद्भिः तुलितानि कान्तानि कार्तस्वराणि यैस्ते—तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः (ब० व्री०) । स्फुरितानि चारुचामीकराणि यैस्ते—स्फुरितचारुचामीकराः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—आर्त—आङ् पूर्वाद् 'ऋ गतौ' इति धातोः क्तः, 'उपसर्गादृति धातौ' (६।१।९१) इति वृद्धिरेकादेशः । स्थगयन्ति' 'स्थग आच्छादने' इति चौरादिकाल्लट्–झि । कपिशयन्ति—कपिश् + लट्–झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर कहीं पर चातकों के दीन वचनों को (जल-प्रदान कर) शान्त करनेवाले तथा विजली के द्वारा मनोहर सुवर्णों की समता करनेवाले मेघ इन भू-भागों को आच्छादित कर रहे हैं; तथा कहीं पर सुन्दर सुवर्णों को चमकानेवाली ये सूर्यकिरणें इन भू-भागों को पीला बना रही हैं (अथवा ये सूर्यकिरणें सुवर्णवाले भूभागों को पिङ्गल बना रही हैं,' ऐसा भी इसका कुछ विद्वान् अर्थ करते हैं) ॥ २४ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैरुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः ।
श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य विष्वक् तटेषु पतति स्फुटमन्तरिक्षम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—उच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैः उत्तम्भितोडुभिः शिरोभिः अतीवतराम् उत्क्षिप्तम् अन्तरिक्षं श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशम् अस्य तटेषु विष्वक् पतति (इति) स्फुटम् ।

बालबोधिनी—उच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैः = उत्क्षिप्तचन्द्रकिरणरूपहस्तावलम्बैः । ऊर्ध्वमुखशशिकरस्पृष्टैरित्यर्थः । उत्तम्भितोडुभिः = उत्तोलितनक्षत्रैः । उडूनि चावष्टभ्येत्यर्थः । शिरोभिः = शिखरैः । अतीवतराम् = भृशतरम् । उत्क्षिप्तम् = उद्यम्य धृतम् । अन्तरिक्षम् = आकाशम् । श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशं = सादृश्याद्विश्वसनीयनिर्झरवारिव्यवहारम् । दृढतरां निर्झरजलबुद्धिं कुर्वदित्यर्थः । अस्य = रैवतकाद्रेः । तटेषु = रोधस्सु । विष्वक् = सर्वतः । पतति = अधोगच्छति । इति = इदम् । स्फुटम् = सत्यम्, निश्चितम् । निर्झरजलव्याजेनाकाशमेवाधः पततीत्यर्थः । एतेन तोयस्योच्चत्वं प्राचुर्यं चोक्तम् । चन्द्रकिरणरूपहस्तावलम्बेनाद्रेरुत्सेधविस्तारौ व्यज्येते । उत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः—'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः । 'नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम् । वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः ।

समासः—सितांशोः कराः सितांशुकराः (ष० त०) उत्क्षिप्ताश्च ते सितांशुकराः उत्क्षिप्तसितांशुकराः (क०धा०) ते अवलम्बो येषां तैः (ब० व्री०) उत्क्षिप्तसितांशुकरावलम्बैः । उत्तम्भितानि उडूनि यैस्तैः उत्तम्भितोडुभिः (ब० व्री०) । ऊर्ध्वं क्षिप्तम्—उत्क्षिप्तम् (प्रादि-समासः) । श्रद्धेयः निर्झरजलमिति व्यपदेशो यस्य तत् श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशम् ।

व्याकरणम्—उत्तम्भितः—उत् + स्तम्भु + स्वार्थे णिच् + क्तः । पतति—पत्लृ गतौ + लट्—तिप् ।

हिन्दी—ऊपर को उठते हुए चन्द्रकिरणरूपी हाथों के अवलम्बनवाले तथा ताराओं को ऊपर ही उठाये हुए शिखररूपी मस्तकों से ऊपर उठा कर धारण किया हुआ आकाश, समान वर्ण होने से झरने के जल के समान प्रतीत होता हुआ, इस रैवतक पर्वत के तटों पर चारों ओर मानो गिर रहा है, यह निश्चय है ॥ २५ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र ।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिव सरितः सुरापगायाः ॥ २६ ॥

अन्वयः—एकत्र-स्फटिकतटांशुभिन्ननीराः, अपरत्र नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः सरितः इह कालिन्दीजलजनितश्रियः सुरापगायाः वैदग्धीं श्रयन्ते ।

बालबोधिनी—एकत्र=एकस्मिन् भागे । स्फटिकतटांशुभिन्ननीराः=सूर्योपलरोधोरश्मिच्छुरितजलाः । शुभ्रजला इत्यर्थः । अपरत्र=अपरस्मिन् भागे । नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः = इन्द्रनीलमणिदीधितिविशेषिततोयाः । नीलजला इत्यर्थः । सरितः=नद्यः । इह=अस्मिन्नद्रौ । कालिन्दीजलजनितश्रियः=यमुनाजलोत्पादितशोभायाः । तत्सङ्गताया इत्यर्थः । सुरापगायाः=गङ्गायाः । वैदग्धीं=शोभाम्; विचित्रच्छायाविच्छित्तिम् । सादृश्यमित्येके । श्रयन्ते=भजन्ति । अत्र श्वेतनीलमणिगुणग्रहणात् सरितां यमुनासङ्गेन गङ्गाशोभासादृश्याक्षेपात् तद्गुणोत्थापितो निदर्शनालङ्कारः । प्रहर्षिणी वृत्तम् । 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ।

कोशः—'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः ।

समासः—स्फटिकस्य तटं स्फटिकतटम् (ष० त०) तस्य अंशवः (ष० त०) तैः भिन्नानि नीराणि यासां ताः (ब० व्री०) स्फटिकतटांशुभिन्ननीराः । नीलानि च तानि अश्मानि (क० धा०) तेषां द्युतिभिः भिदुराणि अम्भांसि यासां ताः (ब० व्री०) नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः । कलिन्दस्य अद्रेः अपत्यं स्त्री कालिन्दी, तस्याः जलानि (ष० त०) तैः जनिता श्रीः यस्याः (ब० व्री०) तस्याः कालिन्दीजलजनितश्रियः । सुराणामापगाः सुरापगाः (ष० त०) तस्याः सुरापगायाः । विदग्धस्य भावो वैदग्धी, ताम्—वैदग्धीम् ।

व्याकरणम्—वैदग्धीम्—विदग्धशब्दात्—ब्राह्मणादित्वात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५।१।१२४) इति ष्यञ्-प्रत्ययः, ततः 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । श्रयन्ते—श्रिञ् सेवायाम् + ल—झ ।

हिन्दी—एक ओर स्फटिक मणि के किनारे की कान्ति से मिश्रित अर्थात् श्वेत, जलवाली तथा दूसरी ओर इन्द्रनीलमणि की कान्ति से मिश्रित होने से नीले जलवाली नदियाँ, इस रैवतक पर्वत पर यमुना के नीले जल से उत्पादित शोभावाली (श्वेत जलवाली) गंगा की शोभा को धारण करती हैं अर्थात् तीर्थराज प्रयाग में हुए गंगा-यमुना के संगम के समान शोभित होती हैं ।

टिप्पणी—कवि सम्प्रदाय में यमुना का जल नीला एवं गंगा का जल श्वेत प्रसिद्ध है ।। २६ ।।

अपरं कीदृश इत्याह—

इतस्ततोऽस्मिन् विलसन्ति मेरोः समानवप्रे मणिसानुरागाः ।

स्त्रियश्च पत्यौ सुरसुन्दरीभिः समा नवप्रेमणि सानुरागाः ॥ २७ ॥

अन्वयः—मेरोः समानवप्रे (अत एव–) अस्मिन् इतस्ततः मणिसानुरागाः विलसन्ति (किञ्च–) नवप्रेमणि पत्यौ सानुरागाः सुरसुन्दरीभिः समाः स्त्रियः च इतस्ततः विलसन्ति ।

बालबोधिनी—मेरोः=सुमेरोः । समानवप्रे=तुल्यप्रस्थे; सदृशतटे । अत एव– अस्मिन्=रैवतकाद्रौ । इतस्ततः=अत्रामुत्र । मणिसानुरागाः=रत्नतटकान्तयः । विलसन्ति=प्रसरन्ति । किञ्च—नवप्रेमणि=नूतनस्नेहे; अनन्यगतचित्ते । पत्यौ= भर्तरि । सानुरागाः=प्रीतिमत्यः । सुरसुन्दरीभिः=देवाङ्गनाभिः । समाः= समानाः; सरूपाः । स्त्रियः = अङ्गनाः नार्यः । चेति समुच्चयेऽव्ययम् । इतस्ततो विलसन्ति = अत्रामुत्र क्रीडन्ति । परस्परमनुरागिणोऽनुरूपाश्चेह विलासिनस्तदनुरूपाणि च वितारस्थलानि सन्तीति भावः । यमकालङ्कारः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

कोशः—'मेरुः सुमेरुः हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः । 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः । 'वप्रस्ताते पुमानस्त्री रेणौ क्षेत्रे चये तटे' इति मेदिनी ।

समासः—समानं वप्रं यस्य तस्मिन्–समानवप्रे (ब० व्री०) । मणिसमाः सानवः मणिसानवः तेषां रागाः मणिसानुरागाः (ष० त०) । नवं प्रेम यस्य तस्मिन्—नवप्रेमणि (ब० व्री०) । अनुरागेण सह वर्तमानाः सानुरागाः (ब० व्री०) । सुराणां सुन्दर्यः (ष० त०) ताभिः सुरसुन्दरीभिः ।

व्याकरणम्—विलसन्ति—वि + लस + लट्–झि ।

हिन्दी—सुमेरु के समान वप्रवाले इस रैवतक पर्वत पर मणिमय शिखरों की कान्तियाँ इधर-उधर छिटक रही हैं, और नवीन प्रेमवाले पति में अनुराग-युक्त एवं देवाङ्गनाओं के समान सुन्दर स्त्रियाँ भी इधर-उधर क्रीडा कर रही हैं ॥ २७ ॥

अपि च—

उच्चैर्महारजतराजिविराजिताऽसौ दुर्वर्णभित्तिरिह सान्द्रसुधासवर्णा ।

अभ्येति भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेरुद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—इह सान्द्रसुधासवर्णा महारजतराजिविराजिता असौ उच्चैः दुर्वर्ण-भित्तिः भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् अभ्येति ।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन्नद्रौ। सान्द्रसुधासवर्णा=सघनलेपविशेषसमानवर्णा; दीप्तामृतसमानवर्णा वा। महारजतराजिविराजिता=सुवर्णरेखाशोभिता। असौ=पुरोवर्तिनी। उच्चैः=उन्नता। दुर्वर्णभित्तिः = रूप्यकुड्यम्; रजतभित्तिः। भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः=भस्मधवलितहरस्य। उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्=साग्निनेत्रभूषणललाटशोभाम्; साग्निनयनभूषणकपालकान्तिम्। अभ्येति=भजति; आभिमुख्येन प्राप्नोति। निदर्शनालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम्।

कोशः—'लेपभेदेऽमृते सुधा' इति वैजयन्ती। '·····चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः। 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यं खर्जूरं श्वेतमित्यपि' इत्यमरः। 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः।

समासः—सान्द्रा सा चाऽसौ सुधा सान्द्रसुधा (क० धा०) तया समानो वर्णो यस्याः सा (ब० व्री०) सान्द्रसुधासवर्णा। महच्च तद् रजतं चेति महारजतम् (क० धा०), तस्य राजिः (ष० त०) तया विराजिता (तृ० त०) महारजतराजिविराजिता। (सुवर्णापेक्षया) दुष्टो वर्णो यस्य तत् दुर्वर्णम् (ब० व्री०) तस्य भित्तिः (ष० त०) दुर्वर्णभित्तिः। भस्मना परिपाण्डुरितः (तृ० त०) भस्मपरिपाण्डुरितः, स चाऽसौ स्मरारिः भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारिः (क० धा०) तस्य भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः। उद्गतो वह्निर्यस्मात् तत् उद्वह्निः (ब० व्री०) तच्च तत् लोचनं (क० धा०) उद्वह्निलोचनम् तद् ललामं यस्य (ब० व्री०) तच्च तल्ललाटम् (क० धा०) तस्य लीला (ष० त०) ताम्—उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्।

व्याकरणम्—सवर्णा—'ज्योतिर्जनपद·······' (६।३।८५) इत्यादिना समानस्य सादेशः। अभ्येति—अभि + इण् गतौ + लट्—तिप्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर सघन चूने के समान शुभ्र वर्ण तथा सोने की रेखा से सुशोभित ऊँची चाँदी की दीवार (भित्ति), भस्म से श्वेतवर्ण शङ्कर जी के, अग्नि निकलते हुए नेत्र से सुन्दर (देदीप्यमान) ललाट की शोभा को धारण कर रही हैं, अर्थात् सोने की रेखा से सुशोभित शुभ्रवर्ण चाँदी की भित्ति भस्म धूसरित शिव के अग्नि ज्वाला वाले तृतीय नेत्र से युक्त ललाट के समान शोभती है॥ २८॥

पुनः कीदृश इत्याह—

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः ।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति ॥ २९ ॥

अन्वयः—अयम् अतिजरठाः प्रकामगुर्वीः अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः सततम् असुमताम् अगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकाः तटीः बिभर्ति ।

बालबोधिनी—अयं–रैवतकपर्वतः । अतिजरठाः=अतिकठिनाः, पक्षान्तरे–अतिजरतीश्च । प्रकामगुर्वीः=श्रेष्ठाः, पक्षान्तरे—स्थौल्याद् दुर्भराः । अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः—वृहद्विलम्वमानमेघावृताः, पक्षान्तरे—वृहद्लम्बमानस्तननिवद्धाः । सततं=सर्वदा । असुमतां=प्राणभृताम् । अगम्यरूपाः=अत्युन्नतत्वाद् दुरारोहस्वरूपाः । अन्यत्र=वृद्धत्वाद् गमनानर्हविग्रहाः । 'त्यजेदन्त्यकुलोत्पन्नां वृद्धां स्त्रीं कन्यकां तथा' इति गमननिषेधादिति भावः । परिणतदिक्करिकाः=तिर्यग्दन्तप्रहारिदिग्गजाः, वृद्धकुमारीतुल्या इति केचित् । अन्यत्र–परिणतदिक्करिकाः = किणीभूतदन्तक्षतविशेषनखव्रणाः । तटीः=रोधांसि, तीराणि । बिभर्ति=धारयति । अत्र प्रकृततटीविशेषणमहिम्ना अप्रकृतवृद्धाङ्गनाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः पुष्पिताग्रावृत्तम् । लक्षणन्तूक्तमेव ।

कोशः—'जरठः कठिने जीर्णे' इति वैजयन्ती । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । 'दिग्दष्टे वर्तुलाकारे करिका नखरेखिका' इति वैजयन्ती ।

समासः—अतिशयेन जरठाः अतिजरठाः (प्रादिसमासः) । प्रकामं गुर्व्यः इति—प्रकामगुर्व्यः ताः प्रकामगुर्वीः । न लघवः अलघवः (नञ् त० पु०), अलघवश्च ते विलम्बिनः ते च ते पयोधराः (क० धा०) तैः उपरुद्धाः (तृ० त०) ताः—अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः । न गम्याः अगम्याः (नञ् त० पु०) ताः—सुष्ठु अगम्याः इति अगम्यरूपाः । अथवा—अगम्यं रूपं यासां ताः अगम्यरूपाः (ब० व्री०) । परिणताः दिग्गजाः यासु ताः परिणतदिक्करिकाः (ब० व्री०) । अन्यत्र—परिणताः दिशः करिकाश्च यासु ताः परिणतदिक्करिकाः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—परिणतदिक्करिकाः—'इनः स्त्रियाम्' (५।४।१५२) इति समासान्तः कप्प्रत्ययः । प्रकामगुर्वीः—'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) इति

समासः । बिभर्ति—डुभृञ् भरणे + लट्—तिप् शप्—श्लु—'भृञामित' (७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वे ।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत अत्यन्त कठोर (पक्षा०—अत्यन्त बूढ़ी) अत्यन्त उन्नत (पक्षा०—अत्यन्त मोटी), अत्यन्त नीचे लटके हुए मेघों से घिरी हुई (पक्षा०—वृद्धावस्था के कारण बहुत नीचे लटकते हुए स्तनों वाली), अत्यन्त ऊँचा एवं दुरारोह होने से सर्वदा जीवधारियों से अगम्य अर्थात् जहाँ कोई जीव नहीं पहुँच सकता है, ऐसी, (पक्षा० अत्यन्त वृद्धा होने से जीवनेच्छुक पुरुषों के सम्भोग करने के अयोग्य) तथा तिरछे दन्त प्रहार करने वाले हाथियों से युक्त (पक्षा०—जिसके पुरुषकृत—दन्त एवं नखक्षत पक गए हैं ऐसी वृद्धा स्त्रियों के समान) तटियों को धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—परिणत उस हाथी को कहते हैं जो दाँतों से तिरछा प्रहार करता है दाँत के घाव को दिक् तथा नाखूनों से की हुई खरोंच को करिका कहते हैं ॥ २९ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

धूमाकारं दधति पुरःसौवर्णे वर्णेनाग्नेः सदृशि तटे पश्यामी ।
श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीनां लीनामालीमिह तरवो बिभ्राणाः ॥ ३० ॥

अन्वयः—इह पुरः वर्णेन अग्नेः सदृशि सौवर्णे तटे कुसुमसमूहे लीनाम् अलीनाम् आलीं बिभ्राणाः (अत एव—) श्यामीभूताः अमी तरवः धूमाकारं दधति (इति त्वं) पश्य ।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन्नद्रौ । पुरः=अग्रे । वर्णेन=कान्त्या । अग्नेः= पावकस्य । संदृशि=तुल्ये । अग्निसमानवर्णे इत्यर्थः । सौवर्णे=काञ्चनमये । तटे=तीरे । कुसुमसमूहे=पुष्पगुच्छे । लीनां=संलग्नाम्; स्थिताम् । अलीनां =भ्रमराणाम् आलीम्=आवलीम्, आवलिम्; पङ्क्तिम् । आलीमित्यस्य स्थाने श्रेणीमिति पाठेऽपि समान एवार्थः । बिभ्राणाः=दधानाः, धारयन्तः । अत एव— श्यामीभूताः=कृष्णत्वं प्राप्ताः, कृष्णीभूताः । अमी=पुरो दृश्यमानाः । तरवः= वृक्षाः । धूमाकारं=धूमसादृश्यम् । दधति=धारयन्ति । इति त्वं, पश्य=विलोकय। सौवर्णं तटमग्निवद् भाति, श्यामास्तरवो धूमवद् भान्तीत्युपमालङ्कारः । जलधर- माला वृत्तम् । 'अब्ध्यङ्गैः स्याज्जलधरमाला म्भौ स्मौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इत्यमरः। 'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः। 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः। अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः।

समासः—कुसुमानां समूहः कुसुमसमूहः (ष० त०) तस्मिन्-कुसुमसमूहे। अश्यामाः श्यामाः सम्पद्यमानाः भूताः श्यामीभूताः। धूमस्य आकारः धूमाकारः (ष० त०) तम्—धूमाकारम्।

व्याकरणम्—लीनाम्=लीङ् श्लेषणे+क्तः+टाप् 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठा नत्वम्। दधाति—डुधाञ् धारण-पोषणयोः+लट्—झि—अत्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर सामने, रङ्ग (वर्ण) में अग्नि के समान सुवर्णमय तट पर फूलों के गुच्छों पर स्थित भ्रमरों की पङ्क्ति को धारण किये हुए, अत एव—श्याम वर्ण के बने हुए ये वृक्ष धूएँ की समानता को धारण कर रहे हैं। अर्थात् धूएँ जैसे शोभित हो रहे है, यह तुम देखो ॥ ३० ॥

अथाद्रिणाऽनेन भारतशोभामाह—

व्योमस्पृशः प्रथयता कलधौतभित्तीरुन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः।
सौमेरवीमधिगतेन नितम्बशोभामेतेन भारतमिलावृतवद्विभाति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—व्योमस्पृशः उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः कलधौतभित्तीः प्रथयता (अत एव) सौमेरवीं नितम्बशोभाम् अधिगतेन एतेन भारतम् इलावृतवत् विभाति।

बालबोधिनी—व्योमस्पृशः=आकाशलग्नाः, अभ्रङ्कषाः। उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः=विकसितकुसुमप्रतीतचम्पकपिशङ्गवर्णाः। कलधौतभित्तीः=कनकतटीः। प्रथयता=प्रकटयता। अत एव—सौमेरवीं=सुमेरुसम्बन्धिनीम्। नितम्बशोभां=कटकलक्ष्मीम्; मध्यभागशोभाम्। क्वचिद् 'नितम्बशोभामित्यस्य स्थाने निकुञ्जशोभामिति पाठान्तरे—गहनप्रदेशलक्ष्मीमित्यर्थः। अधिगतेन=प्राप्तेन। एतेन=रैवतकाद्रिणा। भारतं=भारतवर्षम्। इलावृतवत्=इलावृतमिव। विभाति=शोभते। नवखण्डस्य जम्बूद्वीपस्य हिमाद्रेर्दक्षिणभूखण्डं हैमवतापरनामकं भारतवर्षं सुमेरुयोगात् सौमेरवापरनामकं मध्यखण्डमिलावृतवर्षम्। तथा एव वैजयन्त्याम्—

नाम्नेदं भारतं वर्षं हिमाद्रेस्तच्च दक्षिणे।
तेन हैमवतं नाम परेष्वप्येवमुन्नयेत् ॥

इलावृतं सौमेरवं सुमेरोः परितो हि तत् । इति ।

उपमालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः । 'वर्षं स्थानं विदुः प्राज्ञा इमं लोकं च भारतम्' इति भारविः । 'लोकोऽयं भारतं वर्षम्' इत्यमरश्च ।

समासः—व्योम स्पृशन्तीति व्योमस्पृशः ताः व्योमस्पृशः (उपपदसमासः) । उन्निद्राणि च तानि पुष्पाणि उन्निद्रपुष्पाणि (क० धा०) तैः वित्ताः उन्निद्रपुष्पचणाः, ते च ते चम्पकाः उन्निद्रपुष्पचणचम्पकाः (क० धा०) तैः तेषामिव वा पिङ्गाः भासो यासां ताः (ब० व्री०) उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः । कलधौतस्य भित्तयः कलधौतभित्तयः (ष० त०) ताः कलधौतभित्तीः । सुमेरोः इयं सौमेरवी, ताम्—सौमेरवीम् । नितम्बस्य शोभा नितम्बशोभा (ष० त०) ताम्—नितम्बशोभाम् । इलावृतेन तुल्यम्—इलावृतवत् ।

व्याकरणम्—उन्निद्रपुष्पचणाः उन्निद्रपुष्प+चणप् 'तेन वित्तश्चुञ्चुपचणपौ' (५।२।२६) इति वित्तेऽर्थे चणप् प्रत्ययः । अधिगतेन अधि+गम्+कर्तरि क्तः, 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' (३।४।७२) इति क्तः । विभाति—वि+भा दीप्तौ+लट्—तिप् ।

हिन्दी—आकाश-स्पर्शी तथा विकसित पुष्पों वाले चम्पकों के समान पीली कान्ति वाली स्वर्णमयी तटियों को प्रकट (विस्तृत) करता हुआ अत एव सुमेरु पर्वत के मध्य भाग की शोभा को प्राप्त इस पर्वत से यह भारत वर्ष, इलावृत (सुमेरुपर्वत के चारों तरफ स्थित देवभूमि विशेष) के समान शोभित हो रहा है ।

टिप्पणी—यह भारतवर्ष जम्बूद्वीप का नवम भाग है । वर्ष नौ हैं—(१) भारत, (२) किंपुरुष, (३) हरिवर्ष ये तीन हिमालय के दक्षिण में, तथा—(४) रम्यक, (५) हिरण्य, (६) कुरु, ये तीन हिमालय के उत्तर में तथा (७) भद्राश्व, हिमालय के पूर्व में, एवं (८) केतुमाल हिमालय के पश्चिम में और इलावृत हिमालय के मध्य भाग में स्थित है । जैसा की वाचस्पति मिश्र जी ने कहा है—

स्याद् भारतं किम्पुरुषं हरिवर्षं च दक्षिणाः ।
रम्यं हिरण्मयकुरू हिमाद्रेरुत्तरास्त्रयः ॥

भद्राश्वकेतुमालौ तु द्वौ वर्षौ पूर्वपश्चिमौ।
इलावृतं तु मध्यस्थं सुमेरुर्यत्र तिष्ठति॥ इति।

इसी इलावृत के मध्य भाग में सुमेरु पर्वत स्थित है। पुराणों में प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इलावृत वर्ष सुवर्णमय है। इसीलिए सुमेरु को भी हेमाद्रि कहते हैं। भारत की सीमा बताते हुए कहा है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ इति॥ ३१॥

अस्य प्रियकमृगैः शोभामाह—

रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिर्विचलितैः परितः प्रियकव्रजैः।
विविधरत्नमयैरभिभात्यसावदवयवैरिव जङ्गमतां गतैः॥ ३२॥

अन्वयः—असौ रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः परितः प्रचलितैः प्रियकव्रजैः जङ्गमता गतैः विविधरत्नमयैः अवयवैः इव अभिभाति।

बालबोधिनी—असौ=एषोऽद्रिः। रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः=उज्ज्वलनानावर्णलोमयुक्तैः। परितः=सर्वतः। विचलितैः=प्रसरद्भिः। 'विचरितैः' इति पाठान्तरेऽपि समान एवार्थः। प्रियकव्रजैः=मृगविशेषयूथैः। जङ्गमतां=चरिष्णुताम्। गतैः=प्राप्तैः। विविधरत्नमयैः=विविधरत्ननिर्मितैः; विविधरत्नविकारभूतैरित्यर्थः। अवयवैः=स्वाङ्गैः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। अभिभाति=प्रतिभाति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्।

कोशः—'तनूरुहं रोमलोम' इत्यमरः। 'प्रियको रोमभिर्युक्तो मृदूच्चमसृणैर्घनैः' इति वैजयन्ती।

समासः—रुचिराणि चित्राणि च तानि तनूरुहाणि रुचिरचित्रतनूरुहाणि (क० धा०) तैः शालन्ते (उपपदसमासः) तैः रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः विविधानि च तानि रत्नानि विविधरत्नानि (क० धा०) तेषां विकारैः विविधरत्नमयैः।

व्याकरणम्—अभिभाति—अभि+भादीप्तौ+लट्–तिप्।

हिन्दी—मनोहर तथा अनेक वर्णों के रोमवाले चारों ओर घूमते हुए 'प्रियक' नामक मृगविशेषों से जङ्गमता को प्राप्त हुए, मानों अनेक रत्नमय अङ्गों के द्वारा चारों तरफ से शोभित हो रहा है।

टिप्पणी—'प्रियक' उन मृगविशेषों को कहते हैं जिनके बालों के कम्बल बनते हैं॥ ३२॥

अन्यच्च कीदृशोऽयं शैल इति वदति—

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलभा विकस्वरैः ।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अत्र जलाशयोषिताः कलभाः विकस्वरैः कुशेशयैः मुदा रमन्ते, कलभाविकस्वरैः सिद्धगणैः च योषिताम् अन्ते प्रगीयते ।

बालबोधिनी—अत्र=रैवताद्रौ । जलाशयोषिताः=ह्रदेषु वसन्तः, सरःस्थिताः । कलभाः = करिपोतकाः; त्रिंशद्वर्षकरिणः । विकस्वरैः = विकसनशीलैः । कुशेशयैः=कमलैः । मुदा=हर्षेण; प्रीत्या । रमन्ते=क्रीडन्ति । करिविहाराणां कमलाकराणामयमाकर इति भावः । कलभाविकस्वरैः=अव्यक्तमधुरोद्दीपक-षड्जादिस्वरैः । सिद्धगणैः=देवविशेषसङ्घैः । चेति समुच्चये । योषितां= स्त्रीणाम् । अन्ते = समीपे । प्रगीयते=सुष्ठु गानं क्रियते । भूस्वर्गोऽयमिति भावः । वंशस्थवृत्तम् ।

कोशः—'त्रिंशद्वर्षस्तु कलभः' इति वैजयन्ती । 'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः ।

समासः—जलाशयेषु उषिताः जलाशयोषिताः (स० त०) । विकारः (मानसो भाव) प्रयोजनं येषां ते भाविकाः, कलाः भाविकाश्च स्वराः येषां तैः कलभाविकस्वरैः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—विकस्वरैः—वि + कस गतौ + वरच् 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३।२।१७५) इति वरच् ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर जलाशयों में प्रविष्ट, तीस वर्ष की अवस्था वाले हाथी के बच्चे खिले हुए कमलों से आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। तथा अव्यक्त मधुर एवं उद्दीपक स्वर वाले सिद्धगण (अपनी) स्त्रियों के समीप में उच्च स्वर से मधुर गान करते हैं ।

टिप्पणी—कलाः—अव्यक्तमधुर । भाविकाः—उद्दीपक ॥ ३३ ॥

अपरं कीदृशोऽयमित्याह—

आसादितस्य तमसा नियतेर्नियोगादाकाङ्क्षतः पुनरपक्रमणेन कालम् ।
पत्युस्त्विषामिह महौषधयः कलत्रस्थानं परैरनभिभूतममूर्वहन्ति ॥ ३४ ॥

अन्वयः—इह अमूः महौषधयः नियतेः नियोगात् तमसा आसादितस्य पुनः अपक्रमेण कालम् आकाङ्क्षतः त्विषां पत्युः परैः अनभिभूतं कलत्रस्थानं वहन्ति ।

बालबोधिनी—इह=रैवतकाद्री । अमूः=पुरो दृश्यमानाः । महौषधयः=अमृतसञ्जीवनीप्रभृतय ओषधयः । नियतेः=विधेः । नियोगात्=शासनात् । अस्मिन् काले इदं भावीति दैवशासनादित्यर्थः । 'तमसा=अन्धकारेण, अन्यत्र—अन्धकारप्रायेण व्यसनेन । आसादितस्य=आक्रान्तस्य । पुनः=भूयः । अपक्रमेण=उदयाचलगमनेन, आवृत्या वा । कालं=समागमसमयम् । आकाङ्क्षतः=इच्छतः । पुनरागत्य सङ्गन्तुमिच्छत इत्यर्थः । त्विषां=तेजसाम् । पत्युः=भर्तुः, स्वामिनः । सूर्यस्येति भावः । परैः=तेजोऽन्तरैः, अन्यत्र—पुरुषान्तरैः । अनभिभूतम्=अतिरस्कृतम्, अन्यत्र—अनुपहतम् । कलत्रस्थानं=वामाश्रयत्वम् । कलत्रभूतानां त्विषामाश्रयत्वमित्यर्थः । वहन्ति=निर्वहन्ति । 'वहन्ति' इत्यस्य स्थाने 'भजन्ते' इति पाठान्तरे श्रयन्तीत्यर्थः । स्त्रीणां स्त्रीष्वेव रक्षणं कार्यमिति भावः । यथा केनचिदापदि न्यासीकृतानि कलत्राणि संरक्ष्य कालान्तरे साध्वस्तस्मै प्रयच्छन्ति तद्वदोषधयोऽपि त्विषः सूर्यायार्पयन्तीत्यर्थः । इदं च तासां सूर्यास्तसमये, प्रज्वलनादुदयकाले विपर्ययादुपचर्यते । अत्र विशेषणसाम्यात् सूर्यादीनामापन्नादिसाम्यप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिः विधिः' इत्यमरः । 'विभावसुर्ग्रहपतिस्त्विषाम्पतिरहर्पतिः' इति सूर्यपर्यायेष्वमरः ।

समासः—महत्यश्च ताः ओषधयः महौषधयः (क० धा०) तिष्ठन्ति अस्मिन्निति स्थानम् (आश्रयः); कलत्राणां स्थानम् कलत्रस्थानम् (ष० त०) ।

व्याकरणम्—वहन्ति—वह प्रापणे+लट्—झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर ये महौषधियाँ दैव के नियम से (दैववशात्) अन्धकार से घिरे हुए तथा पुनः उससे छूटकर निकल जाने से समय की प्रतीक्षा करते हुए, प्रभाओं के स्वामी सूर्य के, दूसरों से अनाक्रान्त, स्त्रियों (सूर्यप्रभाओं) के आश्रय स्थान को धारण कर रही हैं ।

टिप्पणी—दैव दुर्विपाक से रात्रि में सूर्य अन्धकार से आक्रान्त हो गये हैं, तथा फिर अन्धकार से छूटकर अपनी पत्नी प्रभा से युक्त होने की इच्छा करते हैं, तब तक उनकी पत्नी इस प्रभा को ये महौषधियाँ धरोहर के रूप में धारण कर रही हैं । जिस प्रकार आपत्ति में पड़े हुए तथा कालान्तर में फिर अपनी पत्नी से समागम की इच्छा करते हुए किसी पुरुष की स्त्रियों की रक्षा कोई दूसरा व्यक्ति करता है और उस आपद्ग्रस्त व्यक्ति के लौटने पर फिर उन

स्त्रियों को उसे वह पुरुष वापिस लौटा देता है, वैसे ही ये औषधियाँ कर रही हैं। इस रैवतक पर्वत पर अमृतसञ्जीवनी आदि महौषधियां उत्पन्न होती हैं जो कि रात्रि में अपने तेज से चमकती हैं। उसीसे कवि ने यहाँ इस प्रकार की कल्पना की है। यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः प्रमदा इवात्र।
पुष्पेक्षणैर्लम्भितलोचकैर्वा मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रतत्यः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः मधुव्रतव्रातवृतैः (अत एव-) लम्भितलोचकैः पुष्पेक्षणैः (उपलक्षिताः) व्रतत्यः प्रमदाः इव (लक्ष्यन्ते)।

बालबोधिनी—अत्र=रैवतकाद्रौ। वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः=वृक्षप्रकाण्डसक्तनूतनपल्लवकराः। मधुव्रतव्रातवृतैः=मधुपवृन्दच्छन्नैः। (अत एव-) लम्भितलोचकैर्वा=प्रापितकज्जलैरिव; प्रापितग्राम्यनारीशिरोवस्त्रैरिव वा स्थितैरित्यर्थः। लोचकः=तारकं, कज्जलं वा, ग्राम्यनारीशिरोवस्त्रं वा। सर्वेषु निर्दिष्टेष्वर्थेषु कोऽपि ग्राह्यः। वाशब्द इवार्थे प्रयुक्तः। इवार्थे वाशब्दस्तद्वदुत्प्रेक्षायां चोक्तः। पुष्पेक्षणैः=कमलनेत्रैः। उपलक्षिता इति शेषः। व्रतत्यः=लताः। प्रमदा इव=अङ्गनातुल्याः। लक्ष्यन्ते इति शेषः। 'न प्रसिद्धे क्रियाध्याहारदोषः' इति वामनः। लिङ्गाध्याहारवदिति। क्वचिद् 'वनस्पति'- इत्यस्य स्थाने 'पुरःपति-' इति पाठान्तरम्। तत्र पुरः=अग्रे। पतिः=वृक्षः। इत्यर्थो ज्ञेयः। 'लम्भितलोचकैर्वा' इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः। अत्रेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिर्वृत्तम्।

कोशः—'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे विनापुष्पफलद्रुमे' इति विश्वः। 'लोचको मांसपिण्डे स्यादक्षितारे च कज्जले' इति विश्वः। 'लोचको मांसपिण्डेऽक्षितारकायां च कज्जले। ललाटाभरणे स्त्रीणां कदली नीलवस्त्रयोः। निर्बुद्धौ कर्णपूरे च मौर्व्यां भूश्लथचर्मणि' इति मेदिनी।

समासः—बालाश्च ते प्रवालाश्च बालप्रबालाः (क० धा०)। वनस्पतीनां स्कन्धाः वनस्पतिस्कन्धाः (ष० त०), तेषु निषण्णाः (स० त०) वनस्पतिस्कन्धनिषण्णाः ते च ते बालप्रबालाः (क० धा०) ते हस्ताः इव यासां तास्तथोक्ताः वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रबालहस्ताः (ब० व्री)। मधूनि व्रतयन्ति

(भुञ्जते) इति मधुव्रताः (उपपदसमासः) तेषां व्रातः (ष० त०) तेन वृतैः (तृ० त०) मधुव्रतव्रातवृतैः । पुष्पाणि ईक्षमाणानीव पुष्पेक्षणानि (उपमितसमासः) तैः पुष्पेक्षणैः । लम्भिताः लोचकाः यैस्तैः लम्भितलोचकैः (ब० वी०) ।

व्याकरणम्—निषण्ण–नि + षद्लृ गतौ + क्तः 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) इति निष्ठातकारस्य नकारो दश्च ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर वृक्षों के कुद्दे (प्रकाण्ड) पर स्थित नवीन पत्ते रूपी हाथों वाले भौंरों के समूह में ढके हुए अत एव कज्जलयुक्त पुष्परूपी नेत्रों से युक्त लताएँ स्त्रियों के समान दृष्टिगोचर हो रही हैं ।

टिप्पणी—जिस प्रकार स्त्रियाँ पतियों के कन्धों पर नवपल्लव के समान हाथों को रखती हैं तथा भ्रमरयुक्त पुष्पों के समान काजल से शोभित नेत्रों को हर्ष से विकसित कर लेती हैं उसी प्रकार वनस्पतियों के स्कन्धों पर हाथ के समान नवपल्लवों को रखे हुई तथा भ्रमर समूह से आच्छादित अत एव लोचक युक्त पुष्परूपी नेत्रों से ये लताएँ इस रैवतक पर्वत पर शोभ रही हैं ।

लोचक—लोचक शब्द संस्कृत में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ तीन अर्थों में ठीक बैठ जाता है—(१) आँख का काला तारा, (२) काजल, (३) ग्रामीण स्त्रियों के मस्तक ढकने का काला कपड़ा (अर्थात् काली ओढ़नी या काली चुन्नी, भी जिसे कहते हैं)। हमारे विचार से यहाँ यह शब्द पिछले दो अर्थों में से किसी भी अर्थ में माना जा सकता है। क्योंकि आँखें पूर्णतया काजल या काले कपड़े से ही आच्छादित हो सकती हैं। परन्तु आँख की काली पुतली आँख को न ढक सकेगी। जिस प्रकार भौंरों से पुष्प आच्छादित हैं उसी प्रकार आँखें काली चुन्नी या काजल से आच्छादित हैं, यह अर्थ है। ग्रामीण नारी के मलिन शिरोवस्त्र अर्थ में लोचक शब्द का निम्नांकित पद्य में प्रयोग हुआ है—

यो गोपीजनवल्लभः कुचतटव्याभोगलब्धास्पदम्,
छाया वास्त्रविरक्तको बहुगुणश्चारुश्चतुर्हस्तकः ।
कृष्णः सोऽपि हताशयाप्यपहृतः सत्यं कथाप्यद्य मे,
किं राधे ! मधुसूदनो, नहि नहि प्राणप्रियो लोचकः ॥ ३५ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम् ।
भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कदम्बसुरभौ इह विहगाः अनुक्षणम् अनेकलयं गाः कलयन्ति च धूतनवनीपवनः अयं पवनः मुहुः अभ्रं भ्रमयन् उपैति ।

बालबोधिनी—कदम्बसुरभौ=कदम्बसुगन्धे;नीपसुगन्धौ । इह=रैवतकाद्रौ । विहगाः=पक्षिणः । अनुक्षणं=प्रतिक्षणम्; वारं वारमित्यर्थः । अनेकलयं= बहुविधविच्छेदम्: द्रुतमध्यविलम्बितभेदेन त्रिविधो लयो गुणो वा यस्मिन् कर्मणि तद् यथास्यात्तथा । गाः=वाचः, शब्दानित्यर्थः । कलयन्ति=उच्चारयन्ति, गायन्तीत्यर्थः, च=किञ्च । धूतनवनीपवनः=कम्पितनूतनकदम्बकुसुमसमूहः । इति सौरभोक्तिः । अयम्=एषः । पवनः=वायुः । मुहुः=पुनः पुनः । अभ्रं=मेघम् । भ्रमयन्=प्रेरयन् । इति शैत्यमृदुत्वोक्तिः । उपैति=समीपमागच्छति, वातीत्यर्थः । अत्र 'पवनः पवनः' इत्यत्र यमकालङ्कारः । प्रमिताक्षरावृत्तम् । 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ।

कोशः—'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूरश्म्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः । 'नीपप्रिय-कदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः ।

समासः—कदम्बैः सुरभिः कदम्बसुरभिः (तृ० त०) तस्मिन् कदम्बसुरभौ । विहायसा गच्छन्तीति विहगाः । क्षणं क्षणमिति अनुक्षणम् । अनेके लयाः यस्मिन् कर्मणि तद् यथास्यात्तथा अनेकलयम् । नवानि तानि नीपवनानि नवनीपवनानि (क० धा०) धूतानि नवनीपवनानि येन स धूतनवनीपवनः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—कलयन्ति—कल सङ्ख्याने+लट्–झि । उपैति उप+इण्+लट्–तिप् ।

हिन्दी—कदम्ब पुष्पों से सुरभित इस रैवतक पर्वत पर पक्षिगण प्रतिक्षण अर्थात् सदा, अनेक लयों के साथ कूजते रहते हैं और यह नये (विकसित एवं पल्लवित) कदम्ब वनों को कम्पित करती हुई तथा बादलों को बार-बार उड़ाती हुई वायु समीप में आ रही है ॥ ३६ ॥

अपरं कथंभूत इत्याह—

विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिच्छ्रुत्वाऽपि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः ।
श्रेयान्द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥ ३७ ॥

अन्वयः—एषः श्रेयान् द्विजातिः इव आगमपरैः विद्वद्भिः कथञ्चित् विवृतम् अनिश्चितधीभिः अन्यैः श्रुत्वा अपि दुर्ग्रहम् अघानि हन्तुं दक्षं गूढार्थं निधिमन्त्र-गणं बिभर्ति ।

बालबोधिनी—एषः=पुरो दृश्यमानः । अयं रैवतकपर्वत इत्यर्थः । श्रेयान्=श्रेष्ठः । द्विजातिः=ब्राह्मणः । इव=यथा । आगमपरैः = तालशास्त्रप्रवीणैः । अन्यत्र–आगमपरैः=शास्त्रसिद्धान्तनिष्ठैः । विद्वद्भिः=प्राज्ञैः । कथञ्चित्=अति-क्लेशेन । विवृतं=स्वरूपतः प्रकाशितम् । अनिश्चितधीभिः=अतालज्ञैः । अन्यत्र–अनिश्चितधीभिः=अशास्त्रज्ञैः । अन्यैः=अपरैः । श्रुत्वाऽपि='अत्र निधिरस्ति, ईदृग्माहिमाऽसौ मन्त्र' इति चाऽऽप्तमुखादाकर्ण्यापि । दुर्ग्रहं=दुःसाधनम्, दुष्प्रापम् । अघानि=दुःखानि । अन्यत्र–अघानि=एनांसि । हन्तुं=विनाशयितुम् । दक्षं=समर्थम् । गूढार्थं=गुप्तधनम् । अन्यत्र–गूढार्थम्=संवृताभिधेयम् । निधिमन्त्रगणं=शेवधिमन्त्रसमूहम् । बिभर्ति=धारयति । द्विजातिमंत्रगणमिव निधिगणमेष बिभर्तीत्यर्थः । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'दुःखैनो व्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । 'निधिर्ना शेवधिः' इत्यमरः ।

समासः—आगमः एव परं प्रधानं येषां तैः आगमपरैः (ब० व्री०) । नास्ति निश्चिता (इदमित्थमिति–निश्चयात्मिका) धीर्येषां तैः अनिश्चित-धीभिः (ब० व्री०) । दुःखेनापि ग्रहीतुमशक्यं दुर्ग्रहम् । निधयो मन्त्रा इव निधिमन्त्राः (उपमितसमासः), अन्यत्र=निधय इव मन्त्राः निधिमन्त्राः, तेषां गणम् निधिमन्त्रगणम् (ष० त०)

व्याकरणम्—बिभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः + लट्—तिप्–'भृञामित्' (७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वे ।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत श्रेष्ठ ब्राह्मण के समान भूगर्भविद्या (पक्षा० मन्त्रशास्त्र) में तत्पर विद्वानों के द्वारा बड़ी कठिनाई से बतलाये गये, (एवं) सुनकर भी चञ्चल बुद्धियों से अगम्य, दरिद्रता (पक्षा०–पापों) को दूर करने में समर्थ तथा जिसमें धन छिपा है (पक्षा० गम्भीर अभिप्रायवाले) मन्त्रसमूह के समान निधियों (खजानों–निधिरूप मन्त्रसमूहों) को धारण करता है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुष्ठान में तत्पर विद्वानों के द्वारा बड़ी कठिनाई से प्रकाशित एवं चञ्चल बुद्धिवाले

व्यक्तियों के सुनने पर भी समझ में न आनेवाले तथा पापों को विध्वंस करने में समर्थ और गूढ अभिप्रायवाले मन्त्रसमूह को धारण करता है, उसी प्रकार यह रैवतक पर्वत भी भूगर्भविद्या को जाननेवाले विद्वानों के द्वारा बतलाये हुए तथा अस्थिर बुद्धिवालों के द्वारा दुष्प्राप्य एवं दारिद्र्यादि दुःखों को दूर करने में समर्थ गुप्त धनों के खजानों को धारण करता है ।। ३७ ।।

अपरं कथंभूत इत्याह—

बिम्बोष्ठं बहु मनुते तुरङ्गवक्त्रश्चुम्बन्तं मुखमिह किन्नरं प्रियायाः ।
श्लिष्यन्तं मुहुरितरोऽपि तं निजस्त्रीमुत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—इह तुरङ्गवक्त्रः बिम्बोष्ठं प्रियायाः मुखं चुम्बन्तं किन्नरं बहु-मनुते । इतरः अपि उत्तुङ्गस्तनभरभीरुमध्यां निजस्त्रीं मुहुः श्लिष्यन्तं तं (बहुमनुते) ।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् रैवतकपर्वते । तुरङ्गवक्त्रः=अश्वमुखो देवयोनिविशेषः । बिम्बीफलरक्ताधरम् । प्रियायाः=स्वभार्यायाः । मुखम्=आननम् । चुम्बन्तं=पिबन्तम् । किन्नरं=मानुषमुखमश्वाङ्गं देवयोनिविशेषम् । बहु=गुरु यथा स्यात्तथा । मनुते=अवबुध्यते । तुरङ्गवक्त्रस्य चुम्बनाऽसम्भवादिति भावः । इतरः=अश्वशरीरो मानुषमुखः किन्नरः । अपीति समुच्चये । उत्तुङ्गस्तनभरभीरुमध्याम्=उच्चकुचभारत्रस्तोदराम् । निजस्त्रीं=स्वाभार्याम् । मुहुः=वारं वारम् । श्लिष्यन्तं=आलिङ्गन्तम् । तम्=अश्वमुखं मानुषाङ्गं देवयोनिविशेषम् । बहुमनुते=गुरु यथा स्यात्तथावबुध्यते । द्विधा हि किम्पुरुषाः । केचिद्—अश्वमुखाः पुरुषशरीराः; केचिच्च—मनुष्यमुखा अश्वदेहाश्च । तत्रान्योऽन्यं साभिलाषौ तावित्यर्थः । किन्नराणां निवासस्थानमयं पर्वत इति भावः । बिम्बोष्ठमित्यत्रोपमालङ्कारः । मध्यस्याभङ्गेऽपि भङ्गोक्तेरतिशयोक्तिरुपमया संसृज्यते इत्यङ्गाङ्गिभावसङ्करः । प्रहर्षिणी वृत्तम् । लक्षणन्तूक्तमेव ।

कोशः—'स्यात्किन्नरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः' इत्यमरः । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः ।

समासः—तुरङ्गस्य वक्त्रमिव वक्त्रं यस्य स तुरङ्गवक्त्रः (ब० व्री०) । बिम्बमिव ओष्ठं यस्य तत्—बिम्बोष्ठम् (ब० व्री०) । उत्तुङ्गौ च तौ स्तनौ उत्तुङ्गस्तनौ (क० धा०) तयोः भरेण भङ्गः तस्माद् भीरुः मध्यो यस्याः

सा ताम्—उत्तुङ्गस्तनभरभीरुमध्याम् (तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः)। निजा स्त्री निजस्त्री ताम्—निजस्त्रीम् (क० धा०)।

व्याकरणम्—बिम्बोष्ठम्=बिम्ब+ओष्ठ–'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वार्तिकेन विकल्पेन पररूपम्। निजस्त्रीम्–'वाऽम्शसोः' (६।४।८०) इति विकल्पादियङादेशाभावः। मनुते–'मनु अवबोधने' इति धातोः लट्–तङ्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर घोड़े के समान मुख वाला किन्नर बिम्बाफल (रामकचरिया) के समान ओष्ठ वाले, (अपनी) प्रिया के मुख को चूमते हुए (अश्व के समान धड़ तथा मनुष्य के समान मुख वाले) किन्नर को श्रेष्ठ समझता है, तथा दूसरा (घोड़े के समान धड़ तथा मनुष्य के समान मुख वाला किन्नर) ऊँचे-ऊँचे स्तनों के भार से भययुक्त कटिवाली अर्थात् घटस्तनी एवं कृश कटिवाली अपनी स्त्री का आलिङ्गन करते हुए उसको (घोड़े के समान मुख तथा मनुष्य के समान धड़ वाले किन्नर को) श्रेष्ठ मानता है। (यह पर्वत किन्नरों का भी निवास स्थान है, यह भाव है)।

टिप्पणी—बिम्बोष्ठम्—बिम्बाफल के समान ओष्ठ वाला। यह फल (बिम्बाफल) मई-जून में एक जङ्गली बेल, जो प्रायः किसी वृक्ष या झाड़ी आदि पर चढ़ जाती है, पर लगता है। यह जङ्गली फल कच्चा होने पर हरा और पकने पर एकदम लाल वर्ण का हो जाता है। यह खाने में कुछ खट्टा-मिठा होता है। पश्चिमी भारत में इसको रामकचरिया बोलते हैं, कहीं-कहीं इसे कुंदरू भी कहते हैं।

किन्नर—यह देवयोनि विशेष है। यह दो प्रकार के होते हैं, एक तो मनुष्य के समान मुख एवं घोड़े के समान धड़ वाले तथा दूसरे घोड़े के समान मुख एवं मनुष्य के समान धड़ वाले। वस्तुतः गन्धर्व एक दूसरी देवयोनि है, जो कि गानविद्या में निपुण मानी जाती है। इन्हें तुमरू भी कहते हैं ; देवयोनियाँ दस प्रकार की कही जाती हैं—(१) विद्याधर, (२) अप्सरसः, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) गन्धर्व, (६) किन्नर, (७) पिशाच, (८) गुह्यक, (९) सिद्ध, (१०) भूत। जैसा कि अमरकोश में लिखा है—

> विद्याधरोऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
> पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥ इति ॥ ३८ ॥

अन्यच्च कीदृशोऽयमित्याह—

यदेतदस्यानुतटं विभाति वनं ततानेकतमालतालम् ।
न पुष्पिताऽत्र स्थगितार्करश्मावनन्तताने कतमा लताऽलम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अस्य अनुतटं ततानेकतमालतालं यत् एतद् वनं विभाति, स्थगितार्करश्मौ अनन्तताने अत्र कतमा लता अलं न पुष्पिता ।

बालबोधिनी—यस्य=रैवतकपर्वतस्य । अनुतटं=तटेषु । ततानेकतमालतालं=विस्तृतबहुतापिच्छतृणराजम् । यदेतत् =यदिदम् । वनं = काननम् । विभाति = शोभते । स्थगितार्करश्मौ = पिहितरविकिरणे, तिरोहितातपे । अनन्तताने = अपारविस्तारे । अत्र=अस्मिन् वने । कतमा=का । लता= वल्ली । अलम् =अत्यन्तम्; अत्यर्थम् । न पुष्पिता=न सञ्जातपुष्पा । भवतीति शेषः । सर्वाऽपि पुष्पिता इत्यर्थः । यमकालङ्कारः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

कोशः—'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । 'तृणराजाह्वयस्तालः' इत्यमरः ।

समासः—तटेषु इति अनुतटम् (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः) । तमालाश्च तालाश्च तमालतालाः (इतरेतर-द्वन्द्वः), अनेके तमालतालाः अनेकतमालतालाः (क० धा०) तताः अनेकतमालतालाः यत्र तत् ततानेकतमालतालम् (ब० व्री०) अर्कस्य रश्मयः अर्करश्मयः (ष० त०), स्थगिताः अर्करश्मयः यत्र तस्मिन् स्थगितार्करश्मौ (ब० व्री) । अनन्तः तानः (विस्तारः) यस्मिन् तस्मिन् अनन्तताने (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—विभाति–वि + भा + लट्–तिप् । पुष्पिता—पुष्पाणि अस्याः सञ्जातानीति पुष्पिताः, पुष्पशब्दात् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (५।२। ३६) इति इतच्-प्रत्ययः ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत के तटों पर जो यह वन शोभित हो रहा है उसमें विस्तृत (या ऊँचे) अनेक तमाल एवं ताल के वृक्ष हैं । सूर्य की किरणें जिसमें तिरोहित हो रही हैं उस प्रकार के इस वन में ऐसी कौन-सी लता है जो पुष्पित नहीं है ? अर्थात् इसमें प्रत्येक लता पुष्पित हो रही है ॥ ३९ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः ।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥४०॥

अन्वयः—अस्मिन् दन्तोज्ज्वलासु सद्रत्नचित्रकटकासु अधित्यकासु विमलोपल-मेखलान्ताः बृहन्नितम्बाः घनकोमलगण्डशैलाः नार्यः अनुरूपम् अधिवासं भजन्ति ।

बालबोधिनी—अस्मिन्—रैवतकाद्रौ । दन्तोज्ज्वलासु=निकुञ्जरुचिरासु अन्यत्र—दन्तोज्वलाः=दशनरुचिरा इति विभक्तिविपरिणामेनार्थो ज्ञेयः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । सद्रत्नचित्रकटकासु=परार्ध्यमणिनानारूपसानुषु । अन्यत्र—सद्रत्नचित्रकटकाः=श्रेष्ठमणिविचित्रवलयाः । अधित्यकासु=ऊर्ध्वभूमिषु । विमलोपलमेखलान्ताः=उज्ज्वलमणिकाञ्चीरम्याः । अन्यत्र—विमलोपलमेखलान्तासु=उज्ज्वलशिलानितम्बभूमिरम्यासु । बृहन्नितम्बाः=पीवरजघनाः, अथवा—विस्तृतकटिपश्चाद्भागाः । अन्यत्र—बृहन्नितम्बासु=विस्तृतशिखरासु । घनकोमलगण्डशैलाः=विपुलश्लक्ष्णकपोलभित्तयः । अन्यत्र—घनकोमलगण्डशैलासु=निबिड-सुस्पर्शगलितपाषाणासु (अधित्यकासु) । नार्यः=सुन्दर्यः । अनुरूपं=योग्यम्, श्रेष्ठम्, आत्मसदृशं वा । अधिवासं=स्थानम् । भजन्ति=सेवन्ते । अत्र नारीणा-मधित्यकानां च प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतगोचराश्लेषानुप्राणिता तुल्ययोगिता नामा-लङ्कारः । अत एवोभयविशेषणान्युभयत्र संस्कृतव्याख्यायां योजितानि विभक्ति-विपरिणामेनाऽस्माभिः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः—'दन्ती निकुञ्जे दर्शने' इति विश्वः । 'कटकं वलये सानौ' इति विश्वः । 'उपत्यकाद्रेरासन्नाभूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्ची-शैलनितम्बयोः' इति विश्वः । 'मृतावसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवः ।

समासः—दन्तैः उज्ज्वलाः दन्तोज्ज्वलाः, तासु दन्तोज्ज्वलासु (तृ० त०) । सन्ति च तानि रत्नानि सद्रत्नानि (क० धा०) तैः चित्राणि कटकानि यासां तासु—सद्रत्नचित्रकटकासु (ब०व्री०) । विमलाः उपलाः यासां ताः विमलोपलाः (ब० व्री०), ताश्च ताः मेखलाः (क० धा०) विमलोपलमेखलाः, ताभिः अन्ताः (रम्याः) विमलोपलमेखलान्ताः (तृ० त०) । बृहन्तो नितम्बाः यासां ताः बृहन्नितम्बाः (ब० व्री०) । घनाः कोमलाश्च गण्डशैलाः यासां ताः घनकोमलगण्डशैलाः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—अधित्यकासु—अधि + त्यकन्+सुप् 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्ना-रूढयोः' (५।२।३४) इति अधिशब्दात्त्यकन् प्रत्ययः । भजन्ति—भज सेवायाम्+लट्—झि ।

हिन्दी—इस पर्वत पर उज्ज्वल निकुञ्जों वाली श्रेष्ठ रत्नों से चित्र-विचित्र (रङ्ग-विरङ्गे) शिखरों (या मध्यभाग) वाली पर्वत की ऊपरी भूमियों पर, स्वच्छ मणियों वाली करधनियों से रमणीय तथा बड़े-बड़े नितम्बों (चूतड़ों) वाली और निविड तथा कोमल कपोलस्थलों वाली सुन्दरियां अपने योग्य (या सदृश) आवास को प्राप्त करती हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर नारियों तथा अधित्यकाओं दोनों के प्रस्तुत होने से श्लेषानुप्राणित तुल्ययोगिता अलङ्कार है। अतः श्लोक में पठित अधित्यकाओं तथा नारियों के विशेषण परस्पर एक दूसरे के साथ संलग्न कर लेने चाहिए जैसा कि संस्कृत व्याख्या 'बालबोधिनी' में किया गया है। ऐसा कर लेने पर हिन्दी में अर्थ इस प्रकार होगा—इस पर्वत पर उज्ज्वल निकुञ्जों वाली, श्रेष्ठ रत्नों से रङ्ग-बिरङ्गे शिखरों वाली तथा निर्मल चट्टानों वाले मध्य भाग से रमणीय एवं बड़े-बड़े शिखरों वाली और सघन तथा चिकने चट्टानों वाली, ऊपर की भूमियों (पठारों) पर, उज्ज्वल दाँतों वाली, उत्तम रत्न जटित विचित्र कङ्कणों वाली निर्मल मणियों से युक्त करधनियों से रमणीय बड़े बड़े नितम्बों (चूतड़ों) वाली अत्यन्त कोमल कपोल स्थलों वाली स्त्रियाँ अपने अनुरूप (योग्य या सदृश) निवास स्थान को प्राप्त करती हैं ॥ ४० ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

अनतिचिरोज्झितस्य जलदेन चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य पयसोऽनुकृतिम्।
विरलविकीर्णवज्रशकला सकलामिह विदधाति धौतकलधौतमही ॥४१॥

अन्वयः—विरलविकीर्णवज्रशकला धौतकलधौतमही जलदेन अनतिचिरोज्झितस्य चिरस्थितबुद्बुदस्य पयसः सकलाम् अनुकृतिं विदधाति।

बालबोधिनी—इह = अस्मिन् पर्वते। विरलविकीर्णवज्रशकला = असघनविक्षिप्तहीरकखण्डा; तनुप्रसरणशीलहीरकखण्डा। धौतकलधौतमही = निर्मलरजतभित्तिः। जलदेन = मेघेन। अनतिचिरोज्झितस्य = तत्कालमुक्तस्य। शुभ्रस्येति भावः। चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य = चिरस्थायिबहुजलस्फोटस्य। पयसः = जलस्य। सकलां = समग्राम्। अनुकृतिं = सादृश्यम्, सारूप्यम्। विदधाति = करोति। अत्र मेघत्यक्तजलस्य स्थिरबुद्बुदाऽसम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः। कुररीवृत्तम्। 'कुररीरुता नजभजैर्लगयुक्' इति लक्षणात्।

कोश:—'कलधौतं रूप्यहेम्नो:' इति विश्वः। पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः।

समासः—विरलं यथा तथा विकीर्णाः वज्रशकलाः यस्यां सा विरलविकीर्णवज्रशकला (ब० व्री०)। कलधौतस्य मही कलधौतमही (ष० त०), धौता चाऽसौ कलधौतमही—धौतकलधौतमही (क० धा०)। न अतिचिरम्—अनतिचिरम् (नञ् त०); अनतिचिरम् उज्झितम्—तस्य अनतिचिरोज्झितस्य। चिरं स्थिताः चिरस्थिताः चिरस्थिताः बहवो बुद्बुदाः यस्मिन् तस्य—चिरस्थितबुद्बुदस्य (व० व्री०)।

व्याकरणम्—विदधाति—वि + डुधाञ् धारण-पोषणयोः = लट्–तिप्।

हिन्दी—इस पर्वत पर अलग-अलग बिखरे हुए हीरकों के टुकड़ों वाली शुभ्र चाँदी की भूमि बादलों के द्वारा तुरन्त गिराये हुए तथा चिरकाल तक स्थित करने वाले पानी के बुलबुलों वाले पानी की पूर्ण समानता को धारण कर रही है, अर्थात् रजतमयी शुभ्र भूमि पर फैले हुए हीरे के टुकड़े मेघ से बरसे हुए पानी के चिरस्थायी बुलबुलों के समान शोभते हैं ॥ ४१ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

वर्जयन्त्या जनैः सङ्गमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं सङ्गमेकान्ततः।
योषयैष स्मरासन्नतापाङ्गया सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया ॥ ४२ ॥

अन्वयः—एकान्ततः कान्ततः सङ्गमे (सति) सुखं तर्कयन्त्या (अत एव) जनैः सङ्गम् वर्जयन्त्या (कुतः) स्मरासन्नतापाङ्गया सन्नतापाङ्गया अनेकया योषया एष सेव्यते।

बालबोधिनी—एकान्ततः = एकान्ते; रहसीत्यर्थः। कान्ततः = कान्तेन, प्रियेणेत्यर्थः। उभयत्रापि सार्वविभक्तिकस्तसिः। सङ्गमे = सङ्गे सति। सुखम् = आनन्दम्। तर्कयन्त्या = उत्प्रेक्षमाणया। विस्रब्धं विहारमाकाङ्क्षन्तीत्यर्थः। (अत एव) जनैः = लोकैः। सङ्गं = सम्पर्कम्। वर्जयन्त्या = निवारयन्त्या। परिहरन्त्या। (कुतः) स्मरासन्नतपाङ्गया = मदनप्राप्तज्वरशरीरतया, मदननिमित्तविकटज्वरशरीरावयवया। सन्नतापाङ्गया = नम्रनेत्रप्रान्तया, अनेकया योषया = अनेकाभिः योषाभिरित्यर्थः। जातावेकवचनम्। एषः = अयमद्रिः। सेव्यते = उपभोगविषयीक्रियते। इच्छाविहारस्थानानीह सन्तीति भावः। यमकालङ्कारः। स्रग्विणीवृत्तम्। 'रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता' इति लक्षणात्।

कोशः—'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। 'अङ्गम् प्रतीकोऽवयवोऽपघनः' इत्यमरः।

समासः—स्मरेण आसन्नतापानि अङ्गानि यस्याः सा तया स्मरासन्नतापाङ्ग्या (ब० व्री०)। सन्नतौ अपाङ्गौ यस्याः सा तया सन्नतापाङ्ग्या (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—एकान्ततः—एकान्त + सार्वविभक्तिकस्तसिप्रत्ययः। एवं 'कान्ततः' इत्यत्रापि बोध्यम्। सेव्यते—सेव + कर्मणि लट्–त।

हिन्दी—एकान्त में पति के साथ सम्भोग से सुख को चाहती हुई, अतः लोगों के साथ सम्पर्क को छोड़ती हुई, काम-सन्ताप से युक्त अङ्गों वाली तथा नम्र नेत्रप्रान्तों वाली अर्थात् सम्भोग के लिए नेत्रप्रान्तों को सङ्कुचित कर सङ्केत करने वाली बहुत-सी स्त्रियाँ इस रैवतक पर्वत का सेवन (भोग) करती हैं ॥ ४२ ॥

अपरं कथंभूत इत्याह—

सङ्कीर्ण-कीचकवनस्खलितैकबाल-
विच्छेदकातरधियश्चलितुं चमर्यः।
अस्मिन् मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्र-
निर्यत्स्वनश्रुतिसुखादिव नोत्सहन्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अस्मिन् सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकबालविच्छेदकातरधियः चमर्यः मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात् इव चलितुं न उत्सहन्ते।

बालबोधिनी—अस्मिन् = रैवतकाद्रौ। सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकबालविच्छेदकातरधियः=परस्परसंहतसच्छिद्रवंशकाननसंलग्नैकलोमत्रुटनत्रस्तबुद्धयः। जातिस्वभावात्, आमरणमप्यङ्गीकुर्वते न बालभङ्गम्। चमर्यः=बालप्रियाः। मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात्=मन्दमारुतमध्यकीचकविवरनिर्गच्छच्छब्दश्रवणानन्दात्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम् चलितुं = गन्तुम्। नोत्सहन्ते=नेच्छन्ति। लोकेऽपि यो हि सरसः जिगमिषुरपि गेयवाद्याद्याकर्णनेन न याति। वस्तुतश्चमर्यस्तु बालप्रियत्वात्तत्त्रुटनभयादेव न गन्तुमिच्छन्तीति भावः। 'निर्यत्स्वन-' इत्यस्य स्थाने 'निर्यत्स्वर' इति पाठान्तरम्। तत्र, स्वरः=शब्दः स्वराः षड्जादयो वार्थः। हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः वसन्ततिलका वृत्तम्।

कोशः—'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः।

समासः—सङ्कीर्णाश्च ते कीचकाश्च सङ्कीर्णकीचकाः (क० धा०) तेषां यद् वनम् (ष०त०) तत्र स्खलितः (स० त०) स चाऽसौ एकबालश्च (क० धा०) तस्य विच्छेदः (ष० त०) तस्मात् कातरा धीर्यासां ताः (ब० व्री०) सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकबालविच्छेदकातरधियः। तस्य इमानि तदीयानि तानि च तानि रन्ध्राणि—तदीयरन्ध्राणि (क० धा०), मृदुश्चासौ श्वसनः मृदुश्वसनः (क० धा०) स गर्भे येषां (ब० व्री०) तानि च तानि तदीयरन्ध्राणि (क० धा०) तेभ्यः निर्यन् (प० त०), सचाऽसौ स्वनः (क० धा०) तस्य श्रुतिः (ष० त०) तया यत् सुखम् (तृ० त०) तस्मान्मृदुश्वनगर्भ-तदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात्।

व्याकरणम्—चलितुम्–चल+तुमुन्। उत्सहन्ते—उत्+सह मर्षणे+लट्—झ।

हिन्दी—इस पर्वत पर सघन कीचकों (सच्छिद्र होने से हवा के प्रविष्ट होने पर स्वयं बजनेवाले बाँसों) के वन में (पूँछ के) एक बाल के (भी) हिलगकर (फँसकर) टूट जाने के भय से खिन्न चित्तवाली चमरी गायें मन्द वायु से पूर्ण कीचकों के विवरों से निकलती हुई ध्वनि के सुनने से उत्पन्न आनन्द से मानो (वहाँ से अन्यत्र) जाने का साहस नहीं कर रही हैं॥ ४३॥

अपरं कीदृश इत्याह—

मुक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रैर्वापीष्वन्तर्लीनमहानीलदलासु।
शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशु द्रुतमम्भश्छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य॥ ४४॥

अन्वयः—इह अन्तर्लीनमहानीलदलासु वापीषु अभ्रैः मुक्तं मुक्तागौरम् (अत एव) क्षीरम् इव (स्थितम्) शस्त्रीश्यामैः अंशुभिः आशु द्रुतं नीलीसलिलस्य अच्छां छायाम् ऋच्छति।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन्नद्रौ। अन्तर्लीनमहानीलदलासु=मध्य-श्लिष्टेन्द्रनीलदीर्घिकासु। अभ्रैः=मेघैः। मुक्तम्=त्यक्तम्, वृष्टमित्यर्थः। मुक्ता-गौरं=मौक्तिकशुभ्रम्। (अत एव) क्षीरमिव=दुग्धमिव स्थितम्। शस्त्री-श्यामैः=छुरिकावत्कृष्णवर्णैः। अंशुभिः=अन्तर्गतेन्द्रनीलमरीचिभिः। आशु=तत्क्षणमेव। द्रुतं=छुरितम्। नीलीसलिलस्य=नीलाख्यौषधिपत्ररसस्य;

अथवा—नीलीनामकौषधिविशेषविभावितजलस्य। अच्छां=निर्मलाम्। छायां=कान्तिम्। ऋच्छति=गच्छति, तत्सदृशीं शोभां प्राप्नोतीत्यर्थः। अत एव निदर्शनालङ्कारः। स च मुक्तागौरं, क्षीरमिव, शस्त्रीश्यामैरिति चोपमाश्रयेणाऽन्तर्लीनमहानीलदलासु वापीष्विति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तेनोत्थापितेनांशुभिर्द्रुतमिति तद्गुणोत्थापित इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। क्षीरमिवेत्यनेनेन्द्रनीलानां श्रेष्ठता सूचिता। यतो हि सितं गुणं दुग्धं यन्नीलयति तदुत्कृष्टं महानीलमित्यभिप्रायः। उक्तमपि—

'क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरं चेन्नीलतां व्रजेत्।
इन्द्रनीलमिति ख्यातम्—'इति।

मत्तमयूरवृत्तम्—'वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा यसगा मत्तमयूरम्' इति लक्षणात्।

कोश:—'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलाश्च ते मताः' इत्यगस्त्यः। 'नीली काला क्लीतकिका' इत्यमरः। 'अथ मौक्तिकं मुक्ता' इत्यमरः।

समासः—अन्तः लीनानि महानीलदलानि यासु तासु—अन्तर्लीनमहानीलदलासु (ब० व्री)। मुक्ता इव गौरम्—मुक्तागौरम् (उपमितसमास)। शस्त्री इव श्यामैः शस्त्रीश्यामैः (उपमितसमासः) नील्या सलिलम् (ष०त०) तस्य—नीलीसलिलस्य।

व्याकरणम्—ऋच्छति—ऋगतौ+लट्–तिप्।

हिन्दी—इस पर्वत पर भीतर डूबे हुए इन्द्रनील (नीलम) मणियों के टुकड़ों वाली बावड़ियों में बादलों के द्वारा बरसाया गया मोती के समान शुभ्र (अत एव) दूध के समान स्थित पानी कटारी के समान श्यामवर्ण की (इन्द्रनीलमणियों की) किरणों से शीघ्र ही मिश्रित हुआ नीली (नील नामक ओषधि विशेष) के रस की स्वच्छ कान्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ४४॥

पुनः कथंभूत इत्याह—
या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम्।
तेन सहेह बिभर्ति रहः स्त्री सा रतरागमनायतमानम्॥ ४५॥

अन्वयः—अन्यवधूभ्यः सारतरागमना या यतमानं प्रियं न ययौ, सा स्त्री इह रहः तेन सह अनायतमानं रतरागं बिभर्ति।

बालबोधिनी—अन्यवधूभ्यः=स्त्र्यन्तरेभ्यः। सारतरागमना=श्रेष्ठागमना। श्लाघ्यसङ्गमेत्यर्थः। या=स्त्री। यतमानम्=स्वप्राप्त्यै प्रयतमानम्। प्रार्थय-

मानमित्यर्थः । प्रियं=कान्तम् । न ययौ=नाभिससार । सा स्त्री=सैव नारी । इह=अस्मिन् पर्वते । रहः=रहसि; एकान्ते । तेन=पूर्वोक्तप्रियेणैव । सह=सार्धम् । अनायतमानम्=अदीर्घरोषं यथा स्यात्तथा । निर्मानमित्यर्थः । रतरागं=सुरताभिलाषम् । बिभर्ति=धारयति । अयमतिमानवतीरपि सद्य उद्दीपयति, येन मनस्विन्योऽपि ताः शीघ्रं मानं मुक्त्वा सुरताभिलाषुका भवन्तीत्यर्थः । यमकालङ्कारः । दोधकवृत्तम् । 'दोधकमिच्छति भत्रितयाद् गौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः । रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः ।

समासः—अन्याश्च ताः वध्वः अन्यवध्वः, ताभ्यः—अन्यवधूभ्यः (क० धा०) । सारतरम् आगमनं यस्याः—सारतरागमना (ब० व्री०) । न विद्यते आयतं मानं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा—अनायतमानम् । रतस्य रागः (ष० त०) तम्—रतरागम् ।

व्याकरणम्—बिभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः+लट्–तिप् ।

हिन्दी—दूसरी अङ्गनाओं से श्रेष्ठ गतिवाली (अत एव मानवती) जो स्त्री प्रयत्न करने पर भी पति के पास सम्भोगार्थ नहीं गयी (मानवती होने से रूठी रही), वही स्त्री रैवतक पर्वत पर एकान्त में उस पति के साथ मान को हलका करके सम्भोग के आनन्द को प्राप्त कर रही है ॥ ४५ ॥

अपरं कथंभूत इत्याह—

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो-
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् ।
दोषाऽपि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह इन्दोः किरणेषु उच्चावचैः रत्नकिरणैः भिन्नेषु (अत एव) सहस्रसंख्याम् उपगतेषु नलिन्यः असौ नूनम् अहिमांशुः किल इति दोषा अपि व्याकोशकोकनदतां दधते ।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् पर्वते । इन्दोः=चन्द्रस्य । किरणेषु=रश्मिषु । उच्चावचैः=अनेकविधैः, नानाविधैः । रत्नकिरणैः=मणिमयूखैः । भिन्नेषु=मिश्रितेषु । (अत एव) सहस्रसंख्यां=सहस्रत्वम् । उपगतेषु=प्राप्तेषु । सत्सु । नलिन्यः=पद्मिन्यः । असौ=प्रकाशमानः सः । नूनं=वस्तुतः । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । अहिमांशुः=सूर्यः । किलेति सम्भावनायाम् । इतीति हेतौ । स्फुट-

किरणत्वात्सूर्य एवेति सम्भावनाबुद्ध्येत्यर्थः । दोषाऽपि=रात्रावपि । सप्तम्यर्थेऽव्ययमिदम् । व्याकोशकोकनदतां=विकचपद्मत्वम् । दधते=बिभ्रति, स्वीकुर्वन्ति । इह देवभूमित्वान्नित्यपद्मा नलिन्य इति भावः । इह नलिनीनां दोषातनविकासाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या तस्य च सम्बन्धस्येन्दावर्कभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः—'उच्चावचं नैकविधम्' इत्यमरः । 'नलं पद्मं नलं तृणम्' इति शाश्वतः । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । 'दिवाऽह्नीत्यथ—दोषा च नक्तं च रजनौ' इत्यमरः । 'अथ रक्तसरोरुहम् । रक्तोत्पलं कोकनदम्' इत्यमरः । 'व्याकोशविकचस्फुटाः' इत्यमरः ।

समासः—उदञ्च अवाञ्च तैः—उच्चावचैः (मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषसमासः) । रत्नानां किरणाः रत्नकिरणाः तैः रत्नकिरणैः (ष० त०) । सहस्रपरिमिता संख्या सहस्रसंख्या ताम्—सहस्रसंख्याम् । न विद्यन्ते हिमाः अंशवो यस्य सः—अहिमांशुः व्याकोशं चाऽसौ कोकनदं च व्याकोशकोकनदम् (क० धा०) तस्य भावस्ताम्—व्याकोशकोकनदताम् ।

व्याकरणम्—दधते—डुधाञ् धारणपोषणयोः+लट्—झ ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर चन्द्रमा की किरणों के अनेक प्रकार की रत्नकिरणों से मिश्रित होने पर सहस्र संख्या को प्राप्त हो जाने पर 'यह निश्चित रूप से सूर्य है', ऐसा मानकर कमलिनियां रात्रि में भी विकसित कमलों वाली हो जाती हैं ॥ ४६ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अपशङ्कम् अङ्कपरिवर्तनोचिताः पतिम् उपैतुं पुरः चलिताः आत्मजाः निम्नगाः करुणेन पत्रिणां विरुतेन एष वत्सलतया अनुरोदिति इव ।

बालबोधिनी—अपशङ्कं=निःशङ्कं यथा स्यात्तथा । अङ्कपरिवर्तनोचिताः=उत्सङ्गलुण्ठनपरिचिताः पतिम्=भर्तारम् । उपैतुं=प्राप्तुम् । पुरः=अग्रे । चलिताः=प्रयाताः । आत्मजाः=स्वसम्भवाः, दुहितृश्च । निम्नगाः=नदीः । करुणेन=दीनेन । पत्रिणां=पक्षिणाम् । विरुतेन=क्रोशनेन । अनुरोदितीव=अनुक्रोशतीव । यथा किल वत्सलः पिता स्वसुताः पतिगृहं

गन्तुं प्रवृत्ता अनुरोदिति तथाऽयमपि नदीरित्यर्थः। उत्प्रेक्षालङ्कारः। मञ्जुभाषिणीवृत्तम्। 'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति लक्षणात्। इयमेव 'सुनन्दिनी' 'सुमङ्गला' इति च भण्यते।

कोशः—'श्रीमान् स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः। 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः। पतत्त्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजाः' इत्यमरः।

समासः—अपगता शङ्का यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा अपशङ्कम्। अङ्के परिवर्तनानि–अङ्कपरिवर्तनानि (स० त०) तेषु उचिताः (स० त०) अङ्कपरिवर्तनोचिता। आत्मनः जाताः आत्मजाः ताः आत्मजाः (उपपदसमासः)। निम्नं गच्छन्तीति निम्नगाः ताः निम्नगाः (उपपदसमासः)। पश्चाद्, रोदिति अनुरोदिति।

व्याकरणम्—वत्सलतया—वत्स + लच् 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (५।२।९८) इति लच् प्रत्ययः। अनुरोदिति—अनु + रुदिर् अश्रुविमोचने + लट्–तिप् 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (७।३।९८) इति गुणः, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७।२।७६) इतीट्।

हिन्दी—निःशङ्क होकर गोद में लोट-पोट करने (खेलने) में अभ्यस्त; पति (समुद्र) को प्राप्त करने (समुद्र में मिलने) के लिए सामने जाती हुई अपने से समुत्पन्न नदियों के निमित्त पक्षियों के करुण कूजन द्वारा मानो यह पर्वत रो रहा है।

टिप्पणी—जिस प्रकार बचपन से गोद में खेलनेवाली पुत्रियाँ जब अपने पति के घर जाने लगती हैं तो पिता स्नेहवश रोने लगता है, उसी प्रकार से ये नदियाँ भी पर्वत के मध्य में बहनेवाली हैं और जब समुद्र से मिलने के लिए आगे मैदान में चलती हैं, तब जो पक्षिगण कलरव करते हैं तो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह रैवतक पर्वत ही बिछुड़ी हुई उन नदीरूपिणी पुत्रियों के लिए अनुरोदन कर रहा है॥ ४७॥

पुनः कीदृश इत्याह—

मधुकरविटपानमितास्तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्य विटपानमिताः।
परिपाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता॥ ४८॥

अन्वयः—मधुकरविटपानम् इताः विटपानमिताः तरुपङ्क्तीः बिभ्रतः अस्य रोधः गलता परिपाकपिशङ्गलतारजसा कपिशं चकास्ति।

बालबोधिनी—मधुकरविटपानं=भ्रमरविटचुम्बनम् । इताः=प्राप्ताः । विटपानमिताः=प्रकाण्डेषत्कुटिलीभूताः; शाखाविस्तारनम्रीभूताः । तरुपङ्क्तीः=वृक्षश्रेणीः । बिभ्रतः=धारयतः । अस्य = रैवतकपर्वतस्य । रोधः = तटम्, नितम्ब इत्यर्थः । गलता=पतता । परिपाकपिशङ्गलतारजसा=परिणामपीतवल्लीरेणुना । कपिशं=पिशङ्गम् । चकास्ति=शोभते । मात्रावृत्तेष्वियमार्यागीतिरष्टगणा । 'अर्धे वसुगणा आर्यागीतिः' इति पिङ्गलनागः (४।३१) ।

कोशः—'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः ।

समासः—मधुकराः एव विटाः मधुकरविटपाः (रूपकसमासः) तेषां पानम् (ष० त०) तत्—मधुकरविटपानम् । विटपैः आनमिताः विटपानमिताः (तृ० त०) । तरूणां पङ्क्तयः (ष० त०) ताः तरुपङ्क्तीः । परिपाकेन पिशङ्गाः (तृ० स०) ताश्च ताः लताः (क० धा०) तासां रजः (ष० त०) तेन—परिपाकपिशङ्गलतारजसा ।

व्याकरणम्—चकास्ति—चकासृ दीप्तौ+लट्–तिप् ।

हिन्दी—भ्रमररूपी विटों द्वारा पान की हुई तथा कुद्दों (वृक्षशाखाओं या टहनियों) से झुकी हुई वृक्षों की श्रेणियों को धारण करते हुए इस पर्वत का तट, गिरते हुए, पक जाने से पीले वर्ण की लताओं की धूलि से पिङ्गल वर्ण का शोभित हो रहा है ।

टिप्पणी—यदि आर्या के पूर्वार्द्ध में अन्त में एक गुरु अधिक रख दिया जाय, अर्थात् सात गणों के अनन्तर चार मात्रा का आठवाँ भी गण हो और उत्तरार्द्ध जिसका पूर्वार्द्ध के सर्वथा समान हो, अर्थात् यति, चरण, समाप्ति आदि पूर्वार्द्ध के समान हों, तो उसे आर्यागीति छन्द कहते हैं यह अर्धसम छन्द है । इसके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध समान होते हैं तथा प्रत्येक में बत्तीस-बत्तीस मात्राएँ होती हैं । वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण इस प्रकार है—

आर्या पूर्वार्द्धं यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधने युक्तम् ।
इतरस्तद्वन्निखिलं दलं यदीयमुदितेयमार्यागीतिः ॥ ४८ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

प्राग्भागतः पतदिहेदमुपत्यकासु भृङ्गारितायतमहेभकराभमम्भः ।
संलक्ष्यते विविधरत्नकरानुविद्धमूर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु ॥ ४९ ॥

अन्वयः—इह प्राग्भागतः उपत्यकासु पतत् शृङ्गारितायतमहेभकराभम्, विविधरत्नकरानुविद्धम् इदम् अम्भः, ऊर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु संलक्ष्यते।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन्नद्रौ। प्राग्भागतः=ऊर्ध्वप्रदेशात्। 'प्राग्भागतः' इत्यस्य स्थाने 'प्राग्भारतः' इति इति पाठान्तरम्। तत्र प्राग्भारतः=शिखरसमीपादित्यर्थः। उपत्यकासु=अधःप्रदेशेषु। पतत्=निपतत्। शृङ्गारितायतमहेभकराभम्=सुधागैरिकादिरञ्जितदीर्घविशालहस्तिशुण्डादण्डशोभम्। विविधरत्नाकरानुविद्धम्=अनेकवर्णमणिकिरणच्छुरितम्। इदम्=पुरो दृश्यमानम्। अम्भः-जलम्। ऊर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु=ऊर्ध्वीकृतशक्रधनूःरमणीयम्। संलक्ष्यते=अवलोक्यते। अत्र सुराधिपचापस्योर्ध्वत्वाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। अभूतोपमेति केचित्, उपमोत्प्रेक्षेति बल्लभदेवः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे दिग्गजमण्डने' इति विश्वः। 'अयास्त्रियौ। धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्। इष्वासः' इत्यमरः।

समासः—शृङ्गारोऽस्य सञ्जात इति शृङ्गारितः स चाऽसौ आयतश्च (क० धा०) शृङ्गारितायतः, महांश्चाऽसौ इभश्च महेभः (क० धा०) तस्य करः (ष० त०) महेभकरः, शृङ्गारितायतश्च स चाऽसौ महेभकरश्च (क० धा०) तस्य आभा इव आभा यस्य (ब० व्री०) तत् शृङ्गारितायतमहेभकराभम्। विविधानि च तानि रत्नानि विविधरत्नानि (क० धा०) तेषां कराः (ष० त०) तैः अनुविद्धम् (तृ० त०) विविधरत्नकरानुविद्धम्। सुराणाम् अधिपः (ष० त०) सुराधिपः, तस्य चापः (ष० त०) सुराधिपचापः, ऊर्ध्वं प्रसारितः स चाऽसौ सुराधिपचापश्च (क० धा०) स इव चारु (उपमितसमासः) तत्—ऊर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु।

व्याकरणम्—उपत्यका उप+त्यकन् 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' (५।२।३४) इति। संलक्ष्यते—सम्+लक्ष+यक्+लट्—त।

हिन्दी—इस पर्वत पर ऊपर की ओर से (गैरिकादि धातुओं से मिश्रित होकर) उपत्यकाओं (पहाड़ों के निचले भागों) में गिरता हुआ, अत एव सिन्दूरादि से मण्डित गजराज के लम्बे सूंड़ के समान अनेक रत्न-किरणों से अनुरञ्जित यह जल, ऊपर की ओर फैलाये हुए इन्द्रधनुष के समान सुन्दर दिखाई देता है ॥ ४९ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

दधति च विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितानिवैताः।
क्षणमलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः शिखरशिखाः शिखिशेखरानमुष्य ॥ ५० ॥

अन्वयः—च अमुष्य एताः शिखरशिखाः विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः अभिगुम्फितान् इव (स्थितान्) अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः शिखिशेखरान् क्षणं दधति।

बालबोधिनी—च = किञ्च। अमुष्य = अस्याद्रेः। एताः = अग्रे दृश्यमानाः। शिखरशिखाः = शृङ्गचूडाः, शिखररूपकेशपाश्यः। विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः = विकसन्नानावर्णकल्पवृक्षपुष्पैः। अभिगुम्फितान् = ग्रथितान्। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। स्थितानिति शेषः। अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः = विशाललम्बमानबर्हमालागुणान्, विशाललम्बमानबर्हस्रजः। शिखिशेखरान् = मयूररूपापीडान्। क्षणं = क्षणमात्रम्। दधति = बिभ्रति। अत्र कुसुमगुम्फेनोत्प्रेक्षालिङ्गेन पिच्छादीनां दामादिरूपकसिद्धिस्तदुत्थापिता चोत्प्रेक्षेति सङ्करः। पुष्पिताग्रावृत्तम्।

कोशः—'शिखा चूडा केशपाशी' इत्यमरः। 'मयूरो बर्हिणो बर्हीं नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्। शिखावलः शिखी केकी मेघनादानुलास्यपि' इत्यमरः। 'शिखास्वापीडशेखराः' इत्यमरः।

समासः—शिखराणि एव शिखाः (रूपकसमासः) कल्पद्रुमस्य कुसुमानि कल्पद्रुमकुसुमानि (ष० त०) विकसन्ति च विचित्राणि च तानि कल्पद्रुमकुसुमानि (क० धा०) तैः विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः। अभितः गुम्फितान् (प्रादिसमासः) अभिगुम्फितान्। अलघूनि च विलम्बीनि च तानि पिच्छानि अलघुविलम्बिपिच्छानि (क० धा०) तान्येव दामानि येषु तान् (ब० व्री०) अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः। शिखिनः एव शेखराः तान्—शिखिशेखरान् (रूपकसमासः)।

व्याकरणम्—दधति—डुधाञ् धारणपोषणयोः + लट्—झि—अत्।

हिन्दी—और—इस पर्वत की ये शिखर रूपी चूडाएँ खिले हुए रंगबिरंगे कल्पवृक्ष के फूलों से मानो गुंथे हुए के समान, विशाल लटकते हुए मयूरपिच्छ की माला वाले मयूर रूपी शिरोभूषणों को धारण करती हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर्वत के शिखर, चूडा (जूडा या बँधी हुई चोटी) के समान तथा मयूर, शिरोभूषण (वह फूलों की माला जिसे स्त्रियाँ अपने जूड़े के

ऊपर भूषण के रूप में पहनती हैं) के समान, और मयूरपिच्छ, खिले हुए कल्पवृक्ष के फूलों के समान हैं ॥ ५० ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरतममन्दरागतामरसदृशः ।
नासेवन्ते रसवन्न नवरतममन्दरागतामरसदृशः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अस्मिन् अनवरतममन्दरागतामरसदृशः, अमन्दरागतामरसदृशः सुखिनः सवधूकाः रसवत् नवरतं न आसेवन्ते इति न ।

बालबोधिनी—अस्मिन् = अस्मिन् पर्वते । अनवरतममन्दरागतामरसदृशः= श्रेष्ठतममन्दराचलागतदेवतुल्याः । अथवा—'अनवरतम्' इति पृथक् पदम् । अमन्दरागताः = मन्दराचलानायाताः ते च ते अमरसदृशः=देवतुल्याः भूस्था अपि देवतुल्या इत्यर्थः । अथवा—अमन्दरागता ये अमराः तत्सदृशा इति योज्यम् । अमन्दरागतामरसदृशः=अतिरक्तपद्मसमाननेत्राः । सुखिनः=भोगिनः । सवधूकाः=वधूभिः सह वर्तमानाः । रसवत्=सानुरागम् । नवरतम्=नूतन-सुरतम्; अपूर्वनिधुवनम् । नासेवन्ते इति न, किन्त्वासेवन्ते एवेत्यर्थः । अत्र 'नासेवन्ते इति न' इति निषेधस्य निषेधात् प्रतिज्ञारूपो विधिरत्र प्रतीयते । तदुच्यते—'द्वौ प्रतिषेधौ सन्तौ स्वयं प्रकृतार्थं ब्रूतः' इति । उपमालङ्कारः । आर्या गीतिः ।

कोशः—'पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः ।

समासः—मन्दराद् आगताः मन्दरागताः (ष० त०) ते च ते अमराः (क० धा०) तैः सदृशः (तृ० त०) मन्दरागतामरसदृशः, अनवरताश्च ते मन्दरागतामरसदृशाश्च (क० धा०) अनवरतममन्दरागतामरसदृशः । अमन्द-रागाणि च तानि तामरसानि (क० धा०) अमन्दरागतामरसानि, तानीव दृशौ येषां ते—अमन्दरागतामरसदृशः (ब० व्री०) । वधूभिः सह सवधूकाः (ब० व्री०) । नवं च तद् रतम् नवरतम्-तत्-नवरतम् (क० धा०) ।

व्याकरणम्—सवधूकाः—वधूभिः सहेति—'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिः, 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । आसेवन्ते—आङ्—षेवृ सेवने+लट्–झ ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर श्रेष्ठतम तथा मन्दराचल से आये हुए देवताओं के समान एवं अत्यन्त रक्तवर्ण कमल के समान नेत्रवाले भोगिलोग, (अपनी) स्त्रियों के साथ अनुराग युक्त नवीन सुरत का सेवन नहीं करते हैं, यह बात नहीं है, परन्तु नवीन सुरत का सम्यक् प्रकार से सेवन करते ही हैं।

पुनः कीदृश इत्याह—

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्तरावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः ।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानैर्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—एषः महान्तं पुष्पपटम् आच्छाद्य, अन्तः आवर्तिभिः गृहकपोत-शिरोधराभैः आगुरवीं धूमरुचिं दधानैः नवनीरदानां पटलैः स्वाङ्गानि धूपायति इव ।

बालबोधिनी—एषः=अयं पर्वतः । महान्तं=सुदीर्घम्, विशालम् । पुष्पपटं= कुसुमवस्त्रम् । आच्छाद्य=परिधाय । अन्तः=पटाभ्यन्तरे । आवर्तिभिः=अभीक्ष्णं भ्रमद्भिः । गृहकपोतशिरोधराभैः = गृहपारावतकण्ठवन्नीलैः । आगुरवीं= कालागुरुसम्बन्धिनीम् । धूमरुचिं=धूमकान्तिम् । तत्सदृशीं कान्तिमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । दधानैः=धारयद्भिः । नवनीरदानां=नवीनमेघानाम् । पटलैः=समूहैः । स्वाङ्गानि = आत्मीयावयवान् । धूपायतीव=धूपैरिवाधि-वासयतीव । अन्योऽपि विलासी महान्तं पुष्पवासितं पटं वासविशेषं वा परिधाय, अन्तर्वर्तिनं वाऽगुरुधूपं कृत्वात्मानं धूपायति । अत्र धूपायतीवेत्युत्प्रेक्षा, रूपको-पमानिदर्शनाभिरङ्गभूतैः सङ्कीर्यते । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'पारावते कपोतः स्यात्' इति विश्वः । 'कालागुर्वगुरुः स्यात्' इत्यमरः ।

समासः—पुष्पाणि एव पटः (रूपकसमासः) तम्—पुष्पपटम् । गृहे पालितः कपोतः गृहकपोतः. तस्य शिरोधरायाः आभा इव आभा येषां तैः गृह-कपोतशिरोधराभैः (तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः) अगुरोः इयम्—आगुरवी, ताम्—आगुरवीम् । धूमस्य रुचिः (ष० त०) ताम्—धूमरुचिम् । नीरं ददातीति नीरदाः (उपपदसमासः) नवाश्च ते नीरदाः (क० धा०) तेषाम्—नव-नीरदानाम् । स्वस्य अङ्गानि स्वाङ्गानि (ष० त०) तानि—स्वाङ्गानि ।

व्याकरणम्—आवर्तिभिः—आङ् + वृतु वर्तने + णिनिः 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।१।८१) इति णिनिः । धूपायति—धूपसन्तापे, गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' (३।१।२८) इत्यायप्रत्ययः + लट्—तिप् ।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत विशाल पुष्प रूपी वस्त्र को अच्छादित कर, अर्थात् पुष्पों रूपी वस्त्रों से अपने को ढककर (फूलों रूपी वस्त्र को) भीतर चक्कर काटते हुए घर में पाले हुए कबूतर की गर्दन के समान नील कान्ति वाले तथा अगर की शोभा को धारण करने वाले नवीन बादलों के समूहों से अपने अङ्गों को धूप से सुवासित (धूपित) कर रहा है।

टिप्पणी—यह पर्वत बहुत ऊँचा है और इस पर जो वृक्ष हैं वे फूलों से लदे हुए हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इस पर्वत ने फूलों की चादर ओढ़ रक्खी हो। पर्वत की ऊँचाई इतनी है कि बादल पहाड़ के ऊपरी भाग में फूलों से नीचे चक्कर काट रहे हैं। उन कालागरु के समान कान्ति वाले बादलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पर्वत अपने अङ्गों को धूप का धूआँ देकर सुवासित कर रहा हो॥ ५२॥

अपरं कथम्भूत इत्याह—

अन्योऽन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रैरत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखैः ।
विस्मेरान् गगनसदः करोत्यमुष्मिन्नाकाशे रचितमभित्तिचित्रकर्म ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अमुष्मिन् अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः (अत एव) विचित्रैः अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः मयूखैः आकाशे रचितम् अभित्ति चित्रकर्म गगनसदः विस्मेरान् करोति।

बालबोधिनी—अमुष्मिन्=अस्मिन् पर्वते। अन्योऽन्यव्यतिकरचारुभिः=परस्परमयूखसम्बन्धरम्यैः। अत एव-विचित्रैः=नानावर्णैः। अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः=निर्दोषनूतनरत्नोत्पत्तिभिः, अस्फुटितरत्नजातैः। मयूखैः=किरणैः। आकाशे=गगने। रचितं=निर्मितम्=अकुड्यम्, कुड्यरहितम्। अनाधारमित्यर्थः। चित्रकर्म=आलेख्यकृत्यम्। गगनसदः=खेचरान्, देवान्। विस्मेरान्=विस्मयशीलान्। करोति=विधत्ते। विस्मापयते इत्यर्थः। अत्र मणिमयूखेषु गगने चित्रकर्मभ्रान्तिमतामेवाभित्तिचित्रकर्मेत्यकारणकार्योत्पत्तिवर्णनाद्भ्रान्तिमदलङ्कारोत्थापिता विभावनेति सङ्करः। 'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' इति विभावनालक्षणात्। प्रहर्षिणी वृत्तम्। 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षणीयम्' इति लक्षणात्।

कोशः—'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः। 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः।

समासः—अन्योऽन्येषां व्यतिकरः (ष० त०), तेन चारुभिः (तृ० त०) अन्योऽन्यव्यतिकरचारुभिः। नवाश्च ते मणयः नवमणयः (क० धा०) अत्रस्य-

न्नवमणयः, तेभ्यो जन्म येषां तैः अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः (ब० व्री०)। चित्रं च तत् कर्म च–चित्रकर्म (क० धा०) गगने सीदन्ति (सञ्चरन्ति) इति गगनसदः (उपपदसमासः) तान्–गगनसदः।

व्याकरणम्—विस्मेरान्–ष्मिङ् ईषद् हसने + र–'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' (३।२।१६७) इति र-प्रत्ययः। करोति—डुकृञ्करणे–लट्–तिप्।

हिन्दी—इस पर्वत पर मिलने से सुन्दर (अत एव) अनेक रङ्ग वाले निर्दोष मणियों से उत्पन्न होने वाली किरणों द्वारा आकाश में विना भीत के ही बनाई गयी चित्रकारी, आकाशगामियों (देवाङ्गनाओं) को विस्मित करती है॥ ५३ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला बलाहकततीः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—समीरशिशिरः शिरःसु वसतां निकामसुखिनां सतां मुदं जनयन् अयम् अपाम् अपायधवलाः बलाहकततीः जवनिकाः बिभर्ति।

बालबोधिनी—समीरशिशिरः=वायुशीतलः। शिरःसु=शिखरेषु। वसतां=वासं कुर्वताम्, स्थितानाम्। निकामसुखिनां=अत्यन्तसुखिनाम्। सतां=पुण्यवताम्, साधूनाम्। मुदं=हर्षम्। जनयन्=उत्पादयन्। अयं=रैवतकपर्वतः। अपां=जलानाम्। अपायधवलाः=अपगमसिताः, तोयवृष्ट्या श्वेता इत्यर्थः। बलाहकततीः=मेघपङ्क्तीः, मेघमालाः। जवनिकाः=तिरस्करिणीः। बिभर्ति=धारयति। अनावृतेष्वपि शिखरेषु क्रीडने मेघैरेवावरणतां सम्पाद्य मुदं जनयतीत्यर्थः। अत्र बलाहकततिष्वारोप्यमाणानां जवनिकानां मुदं जनयन्निति प्रकृतोपयोगिवर्णनात् परिणामालङ्कारः। 'विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि। परिणामो भवेत्' इति लक्षणात्। जलोद्धतगतिर्वृत्तम्। 'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः।' इति लक्षणात्।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः' इत्यमरः। 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा' इत्यमरः! 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः।

समासः—समीरेण शिशिरः समीरशिशिरः (तृ० त०)। निकामं सुखिनः निकामसुखिनः, तेषाम्—निकामसुखिनाम्। अपायेन धवलाः, अपायधवलाः

(तृ० त०)। बलाहकानां ततयः बलाहकततयः (ष० त०) ताः बलाहकततीः।

व्याकरणम्—बिभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः+लट्–तिप्, 'भृञामित्' (७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वे।

हिन्दी—वायु से शीतल तथा (अपनी) चोटियों पर रहने वाले अत्यन्त सुखी सज्जनों को यह रैवतक पर्वत, जल के बरस जाने से श्वेत वर्ण वाले मेघों के समूह रूपी पर्दों को धारण कर रहा है ॥ ५४ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इह समाधिभृतः मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः (अत एव) क्लेशप्रहाणं विधाय (अतः) लब्धसबीजयोगाः (सन्तः) सत्त्वपुरुषान्यतया ख्यातिं च अधिगम्य (अथ) ताम् अपि निरोद्धुम् वाञ्छन्ति।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् पर्वते। समाधिभृतः=योगिनः। मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः=मैत्र्यादिचित्तशोधकभाजः। मैत्र्यादिभिः क्षीणान्तःकरणमला इत्यर्थः। (अत एव–) क्लेशप्रहाणम् = अविद्यादिपञ्चक्लेशक्षयम्। विधाय=कृत्वा। क्लेशान् हित्वेत्यर्थः। अतः लब्धसबीजयोगाः=प्राप्तसालम्बनयोगाः। सत्त्वपुरुषान्यतया = प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वेन। ख्यातिं=ज्ञानम्। चेति समुच्चये। अधिगम्य=प्राप्य। प्रकृतिपुरुषौ भिन्नाविति ज्ञात्वेत्यर्थः। 'प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाग्रहणात् संसारः। विवेकग्रहणान्मुक्तिः' इति सांख्याः। (अथ) ताम्=ख्यातिम्। अपीति समुच्चये। निरोद्धुं=निवर्तयितुम्। वाञ्छन्ति=अभिलषन्ति। वृत्तिरूपां तां निवर्त्य स्वयंप्रकाशतयैव स्थातुमिच्छन्तीत्यर्थः। 'प्रकृतावुपरतायां पुरुषस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः' इति सांख्यसिद्धान्तः। न केवलं भोगभूमिरियं, किन्तु मोक्षक्षेत्रमपीति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम्। अथ योगादयः पारिभाषिकाः शब्दाः योगशास्त्रानुसारं व्याख्यायन्ते—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।१), 'योगः समाधिः' (व्यासभाष्यम्–सूत्र १।१) इति चित्तवृत्तीनां निरोधः = बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च योगोऽष्टाङ्गः।

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' (यो० सू० १।२९)। पञ्चवृत्तयश्च—'प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (यो० सू० १।६) इति। 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' (यो० सू० १।७)। 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' (यो० सू० १।८) 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो० सू० १।९)। अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा' (यो० सू० १।१०) 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः' (यो० सू० १।११)। आसां वृत्तीनामभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधो भवति। परमत्र व्याधिस्त्यानप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा विघ्नस्वरूपा भवन्ति। अत एषां विक्षेपाणां दूरीकरणाय चेतसः प्रशोधनमावश्यकम्। अत्र मैत्र्यादीनि चत्वारि चित्तस्य परिशोधकानि। सुखितेषु मैत्री=सौहार्दम्। दुःखितेषु करुणा=कृपा। पुण्यवत्सु मुदिता=हर्षः। पापिषु उपेक्षा=औदासीन्यम्। किञ्च—पञ्चक्लेशा अपि योगशास्त्रे इत्थं प्रतिपादिताः—'अविद्याऽस्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः' (यो० सू० २।३) इति। तत्रानित्येषु नित्यत्वाभिमानः अनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरित्यादिविभ्रमोऽविद्या'। अस्मिता अहङ्कारः। रागोऽभिमतविषयाभिलाषः। द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः। अभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः। ते हि पुरुषं क्लिश्यन्तीति क्लेशाः=क्लेशहेतवः। सत्त्वं=प्रकृतिः। पुरुषः=आत्मा।

समासः—समाधिं बिभ्रतीति समाधिभृतः (उपपदसमासः)। चित्तस्य परिकर्माणि चित्तपरिकर्माणि (ष० त०), मैत्री आदिर्येषां तानि मैत्र्यादीनि (ब० व्री०), मैत्र्यादीनि च तानि चित्तपरिकर्माणि (क० धा०), मैत्र्यादिचित्तपरिकर्माणि, तानि विदन्ति (उपपदसमासः) ते—मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः। क्लेशानां प्रहाणम् तत्—क्लेशप्रहाणम् (ष० त०) लब्धः सबीजः योगः यैस्ते—लब्धसबीजयोगाः (ब० व्री०)। सत्त्वं च पुरुषश्च सत्त्वपुरुषौ (इतरेतरद्वन्द्वः) तयोः अन्यता (ष० त०) तया सत्त्वपुरुषान्यतया।

व्याकरणम्—वाञ्छन्ति—वाछि इच्छायाम् + लट्—झि।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर समाधि को धारण करने वाले योगी लोग, मैत्र्यादि चित्त के शोधकों को प्राप्त करने वाले अर्थात्—मैत्र्यादि चित्त परिशोधकों से निर्मल हुए अत एव—अविद्यादि पञ्चक्लेशों को नष्ट कर, सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए, प्रकृति तथा पुरुष के परस्पर भिन्न होने के ज्ञान को प्राप्त करके उसे भी रोकने के लिए, अर्थात् उससे भी आगे बढ़कर स्वयं प्रकाश रूप से स्थित होने के लिए इच्छा करते हैं।

टिप्पणी—योग को ही समाधि कहते हैं। यह योग चित्तवृत्तियों के सर्वथा रुक जाने का नाम है। जिसके—यम-नियम-आसन प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि, ये आठ अङ्ग होते हैं। प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति ये पाँच वृत्तियाँ कहीं जाती हैं। इन्हीं के रोकने से योग सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) ये तीन प्रमाण कहलाते हैं। जो उस वस्तु के स्वरूप में स्थित नहीं है ऐसा मिथ्या ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जो ज्ञान, शब्द-ज्ञान के साथ-साथ होने वाला है तथा जिसका विषय वास्तव में नहीं है वह विकल्प कहाता है। अभाव के ज्ञान अवलम्बन करने वाली वृत्ति का नाम निद्रा है। अनुभव किये हुए विषय का न छिपना अर्थात्-प्रकट हो जाना स्मृति कहाता है। व्याधि, स्त्यान, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध, भूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये आठ, योग सिद्धि में चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्न स्वरूप हैं। अतः इन चित्त विक्षेपों को दूर करके चित्तशुद्धि आवश्यक होती है। वह चित्त शुद्धि—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से होती है। इनमें संसार के सुखी व्यक्तियों से प्रेम करना मैत्री, दुखियों के प्रति दयाभाव रखना करुणा तथा पुण्यात्माओंके प्रति हर्ष प्रकट करना मुदिता और पापियों के प्रति उदासीन होना उपेक्षा कहलाता है। इनकी भावना से चित्त शुद्ध हो जाता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे जाते हैं। इनमें अनित्य सांसारिक पदार्थों में नित्यत्वकी भावना तथा शरीरादि अनात्माओं में आत्मज्ञान होना अविद्या कहाता है। परम पुरुष तथा बुद्धि को धर्मतः तथा स्वरूपतः एक मानना ही अहङ्कार या अस्मिता कहाता है। अभीष्ट पदार्थों की इच्छा रखना, राग तथा—अनभिमत पदार्थों के प्रति द्वेष कहाता है। कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य कार्यों में आग्रह (हठ) करना अभिनिवेश कहाता है। ये पाँच, मनुष्यों को क्लिष्ट करते अर्थात् सताते हैं, अतः क्लेश कहलाते हैं। प्रकृति तथा पुरुष का भेद-ज्ञान न होने से सांसारिक बन्धन तथा इन दोनों के भेद ज्ञान से मुक्ति होती है। उस समय प्रकृति, पुरुष से उपरत हो (हट) जाती है और शुद्ध स्वरूप पुरुष ही प्रकाश भाव से स्थित रहता है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि यह पर्वत केवल भोगियों का ही विहार-स्थान नहीं है किन्तु योगियों का भी निवास स्थान है ॥ ५५ ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इह मरकतमयमेदिनीषु तरुविटपान्तरपातिनः स्फुरिताणुरेणुजालाः भानोः मयूखाः अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीं दधति ।

बालबोधिनी—इह = अत्रादौ । मरकतमयमेदिनीषु = गारुत्मयभूमिषु । तरुविटपान्तरपातिनः = वृक्षपल्लवावकाशसञ्चारिणः । स्फुरिताणुरेणुजालाः = विलसितसूक्ष्मरजःसमूहाः । भानोः = सूर्यस्य । मयूखाः = किरणाः । अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीम् = आनम्रमयूरगलशोभाम् । दधति = बिभ्रति । निदर्शनालङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

कोशः—'विटपः पल्लवे षिङ्गे विस्तारे स्तम्भशाखयोः' इति विश्वः । 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः । 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः ।

समासः—मरकतानां विकाराः मरकतमय्यः ताश्च ताः मेदिन्यः (क० धा०) तासु—मरकतमेदिनीषु । तरूणां विटपाः तरुविटपाः (ष० त०) तेषाम् अन्तराणि (ष० त०); तैः पतन्तीति तथोक्ताः—तरुविटपान्तरपातिनः । अणवश्च ते रेणवः अणुरेणवः (क० धा०) तेषां जालानि (ष० त०) अणुरेणुजालानि, स्फुरितानि अणुरेणुजालानि येषु ते स्फुरिताणुरेणुजालाः (ब० व्री०) । शितिः कण्ठो यस्य सः—शितिकण्ठः (ब० व्री०), तस्य कण्ठः शितिकण्ठकण्ठः (ष० त०), अवनतश्चाऽसौ शितिकण्ठकण्ठः (क० धा०) तस्य लक्ष्मीः (ष० त०) ताम्—शितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीम् ।

व्याकरणम्—दधति—डुधाञ् धारणपोषणयोः + लट्—झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर मरकत मणि की भूमियों पर वृक्षों के पत्तों के मध्य (छिद्रों) से गिरने वाली तथा जिनमें सूक्ष्म धूलिकण चमक रहे हैं ऐसी किरणें, नीचे की ओर झुकी हुई मयूर की गर्दन की शोभा को धारण कर रहे हैं, अर्थात् उनके समान शोभित हो रही हैं ।। ५६ ।।

अपरं कथंभूत इत्याह—

या बिभर्ति कलवल्लकीगुणस्वानमानमतिकालिमालया ।
नात्र कान्तमुपगीतया तया स्वानमा नमति कालिमालया ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अत्र अतिकालिमा अलया या कलवल्लकीगुणस्वानमानम् बिभर्ति, उपगीतया तया अलिमालया स्वानमा का कान्तं न नमति ।

बालबोधिनी—अत्र=अस्मिन् पर्वते। अतिकालिमा=अत्यन्तश्यामा। अलया=चञ्चला; भ्रमन्तीत्यर्थः। अत एव सस्वनेति भावः। या=अलिमाला। कलवल्लकीगुणस्वानमानम्=अव्यक्तमधुरवीणातन्त्रीशब्दोपमानम्। बिभर्ति=धारयति। तन्त्रीवद् ध्वनतीत्यर्थः। उपगीतया=समीपे गातुं प्रवृत्तयैव। न तु पूर्वं गायन्त्येति भावः। तया=पूर्वोक्तया। अलिमालया=भ्रमरपङ्क्त्या, भृङ्गावल्या। स्वानमा=सुखेनाक्रष्टुं शक्या। का=का वा स्त्री; का वा नारी। कान्तं=स्ववल्लभम्। न नमति=स्वयं न प्रणमति। सर्वाऽपि मानं विहाय कान्तं सद्यः प्रणमत्येव। गानस्य तथोद्दीपकत्वादिति भावः। अत्रोपमायमकयोः सङ्करः। रथोद्धतावृत्तम्। 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात्।

कोशः—'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः। द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः।

समासः—अत्यन्ता कालिमा यस्याः सा–अतिकालिमा (ब० व्री०)। वल्लक्याः गुणः वल्लकीगुणः (ष० त०) तस्य स्वानः (ष० त०) वल्लकीगुणस्वानः, कलश्चाऽसौ वल्लकीगुणस्वानः (क० धा०). तस्य मानम् तत्—कलवल्लकीगुणस्वानमानम्। समीपे गीता उपगीता; तया–उपगीतया (प्रादिसमासः)। सुखेन आनमयितुं शक्या स्वानमा (प्रादिसमासः)।

व्याकरणम्—उपगीतया–उप+गै शब्दे+क्तः 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति। बिभर्ति–डुभृञ्धारणपोषणयोः+लट्–तिप्। नमति–णम्+लट्–तिप्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर अत्यन्त श्याम वर्णवाली तथा चञ्चल (अत एव गूँजती हुई) जो भ्रमरश्रेणी अव्यक्त मधुर वीणा-तन्त्र की ध्वनि को धारण करती है, तर्थात् वीणा तन्त्री के समान गूँजती है। समीप में गान करती (गूँजती) हुई उस भ्रमर श्रेणी के द्वारा सुखपूर्वक नम्र करने योग्य कौन स्त्री (अपने मान को छोड़कर) पति को प्रणाम नहीं करती है, अर्थात् भ्रमर श्रेणी का गुञ्जन कामोद्दीपक होने से सभी स्त्रियाँ मान त्यागकर पति के समीप नम्र हो जाती हैं॥ ५७॥

अपरं कथंभूत इत्याह—

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नि तप्तास्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः॥५८॥

अन्वयः—इह वप्राः सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः अह्नि अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः तप्ताः तीव्रं महाव्रतम् इव चरन्ति।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् पर्वते । वप्राः=सानवः । सायं=सायङ्काले । रात्राविति भावः । शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण=चन्द्ररश्मिस्पृष्टचन्द्रकान्तमणिप्रस्राविजलपूरेण । 'निस्यन्दि' इत्यस्य स्थाने–'निस्यन्द–' इति पाठान्तरम् । तत्र–निस्यन्देन=स्नुतेनेत्यर्थः । कृताभिषेकाः=कृतस्नानाः । अह्नि=दिवसे । अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः=सूर्यकान्तोत्थिताग्निभिः । तप्ताः सन्तप्ताः । 'दीप्ता' पाठान्तरेऽपि तुल्य एवार्थः । तीव्रम्=उग्रम् । महाव्रतं=महातपः । चरन्ति=तपन्ति । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । वसन्ततिलकावृत्तम् । अन्योऽपि यः किल व्रतमाचरति स रात्रौ जले स्नात्वोषित्वा वा दिवसे पञ्चाग्निमध्ये व्रतमाचरति ।

कोशः—'वप्रोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः । 'नियमो व्रतमस्त्री' इत्यमरः ।

समासः—नीरस्य निकरः नीरनिकरः (ष० त०), शशाङ्कस्य किरणाः (ष० त०) तैः आहृताः (तृ० त०) ते च ते चन्द्रकान्ताः (क० धा०) तेभ्यः निस्यन्दी (प० त०), स चाऽसौ नीरनिकरश्च (क० धा०) तेन—शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण । कृतः अभिषेको यैस्ते कृताभिषेकाः (ब० व्री०) । अर्कोपलेभ्यः उल्लसिताः (प० त०) ते च ते वह्नयः (क० धा०) तैः–अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः । महाँश्चाऽसौ व्रतश्च महाव्रतः (क० धा०) तम्–महाव्रतम् ।

व्याकरणम्—चरन्ति–चर गति-भक्षणयोः+लट्–झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर रात्रि में चन्द्रकिरणों से स्पृष्ट (स्पर्श किये हुए) चन्द्रकान्तमणियों से बहने वाले जलप्रवाह से स्नान किये हुए तथा दिन में सूर्यकान्त मणियों से निकली हुई अग्नियों से सन्तप्त चोटियाँ मानो महान् तप कर रही हैं ॥ ५८ ॥

पुनः कीदृश इत्याह—

एतस्मिन्नधिकपयःश्रियं वहन्त्यः संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः ।
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—एतस्मिन् अधिकपयःश्रियं वहन्त्यः पवनभुवा जवेन संक्षोभं नीताः (अरहितरामलक्ष्मणाः) महासरस्यः (अधिकपीनां श्रियं वहन्तीनां पवनभुवा जवेन संक्षोभं नीतानाम्) अरहितरामलक्ष्मणानां वाल्मीकेः गिरां साधर्म्यं दधति ।

बालबोधिनी—एतस्मिन् = अत्र पर्वते। अधिकपयःश्रियं=बह्वीं जल-समृद्धिम्। वहन्त्यः=धारयन्त्यः। पवनभुवा=वायुजन्येन। जवेन=वेगेन। संक्षोभं=चलनम्। नीताः=प्रापिताः। वायुना कम्पिता इत्यर्थः। (अरहित-रामलक्ष्मणाः = अवियुक्तरमणसारसयोषितः) महासरस्यः = महासरांसि; महातडागाः [अधिकपीनां=अधिकवानराणाम्। श्रियं=गुणालङ्कारादिशोभाम्। वहन्तीनां=धारयन्तीनाम्। पवनभुवा=हनूमता। जवेन=समुद्रलङ्घनाग्नि-दाहादिना वेगेन। अथवा—'जवेन=जविना, वेगवता। इति 'पवनभुवा' इत्यस्य विशेषणत्वेन योजनीयम्। संक्षोभं=औद्धत्यम्। नीतानां=प्रापिता-नाम्। हनूमद्वेगवर्णनया प्रागल्भ्यं नीतानामित्यर्थः]। अरहितरामलक्ष्मणानां=सदा विद्यमानदाशरथीनाम्। वर्णनीयत्वेन सदोपस्थितरामलक्ष्मणनामकदशरथ-पुत्राणाम्। वाल्मीकेः=वल्मीकजन्मनो मुनेः। गिरां=वाणीनाम्; रामायणरूपाणा-मित्यर्थः। साधर्म्यं = साम्यम्। दधति=धारयन्ति। अत्र पवनभुवा जवेने-त्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदभग्नैकपादगत्वेनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः। अन्यत्र पद-भङ्गेनार्थद्वयप्रतीतेर्जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव मिथः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेषः इत्युभय-साहित्यादुभयश्लेषोऽयं प्रकृताप्रकृतगोचरः। उपमा त्वङ्गमिति सङ्करालङ्कारः। प्रहर्षिणीवृत्तम्। लक्षणन्तूक्तमेव। अत्रोभयविशेषणानामुभयत्र विभक्तिविप-रिणामेन सङ्गतिः कर्त्तव्या; अन्यथा साधर्म्यस्य प्रतीतिरेव न स्यात्।

कोशः—'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' इत्यमरः। 'लक्ष्मणौष-धिसारस्योः' इति विश्वश्च। 'श्रीर्वेशरचना शोभा भारती सरलद्रुमे। लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्तिविद्योपकरणेषु च' इति मेदिनी।

समासः—पयसः श्रीः पयःश्री (ष० त०) अधिका चाऽसौ पयःश्रीः (क० धा०) ताम्—अधिकपयःश्रियम्। अन्यत्र—अधिकृताः (वर्णनीयत्वेन प्रस्तुताः) कपयो यासु ताः—अधिकपयः, तासामिति विग्रहेऽपि अर्थानुसारं विभक्तिविपरिणामः कर्त्तव्यः। एवमग्रेऽपि। पवनाद् भवतीति पवनभूः, तेन—पवनभुवा—(उपपदसमासः)। रामैः अरहिताः अरहितरामाः, अरहित-रामाश्च ताः लक्ष्मणाश्च (क० धा०), ताः सन्ति यासु ताः—अरहितराम-लक्ष्मणाः। अन्यत्र—अरहितौ रामलक्ष्मणौ याभिस्तासाम्—अरहितरामलक्ष्मणा-नाम्। समानो धर्मो येषां ते सधर्माः, तेषां भावः साधर्म्यम्।

व्याकरणम्—दधति–डुधाञ् धारणपोषणयोः + लट्–झि।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर अधिक जल सम्पत्ति (जलाधिक्य) को धारण करने वाली तथा वायुजन्य वेग से संक्षुब्ध (कँपाई गई और) सपत्नीक सारसों वाली बड़ी-बड़ी झीलें, अधिक वानरों वाली तथा गुणालङ्कार की शोभा को धारण करने वाली एवं वेग वाले हनूमान् के द्वारा औद्धत्य को प्राप्त अर्थात् वेगवान् हनूमान् का वर्णन करने से प्रगल्भ बनी हुई और राम तथा लक्ष्मण (की चर्चा) से युक्त वाल्मीकि मुनि की वाणियों की समानता को धारण करती हैं।

टिप्पणी—यहाँ दोनों सरसियों तथा वाणियों के विशेषण दोनों में विभक्ति विपरिणाम से सङ्गत कर लेने चाहिये। जैसा कि संस्कृत टीका तथा तदनुसार हिन्दी अनुवाद में किया गया है। अन्यथा साधर्म्य की प्रतीति ही नहीं होगी। भाव यह है कि इस पर्वत पर बड़ी-बड़ी झीलें हैं जिनमें अत्यधिक जल की अपेक्षा विराजमान है। वे हवा के वेग से तरङ्गित हो रही हैं। उनमें सारसियाँ कभी सारसों से वियुक्त नहीं होती हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि की रामायण रूपी वाणियाँ भी बहुत बन्दरों (की कथा) वाली एवं गुणालङ्कार की शोभा से युक्त और वेगवान् हनूमान् जी से क्षोभ को प्राप्त तथा रामलक्ष्मण की चर्चा से जो युक्त हैं। इन दोनों की परस्पर समानता लक्षित हो रही है॥ ५९॥

अपरं कीदृश इत्याह—

इह मुहुर्मुदितैः कलभैः रवः प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः कनकरत्नभुवां च मरीचयः॥ ६०॥

अन्वयः—इह मुदितैः कलभैः प्रतिदिशं कलभैरवः रवः मुहुः क्रियते अनुवनं चमरीचयः स्फुरति च कनकरत्नभुवां मरीचयः (स्फुरन्ति)।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन् पर्वते। मुदितैः=इच्छाविहारसन्तुष्टैः। कलभैः= करिशावकैः। प्रतिदिशं=दिशिदिशि; सर्वदिक्षु। कलभैरवः=मधुरभीषणः। रवः=बृंहितम्। मुहुः=वारं वारम्। क्रियते=विधीयते। अनुवनं=वने वने। चमरीचयः = चमरीमृगसङ्घः। स्फुरति = परिभ्रमति। च = किं च। कनकरत्नभुवां = सुवर्णरत्नभूमीनाम्। मरीचयः = किरणाः। (स्फुरन्ति= विद्योतन्ते)। अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारे यमकस्याभ्युच्चयः। द्रुतविलम्बितवृत्तम्।

कोशः—'कलभः करिशावकः' इत्यमरः।

समासः—दिशि दिशि प्रतिदिशम् (यथार्थेऽव्ययीभावः)। कलभ्राऽसौ भैरवश्च कलभैरवः (विशेषणसमासः)। वने वने अनुवनम् (अव्ययीभावः)। चमरीणां चयः चमरीचयः (ष० त०) कनकरत्नानां भुवः (ष० त०) तासाम्—कनकरत्नभुवाम् ।

व्याकरणम्—प्रतिदिशम्—'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (५।४।१०७) इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। क्रियते—डुकृञ् करणे+कर्मणि लट्—त—यकागमः। स्फुरति—स्फुर् सञ्चलने+लट्—तिप्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर (इच्छानुसार विहार करने से) हर्षित, हाथी के तीस वर्ष के बच्चे प्रत्येक दिशा में अर्थात् चारों ओर अस्पष्ट मधुर एवं भीषण शब्द कर रहे हैं, तथा प्रत्येक वन में चमरी मृगों का समूह घूम रहा है। (या उछल-कूद कर रहा है) और सुवर्णमयी एवं रत्नमयी भूमियों की किरणें प्रकाशित हो रही हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिरस्मिन्नसौ मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः।
कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिरेति रागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अस्मिन् त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः, कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः असौ वायुः रागीव विषयेषु अधिकां सक्तिम् एति।

बालबोधिनी—अस्मिन्=इह पर्वते। त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः=वंशच्छिद्रध्मापनप्राप्तगानसुखः। क्वचिद् 'लब्धगीतिः' इत्यस्य स्थाने—'रक्तगीतिः' इति पाठान्तरम्। तत्र—रक्ता=मधुरा, इत्यर्थः। उभयत्रापि विशेषणमिदं समानम्। मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः=सम्मृष्टलोमशकम्बलमृगशरीरः। अन्यत्र—मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः=सम्मृष्टलोमशकम्बलशरीरः अथवा—सम्मृष्टरागवश्याशरीरः। कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः=कस्तूरिकायोनिहरिणसङ्घर्षशोभनगन्धः। असौ=एवंभूतः। वायुः=पवनः। रागीव=कामीव। विषयेषु=प्रदेशेषु; अन्यत्र—रूपादिविषयेषु। अधिकां=समधिकाम्। सक्तिम्=व्यासक्तिम्; सम्बन्धम्। एति=गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। उपमालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः' इत्यमरः। 'रल्लकः कम्बलमृगे कम्बले परिकीर्तितः' इति वैजयन्ती। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः।

समासः—त्वचि सारो येषां ते—त्वक्साराः (ब० व्री०)। तेषां रन्ध्राणि (ष० त०) तेषां परिपूरणम् (ष० त०) तेन लब्धा गीतिः येन सः (ब० व्री०) त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः। मृदितानि पक्ष्मलानि रल्लकानाम् अङ्गानि येन सः (ब० व्री०) मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः। कस्तूरिकामृगाणां विमर्दः (ष० त०) तेन सुगन्धिः (तृ० त०) कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः।

व्याकरणम्—एति—इण् गतौ+लट्—तिप्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर बाँस के छिद्रों को पूर्ण कर देने से गान सुख को प्राप्त, रोमयुक्त कम्बल (पक्षा०=कम्बलों) के अङ्गों का मर्दन करने वाला तथा कस्तूरी मृग के संसर्ग से सौरभ युक्त यह वायु रागी के समान (शब्द–स्पर्श–गन्धादि) विषयों में अधिक आसक्ति को प्राप्त कर रहा है।

टिप्पणी—यहाँ रागी के पक्ष में–त्वक्सार अर्थात् बाँस के बने हुए वेणु (बाँसुरी) आदि वाद्यों की ध्वनि से श्रवणेन्द्रिय के विषय शब्द की रल्लक-कम्बल से स्पर्शेन्द्रिय के विषय स्पर्श की, और कस्तूरी मृग से घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध की प्राप्ति व्यक्त होती है। ६१॥

अन्यच्च कीदृश इत्याह—

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः।
दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः॥ ६२॥

अन्वयः—इह यूनां प्रीत्यै व्यवहिततपनाः (अत एव–) सुरतक्रीडायास-श्रमशमपटवः जलदाः प्रौढध्वान्तं दिनं दोषामन्यं विदधति।

बालबोधिनी—इह = अस्मिन् पर्वते। यूनां = तरुणानाम्। प्रीत्यै= प्रमोदाय। व्यवहिततपनाः = तिरोहितार्काः। क्वचिद् 'व्यवहिततपनाः' इत्यस्य स्थाने 'व्यवहिततपनम्' इति पाठान्तरम्। तत्र–व्यवहिततपनमिति 'दिनम्' इत्यस्य विशेषणम्, आच्छादितरविमिति चार्थः। अत एव–सुरत-क्रीडायासश्रमशमपटवः = निधुवनकेलिव्यायामखेदवारणसमर्थाः। जलदाः= मेघाः। प्रौढध्वान्तं=गाढान्धकारम्, बहुलान्धकारयुक्तम्। दिनं=दिवसम्। दोषामन्यं=रात्रिमानिनम्। विदधति=कुर्वन्ति। मेघावरणमहिम्ना दिवसः स्वयमप्यात्मानं रात्रिं मन्यते किमुतान्य इत्यर्थः। इह यूनां दोषावद् दिवाऽपि विस्रम्भं विहाराः सम्भवन्तीति भावः। भ्रमरविलसितं वृत्तम्। 'म्भौन्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसितम्' इति लक्षणात्।

कोशः—'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' इति (दशरूपके ४।१२)। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। 'दोषा च नक्तं च रजनावपि' इत्यमरः। 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवस-वासरौ' इत्यमरः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः।

समासः—युवतयश्च युवानश्च, तेषां—यूनाम्। व्यवहितः तपनः यैस्ते—व्यवहिततपनाः (ब० व्री०)। सुरतानि एव क्रीडाः (रूपकसमासः) ताभिः यः आयासः (तृ० त०) तेन यः श्रमः (तृ० त०) तस्य शमः (ष० त०) तत्र पटवः (स० त०) ते—सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः। प्रौढं ध्वान्तं यस्मिन् तत्—प्रौढध्वान्तम् (ब० व्री०)। दोषा आत्मानं मन्यते इति दोषामन्यम् (उपपदसमासः)।

व्याकरणम्—दोषामन्यम्—दोषा + मन ज्ञाने + खश् 'आत्ममाने खश्च' (३।२।८३) इति। विदधति—वि + डुधाञ् धारण-पोषणयोः + लट्—झि।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर युवक लोगों की प्रसन्नता के लिए, सूर्य को ढकनेवाले तथा रतिक्रीडा में उत्पन्न थकावट को दूर करने में समर्थ बादल, घने अन्धकार वाले दिन को, अपने को रात्रि मानने वाला बना रहे हैं अर्थात्—दिन में भी बादल सूर्य को ढककर इतना अँधेरा कर देते हैं कि दिन अपने को रात्रि मानने लगता है। दिन रात्रि के समान अन्धकार से युक्त हो जाता है॥ ६२॥

अपरं कीदृश इत्याह—

भग्नो निवासोऽयमिहास्य पुष्पैः सदानतो येन विषाणिनाऽगः।
तीव्राणि तेनोज्झति कोऽपितोऽसौ सदानतोयेन विषाणि नागः॥ ६३॥

अन्वयः—इह अस्य निवासः सदा पुष्पैः आनतः अयम् अगः सदानतोयेन येन विषाणिना भग्नः तेन कोपितः असौ नागः तीव्राणि विषाणि उज्झति।

बालबोधिनी—इह = अस्मिन्नद्रौ। अस्य = एतस्य नागस्य। निवासः = आश्रयः। सदा = सर्वदा। पुष्पैः = कुसुमैः। आनतः = नम्रः। अयम् = पुरो दृश्यमानः। अगः = वृक्षः। सदानतोयेन = समदजलेन; मत्तेनेत्यर्थः। येन विषाणिना = येन दन्तिना। भग्नः = उन्मूलितः। तेन = तेन विषाणिना। कोपितः = कोपं प्रापितः। असौ = पूर्वोक्तः। नागः = सर्पः। तीव्राणि =

दुःसहानि । विषाणि=गरलानि; क्ष्वेडान् । उज्झति=उद्वमति । परप्रतीकाराक्षमस्य क्रोधः स्वाश्रयमेव व्याहन्तीति भावः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिः छन्दः ।

कोशः—'नागं नपुंसके रङ्गे सीसके कारणान्तरे । नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचारिषु तोयदे' इति मेदिनी । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः ।

समासः—दानतोयेन सह वर्तते इति सदानतोयः (ब० व्री०) तेन सदानतोयेन ।

व्याकरणम्—उज्झति—उज्झ उत्सर्गे+लट्–तिप् ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर, इस सर्प के स्थान; (तथा) पुष्पों (के भार) से झुके हुए इस वृक्ष को जिस मन्दोन्मत्त हाथी ने तोड़ डाला, उस हाथी से क्रोधित किया हुआ वह सर्प तीव्र विषों को उगल रहा है ।

टिप्पणी—इसका तात्पर्य यह है कि शत्रु से बदला लेने में असमर्थ व्यक्ति अपने ही आश्रय को—हानि पहुँचाता है ।। ६३ ।।

अपरं कीदृश इत्याह—

प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि सान्द्रेभचर्मवसनावरणोऽधिशेते ।
सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति न द्वन्द्वदुःखमिह कश्चिदकिञ्चनोऽपि ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ईश्वरः अपि सान्द्रेभचर्मवसनावरणः सन् प्रालेयम् अचलेश्वरम् अधिशेते । सर्वर्तुनिर्वृतिकरे इह निवसन् अकिञ्चनः अपि किञ्चिद् अपि द्वन्द्वदुखं न उपैति ।

बालबोधिनी—ईश्वरोऽपि=शिवोऽपि । किमुतान्यः । सान्द्रेभचर्मवसनावरणः=घनगजकृत्तिपरिधानः सन् । न त्वनावरणो नापि शिथिलाचरण इति भावः । प्रालेयशीतं=हिमशीतलम् । अचलेश्वरं=हिमालयम् । अधिशेते=तस्मिन् स्वपतीत्यर्थः । सर्वर्तुनिर्वृतिकरे=सदा सुखकरे, सर्वदायिनि । इह=अस्मिन् रैवतके । निवसन्=वसन् । अकिञ्चनोऽपि=दरिद्रोऽपि । किञ्चिदपि=स्वल्पमपि । द्वन्द्वदुःखं=शीतोष्णकष्टम् । न उपैति=न प्राप्नोति । सदा सन्निहितानामृतूनामन्योऽन्यदोषनिवारकत्वादिति भावः । अत्रोपमानाद् हिमाचलादुपमेयस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः। 'द्वन्द्वं युग्महिमोष्णादिमिथुनं कलहो रहः' इति वैजयन्ती।

समासः—प्रलयाद् आगतं प्रालेयम्—तेन शीतम्—प्रालेयशीतम् (तृ० त०)। अचलानाम् ईश्वरस्तम्—अचलेश्वरम् (ष० त०)। सान्द्रं च तद् इभचर्म—सान्द्रेभचर्म (क० धा०) तदेव वसनम् (रूपकसमासः) तदेवावरणं यस्य सः (ब० व्री०); सान्द्रेभचर्मवसनावरणः। निर्वृतिं करोतीति निर्वृतिकरः (उपपदसमासः)। सर्वे च ते ऋतवः सर्वर्तवः (क० धा०) तैः निर्वृतिकरः (तृ० त०) तस्मिन्—सर्वर्तुनिर्वृतिकरे। नास्ति किञ्चन अस्य—अकिञ्चनः (निपातनात्तत्पुरुष-समासः)।

व्याकरणम्—प्रालेयम्—प्रलयशब्दात् 'तत आगतः' (४।३।७३) इत्यणि कृते, 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' (७।३।२) इति यशब्दस्येयादेशः। अचलेश्वरम्—अचलेश्वर + अम् 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१।४।४६) इत्याधारस्य कर्मत्वम्। अधिशेते—अधि + शीङ् स्वप्ने + लट्—त। उपैति—उप + इण् गतौ + लट्—तिप्।

हिन्दी—शिवजी (पक्षा० ऐश्वर्यवान्) भी मोटे गजचर्मरूपी वसन को ओढ़े हुए, बर्फ से शीतल कैलाश पर सोते हैं अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न एवं समर्थ शिवजी भी ठंडक के भय से उसके निवारण के लिए मोटे गज चर्म को पहनते तथा ओढ़ते हैं। किन्तु सब ऋतुओं में सुख देने वाले इस रैवतक पर्वत पर निवास करता हुआ दरिद्र भी जरा सा भी शीतोष्ण रूप दुःख को प्राप्त नहीं करता है॥ ६४॥

अन्यच्च कथंभूत इत्याह—

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः,
स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम्॥ ६५॥

अन्वयः—एषः शैलः नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः आभिः स्फटिककटकभूभिः अहिपरिकरभाजः भास्मनैः अङ्गरागैः अधिगतधवलिम्नः शूलपाणेः अभिख्यां नाटयति।

बालबोधिनी—एषः=अयम् । शैलः=पर्वतः । नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः=अभिनववृक्षवनश्रेणिनीलान्तराभिः । आभिः=अग्रे दृश्यमानाभिः । स्फटिककटकभूभिः=असितमणिनितम्बभूमिभिः । अहिपरिकरभाजः=वासुकिपर्यस्तिकाधारिणः । भास्मनैः=भस्ममयैः । अङ्गरागैः=समालम्भनैः अनुलेपनैः । अधिगतधवलिम्नः=प्राप्तधावल्यस्य । शूलपाणेः=शूलिनः । अभिख्यां = शोभाम् । नाटयति=अभिनयति; अनुकरोति । निदर्शनालङ्कारः । मालिनी-वृत्तम् ।

कोशः—'भवेत्परिकरो व्राते पर्यङ्कपरिवारयोः । प्रगाढे गात्रिकाबन्धे विवेकारम्भयोरपि' इति विश्वः । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः ।

समासः—नगानां वनम् नगवनम् (ष० त०), तस्य लेखा (ष० त०) नवा चाऽसौ नगवनलेखा च (क० धा०) नवनगवनलेखा, तया श्यामो मध्यो यासां (ब० व्री०) ताभिः—नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः । अहिरेव परिकरः अहिपरिकरः (रूपक-समासः) तं भजतीति—अहिपरिकरभाक् (उपपदसमासः) तस्य—अहिपरिकरभाजः । भस्मनो विकाराः भास्मनाः तैः भास्मनैः । अङ्गस्य रागाः अङ्गरागाः (ष० त०) तैः अङ्गरागैः । अधिगतः धवलिमा येन तस्य अधिगतधवलिम्नः (ब० व्री०) । शूलं पाणौ यस्य स तस्य शूलपाणेः (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—परिकरभाजः=परिकर + भज + ण्विः + ङस् 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति । अभिख्याम्—अभि + ख्या + अङ् + अम्—'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०६) । नाटयति—नट अवस्यन्दने (नाट्ये) + णिच् + लट्—तिप् ।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत नवीन वृक्षों की पङ्क्तियों से श्याम वर्ण (अन्धकारयुक्त) मध्यभाग (तट-प्रदेश) वाली इन स्फटिकमयी (श्वेत संगमरमर पत्थर की बनी हुई) तट प्रदेश की भूमियों से, वासुकी रूपी परिकर को धारण करने वाले, तथा भस्म के अनुलेपनों (अङ्गरागों) से शुभ्र वर्ण को प्राप्त हुए. शूलपाणि भगवान् शङ्कर की शोभा का अनुकरण कर रहा है ।। ६५ ।।

पुनः कीदृश इत्याह—

दधद्भिरभितस्तटौ विकचवारिजाम्बू नदै-
र्विनोदितदिनक्लमाः कृतरुचश्च जाम्बूनदैः ।

निषेव्य मधु माधवाः सरसमत्र कादम्बरं
हरन्ति रतये रहः प्रियतमाङ्ककादम्बरम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अत्र माधवाः विकचवारिजाम्बू तटौ अभितः दधद्भिः नदैः विनोदितदिनक्लमाः च जाम्बूनदैः कृतरुचः (सन्तः) सरसं कादम्बरं मधु निषेव्य रतये रहः प्रियतमाङ्कात् अम्बरं हरन्ति ।

बालबोधिनी—अत्र=अस्मिन् रैवतके । माधवाः=यादवाः । विकचवारिजाम्बू=प्रफुल्लपद्मजलौ । तटौ=पुलिने । अभितः=उभयतः । दधद्भिः=धारयद्भिः । नदैः=जलप्रवाहैः । 'प्राक् स्रोतसो नद्यः, प्रत्यक् स्रोतसो नदाः नर्मदां विनेत्याहुः ।' विनोदितदिनक्लमाः=अपनीतदिवसपरिश्रमाः, विहारापनीतात्लिकसन्तापा इत्यर्थः । च=किं च । जाम्बूनदैः=सुवर्णाभरणैः, कनकभूषणैः। कृतरुचः=जनितशोभाः सन्तः । सरसं=रसवत्, स्वादवत् । कादम्बरम्=ऐक्षवम् । "पनसं द्राक्षामाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्' इति स्मरणात् । मधु=मद्यम् । अत्र मधुकादम्बरशब्दयोः सामान्यविशेषपरत्वान्न पौनरुक्त्यम् । निषेव्य=पीत्वा । रतये=सुरतार्थम् । रहः=एकान्ते । प्रियतमाङ्कात्=प्रेयसीगात्रात् । अम्बरं=वस्त्रम् । हरन्ति=आक्षिपन्ति । माधवाश्चेह मधुपानरतोत्सवैर्विस्रब्धं विहरन्तीति भावः । यमकालङ्कारः । पृथ्वी वृत्तम् । 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ।

कोश —'रसो गन्धरसे जले । शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रव्यरागयोः। देहधातुप्रभेदे च पारदास्वादयोः पुमान्' इति मेदिनी । 'रसो गन्धे रसे स्वादे' इति च विश्वः । 'कादम्बः कलहंसेक्ष्वोः' इति विश्वः ।

समासः—विकचानि वारिजानि येषु (ब० व्री०) तानि च तानि अम्बूनि (क० धा०), विकचवारिजाम्बूनि ययोस्तौ (ब० व्री०) विकचवारिजाम्बू । दिनस्य क्लमः दिनक्लमः (ष० त०), विनोदितो दिनक्लमो येषां ते—विनोदितदिनक्लमाः (ब० व्री०) । जाम्बूनदस्य विकाराः जाम्बूनदाः, तैः जाम्बूनदैः । कादम्बं राति (लाति=प्रकृतित्वेनादत्ते) इति कादम्बरम् ।

व्याकरणम्—कादम्बरम्–कादम्ब+रा दाने+कः (आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति । हरन्ति–हृञ् हरणे, लट्–झि ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर, खिले हुए कमलों से युक्त जलवाले तटों को दोनों तरफ से धारण करने वाले नदों के द्वारा जिनकी थकान को दूर कर दिया गया है, तथा सुवर्ण के भूषणों से अलङ्कृत लोग, स्वादिष्ट गन्ने के रस से बनी हुई शराब को पीकर सम्भोग के लिए एकान्त में (अपनी) प्रियतमाओं के वस्त्रों को हटाया करते हैं ॥ ६६ ॥

अपरं कीदृश इत्याह—

दर्पणनिर्मलासु पतिते घनतिमिरमुषि
ज्योतिषि रौप्यभित्तिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः ।
व्रीडमसंमुखोऽपि रमणैरपहृतवसनाः
काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—इह रविः दर्पणनिर्मलासु पुरः रौप्यभित्तिषु पतिते घनतिमिरमुषि ज्योतिषि, काञ्चनकन्दरासु मुहुः प्रतिफलति सति रमणैः अपहृतवसनाः तरुणीः असम्मुखः अपि व्रीडं नयति ।

बालबोधिनी—इह=अस्मिन्नद्रौ । रविः=सूर्यः । दर्पणनिर्मलासु=आदर्शवत्स्वच्छासु । पुरः=अग्रेस्थितासु । रौप्यभित्तिषु = रजतकुड्येषु । पतिते= सङ्क्रान्ते । घनतिमिरमुषि=सान्द्रान्धकारनाशिनि । ज्योतिषि=स्वतेजसि । काञ्चनकन्दरासु=सुवर्णदरीसु । मुहुः=वारं वारम्; पुनः पुनः । प्रतिफलति= सम्मूर्च्छति सति । रमणैः=प्रियैः । अपहृतवसनाः=अपनीतवस्त्राः । तरुणीः= अङ्गनाः; युवतीः । असम्मुखोऽपि=कन्दरानभिमुखोऽपि । व्रीडं=त्रपाम् । नयति = प्रापयति । अत्र काञ्चनकन्दराणामसम्मुखसूर्यज्योतिः प्रतिफलाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः । वंशपत्रपतितं वृत्तम् । 'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभलगैः' इति लक्षणात् ।

कोशः—'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमरः । 'घनं निरन्तरं सान्द्रम्' इत्यमरः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः ।

समासः—दर्पण इव निर्मलाः तासु—दर्पणनिर्मलासु (उपमित-समासः) । रौप्यस्य भित्तयः रौप्यभित्तयः, तासु–रौप्यभित्तिषु (ष० त०) । घनं च तत्तिमिरं घनतिमिरम् (क० धा०), तन्मुष्णाति इति घनतिमिरमुट्, अस्मिन्—घनतिमिरमुषि (उपपदसमासः) । काञ्चनस्य कन्दराः काञ्चनकन्दराः, तासु—

काञ्चनकन्दरासु (ष० त०) अपहृतानि वसनानि यासां ताः अपहृतवसनाः (बहुव्री०)। न सम्मुखः असम्मुखः (नञ् त० पु०)।

व्याकरणम्—घनतिमिरमुषि—घनतिमिर + मुष् + क्विप्। नयति—णीञ् प्रापणे + लट्–तिप्।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर सूर्य दर्पण के समान स्वच्छ, सामने की रजतमयी दीवारों पर गिरी हुई, गाढान्धकार को दूर करने वाले (अपने) प्रकाश की सुवर्णमयी गुफाओं में बार-बार प्रतिफलित होते रहने पर (अपने) प्रियतमों के द्वारा हटाये गये वस्त्रों वाली स्त्रियों को सामने नहीं रहता हुआ भी लज्जित कर देता है ॥ ६७ ॥

अन्यच्च कथंभूत इत्याह—

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतोऽसौ
त्वयि सरभसमभ्युत्तिष्ठतीवाद्रिरुच्चैः।
द्रुतमरुदुपपन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं
हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥ ६८ ॥

इति माघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्यङ्के रैवतकवर्णनं
नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अन्वयः—असौ उच्चैः अद्रिः त्वयि अभ्यागते (सति) अनुकृतशिखरौघश्रीभिः द्रुतमरुदुपपन्नैः (अत एव) सहेलम् उन्नमद्भिः हलधरपरिधानश्यामलैः अम्बुवाहैः सरभसम् अभ्युत्तिष्ठति इव।

बालबोधिनी—असौ—सः। उच्चैः=उन्नतः। अद्रिः=रैवतकपर्वतः। त्वयि=श्रीकृष्णे। अभ्यागते=सम्मुखमागते सति। अनुकृतशिखरौघश्रीभिः=विडम्बितशृङ्गसमूहशोभैः शिखरौघभ्रमकारिभिरित्यर्थः। अत एव श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते। द्रुतमरुदुपपन्नैः=तीव्रमारुतप्रेरितैः। अत एव—सहेलं=सलीलम्। उन्नमद्भिः=उत्पतद्भिः। हलधरपरिधानश्यामलैः=बलभद्राम्बरवच्छ्यामैः। अम्बुवाहैः=मेघैः। सरभसं=सौत्सुक्यम्। अभ्युत्तिष्ठतीव=अभ्युत्थानं करोतीव। अत्र करोतीवेति क्रियानिमित्ता क्रिया—स्वरूपोत्प्रेक्षा, विशिष्टाम्बुवाहोन्नमनक्रियया प्रत्युत्थानक्रियोत्प्रेक्षणात्। सा चोक्तनिदर्शनानुप्राणितेति सङ्करः। वृत्त्यनुप्रासश्च। मालिनीवृत्तम्।

कोशः—'समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः' इत्यमरः ।

समासः—शिखराणाम् ओघाः शिखरौघाः (ष० त०), अनुकृता शिखरौघाणां श्रीः यैस्तैः—अनुकृतशिखरौघश्रीभिः (ब० व्री०) । द्रुतश्च असौ मरुत्—द्रुतमरुत् (क० धा०) तेन उपपन्नाः तैः—द्रुतमरुदुपपन्नैः (तृ० त०) । हलं धरतीति हलधरः (उपपदसमासः) तस्य परिधानानि (ष० त०) तानि इव श्यामलाः (उपमितसमासः) तैः—हलधरपरिधानश्यामलैः । अम्बूनि वहन्तीति अम्बुवाहाः तैः अम्बुवाहैः (उपपदसमासः) ।

व्याकरणम्—अभ्युत्तिष्ठति—अभि + उत् + स्था + लट्–तिप् ।

हिन्दी—यह (सामने दिखाई देने वाला) ऊँचा रैवतक पर्वत आपके आने पर शिखरों की शोभा का अनुकरण करने वाले, तीव्र वायु से प्रेरित (अत एव) अनायास ऊपर को उठते हुए, बलरामजी के वस्त्रों के समान श्याम वर्ण मेघों से वेगपूर्वक अभ्युत्थान कर रहा है ।

टिप्पणी—ऊँचे रैवतक पर्वत पर वायु द्वारा ऊपर उठते हुए मेघ, इस प्रकार प्रतीत हो रहे हैं, मानो रैवतक पर्वत के शिखर ही ऊपर उठ रहे हों । इससे कवि कल्पना कर रहा है कि मानों रैवतक पर्वत ही श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिये अभ्युत्थान कर रहा है ॥ ६८ ॥

इति निखिलशास्त्र-निष्णातानां पण्डितराज-श्रीरामलोटन-अवस्थि-
महोदयानां शिष्येण, श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठान-निष्ठानां स्वधर्म-
धुरन्धराणां श्रीबाबूरामशर्मणां पुत्रेण, श्रीबादामीदेवीगर्भ-
सम्भवेन, बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत-खैरपुरग्राम-
निवासिना, मैनपुरीमण्डलान्तर्गत-शिरसा-
गञ्जस्थार्यगुरुकुल-महाविद्यालय-साहित्य-
प्रधानाध्यापकेन श्रीरामजीलाल-
शर्मणा विरचितायां शिशुपाल-
वध-महाकाव्यस्य बाल-
बोधिन्यां चतुर्थः सर्गः ।

—०—०—

श्लोकानुक्रमणिका

(चतुर्थः सर्गः)

—:०:—

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरात्मक

साहित्यदर्पणालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजी झा

काव्यप्रकाश-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्रीरामजी

चन्द्रालोक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । मानवल्ली तथ

शिशुपालवध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–४सर्ग । अशो

सांख्यकारिकादर्शः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री राजेन्द्रप्रसाद

अलङ्कारशास्त्रस्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्रीपरमेश्वरदी

नलचम्पू-रहस्यम्(प्रश्नोत्तरात्मकः)१–५उच्छ्वास । परमेश्व

वेदान्तसार-प्रदीपः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्रीराजेन्द्रप्रसाद

मध्यसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः) वि

मृच्छकटिक-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा

वेणीसंहार-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री परमेश्वरदीन

नैषध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–५ सर्ग । माशंक

दशरूपक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री त्रिलोकीनाथ द्वि

भट्टिकाव्य-दर्पणः । स्वामी प्र भिक्षु १–४ सर्ग —०,

भट्टिकाव्यालोकः डॉ० रमाशंकर मिश्र १४–१७सर्ग २५–०,१

भारतीय-संस्कृतिः । लोकमणि दाहाल

संस्कृतभाषाविज्ञानम् । डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी

चन्द्रकलानाटिका-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्रीपरमेश्वरदीन

संस्कृतसाहित्ये [illegible] प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमानन्द श

रसगङ्गाधर-हृद [illegible] प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री ज्ञानचन्द्र न्या

लघुसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमित्र श

कादम्बरी-कलाप्रकाशः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा

मधुमञ्जूषा-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । स्वामी रामेश्वर पुरी

शाकुन्तलरहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । त्रिलोकीनाथ द्विवेदी

मेघदूत-तत्त्वालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० अशोकचन्द्र गौड़ शास्त्री

महाभाष्यनवाह्निकालोचनम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमित्र शास्त्री

मुक्तावली-प्रकाशः (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रश्नोत्तरी) ।
श्री राजेन्द्रप्रसाद [illegible]

औचित्यविचारचर्चा-[illegible] (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा

वक्रोक्तिजीवितम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश ।

भारतीयसंस्कृति-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० [illegible]